

THESIS



‘कबीर और दादू के काव्य में कृषक एवं शिल्पी जीवन सम्बन्धी रूपक’

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय अलीगढ़
की पी-एच० डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-सार

निर्देशक

डॉ० रमेश शर्मा

रीडर हिन्दी विभाग

छोब छात्रा

कु० शगुफ़्ता नियाज़

हिन्दी विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय

अलीगढ़

2002

शोध-सार

मध्यकालीन हिन्दी सन्त काव्य परम्परा में कबीर और दादू की अपनी पहचान है। सन्त साहित्य की चेतना के निर्माण में कबीर की भूमिका प्रधान रही है। दादू ने कबीर की परम्परा का सम्यक रूप से अनुगमन किया। जिस युग में कबीर का जन्म हुआ था उस युग में धर्म शास्त्रीय चेतना रूढ़िग्रस्त होकर साहित्य और समाज को दिग्भ्रमित कर रही थी। शास्त्र-पं. उत शास्त्र की मनमानी व्याख्या करके अपने हित साधन हेतु शास्त्रों पर विशेष जोर देते हुए शास्त्र को रहस्यमय बनाए हुए थे। ऐसे समय में कबीर ने शास्त्र को लोक-संचेतना का आधार देकर उसे जन-सामान्य के लिए हृदयंगम करने योग्य बनाने का प्रयास किया। उन्होंने लोक भाषा और काव्य के लोकजन्य प्रतिमानों के माध्यम से अध्यात्म शास्त्र जैसे गूढ़ विषय को लोक का शास्त्र बनाने का प्रयास किया। इस क्रम में कबीर के काव्य में प्रयुक्त रूपकों की विशेष भूमिका रही है। प्रस्तुत शोध अध्ययन “कबीर और दादू के काव्य में कृषक एवं शिल्पी जीवन सम्बन्धी रूपक स्वरूप विश्लेषण एवं अर्थव्यंजना” कबीर और दादू के काव्य में कृषक और शिल्पी जीवन से सम्बन्धित रूपकों के माध्यम से उनकी रूपक चेतना और उसके आधार पर होने वाली भाव व्यंजना का उद्घाटन करता है -

शोध अध्ययन की सुगमता और शोध-प्रबन्ध की व्यवस्था के लिए प्रस्तुत अध्ययन को छः अध्यायों में विभाजित किया गया है, जो इस प्रकार है -

मध्यकालीन भक्ति काव्य की काव्य चेतना प्रस्तुत और अप्रस्तुत के माध्यम से लोक जीवन का अंग बनकर प्रस्तुत हुई है। परब्रह्म के आनन्द से अभिभूत व निरविभोर सन्त काव्यों ने अपनी निश्छल एवं यथार्थ अनुभूति को व्यक्त करने के लिए जिस अप्रस्तुत विधान का मुख्य रूप से सहारा लिया वह उनका रूपक विधान था।

प्रथम अध्याय में रूपकों के अनुशीलन के लिए उसके शास्त्रीय पक्ष को उठाया गया है। सर्वप्रथम कोशों में प्राप्त अर्थ, रूपकों की चेतना और उसके स्वरूप का रेखांकन किया गया

है। संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ के अनुसार – “रूपक एक अर्थालंकार है जिसमें उपमेय में उपमान के साहमी को आरोप कर उसका वर्णन उपमेय के रूप में किया जाता है।” मानक हिन्दी शब्दकोश के अनुसार भी “रूपक एक अर्थालंकार है जिसमें बहुत अधिक साम्य के आधार पर प्रस्तुत में अप्रस्तुत का आरोप करके अर्थात् उपमेय में उपमान के साध्य का आरोप दिखलाते हुए उपमेय का उपमान के रूप में ही वर्णन किया जाता है।” विश्वकोश के अनुसार भी “निरपहण में जहां रूपित का आरोप होता है वहाँ रूपक होता है।

हिन्दी शब्द सागर के अनुसार वह काव्य जो पात्रों द्वारा खेला जाता है जिसका अभिनय किया जाता है। दृश्य काव्य। इसके दस भेद हैं जिन्हें नाटक प्रकरण, भवव्यायोग समदकार, डिम, ईहामृग, अंक, बीथी और प्रहसन कहते हैं इसके अतिरिक्त नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यकरासक, प्रस्थान, उल्लायक, काक, प्रेक्षण, रासक, संलापक, श्री गदित, शिल्पक, विलासिका, दुमेल्लिका, प्ररणी, हल्लीश और भाण उपरूपक कहते हैं।

उपर्युक्त कोशों में रूपक की भाषिक व्युत्पत्ति के आधार पर बनी अवधारणा तथा काव्य सन्दर्भीय अवधारणा के आधार पर यही कहा जा सकता है कि रूपक तत्त्व की चेतना नाटक के तात्त्विक स्वरूप से निकलकर काव्य के अप्रस्तुत विधान तक पहुँची हैं।

भारतीय काव्य शास्त्र में संस्कृत के आचार्यों ने रूपक अलंकार व उसके भेदों को विभिन्न दृष्टिकोणों से परिभाषित किया है भरत के अनुसार केवल गुण के ही आश्रय से किञ्चित् सादृश्य को अपने विकल्प से रूप प्रदान करता है। भामह के लक्षण में भरत की सी दुरुहता न होकर स्पष्टता है, इन्होंने गुण साम्य के आधार पर उपमेय में उपमान के रूपण या आरोप को रूपक कहा है। दण्डी का रूपक लक्षण उपमा-लक्षण सापेक्ष है इस नवीन तथ्य की उद्भावना हुई है। भेद के सन्दर्भ में भी भामह ने रूपक के दो भेदों का उल्लेख किया है, ‘समस्तवस्तु विषय’ तथा एकदेशविवर्ती। उद्भट ने एक भेद एकदेशवृत्ति भी माना है। रुद्रट, मम्मट, रुय्यक ने रूपक के अनेक भेद बताए हैं कुछ आचार्यों जैसे जयदेव ने रूपक के चार

भेद बताए हैं। जगन्नाथ ने मम्मट कृत भेदों के अतिरिक्त वाक्यार्थोपमा के समान वाक्यार्थ रूपक की कल्पना की है।

रूपक की शास्त्रीय व्याख्या में उसके स्वराज्य महत्त्व विशेषकर उपमान को सन्दर्भ में नकारा नहीं जा सकता उपमान के अनेक भेदों के माध्यम से रूपक का विशाल स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीय अध्याय “कबीर और दादू का काव्य : कृषक एवं शिल्पी जीवन पृष्ठभूमि एवं परिपार्श्व” है। काव्य रचना किसी भी कवि की जीवनगत अनुभूति का प्रतिफलन होती है। कबीर और दादू के काव्य का अप्रस्तुत विधान भी उनकी जीवनगत अनुभूतियों का प्रतिफलन है। इन्हीं अनुभूतियों के द्वारा उनकी काव्यपरक मानसिक संरचना का निर्माण हुआ। कबीर का जन्म 1455 ई० व दादू का 1601 ई० माना गया है। मध्यकाल भारतीय समाज में काफी उथल-पुथल का काल रहा है। मध्यकाल में राजनीतिक परिवेश क्षुब्ध होकर अव्यवस्थित अशांत व असंतुलित था। इसके प्रमुख कारण बाहर से होने वाले आक्रमण। वास्तव में इन आक्रमणों के कारण ही भारतीय राजनीति विविध रंगों में परिवर्तित होती रही। मध्यकाल में सामाजिक परिवेश में भी एक उद्धाम लू चल रही थी उस दाह से सारी जनता अमीर-गरीब सब पीड़ित थे। कड़ी मेहनत करने के बाद भी साधारण जनता का जीवन असुरक्षित था और वे नृशंसता का शिकार बन रहे थे। विभिन्न प्रकार के कर सामाजिक एकता विक्षुब्ध हो रही थी। कबीर व दादू दोनों ही समाज में व्याप्त वैषम्य से प्रभावित थे। इसके लिए वे रूपक के माध्यम से जहाँ एक ओर अध्यात्म की ओर बढ़ते हैं वहीं दूसरी ओर संसार को भी विमुख नहीं करते। कबीर व दादू के युग में आर्थिक व्यवस्था भी अस्त-व्यस्त थी। धन का वितरण असमान था। भ्रष्टाचार द्वारा अधिकाधिक संग्रह की प्रवृत्ति थी। नैतिक मूल्यों का ह्रास हो रहा था। मानसिकता में परिवर्तन होने के साथ ही परिस्थितियों में परिवर्तन होता है। कबीर दास व दादू दयाल ने इस मर्म को निकट से देखा व भोगा है और अपने काव्य में निम्न वर्ग की दयनीय दशा की अभिव्यक्ति रूपकों के माध्यम से की है।

मध्यकाल में हमारी संस्कृति विदेशी आक्रमणों के कारण छिन्न-भिन्न होने लगी। भारत में इस्लाम धर्म के पदार्पण के साथ दो संस्कृतियों में द्वन्द्व प्रारम्भ हुआ इस्लाम से हिन्दुत्व का मिला अनेक अंशों में मंगलकारी भी हुआ क्योंकि हिन्दू धर्म की यह विशेषता ही कही जाएगी कि वह बाहर से आई हुई संस्कृति से मिलकर जाग्रत और नवीन हो जाता है। हिन्दू और मुस्लिम धर्मों का सहित्य पर भी प्रभाव पड़ा साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वह अपने परिवेश को प्रतिबिम्बित नहीं करता वरन् उसे परिवर्तित भी करता है क्योंकि रचनाकार अपनी पूर्ण चेतना में न केवल अपना युग जीता है बल्कि अपना अतीत और आगत दोनों जीता है इसीलिए इनकी रचना धार्मिता जो रचती है उसका मूल्य अक्षुण्य होता है। कबीर और दादू ने अपनी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से जो ऊर्जा ग्रहण कर साहित्य सृजन किया। मध्यकाल की साहित्यिक पृष्ठभूमि में भी अनेक अन्तःअन्तर्विरोध कार्य कर रहे थे। एक तरफ तो संस्कृत के ऐसे बड़े-बड़े कवि उत्पन्न हुए जिनकी रचनाएं अलंकृत काव्य परंपरा की चरम सीमा पर पहुँच गई थी दूसरी ओर अपभ्रंश के बीच हुए जो अत्यन्त सरल सहज भाषा में अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में मार्मिक मनोभाव प्रकट करते थे।

मध्यकालीन निर्गुण भक्ति काल की साहित्यिक पृष्ठभूमि इसी चेतना के साथ निम्न रूप में भी दिखाई देती है। रूपक के माध्यम से साधना विधि का प्रकाशन सिद्ध साहित्य की अभिव्यंजना प्रणाली का मुख्य गुण है। सन्त साहित्य में इसी रूपक योजना के द्वारा युगजीवन अन्तर मन की प्रतिबिम्बित किया है। कबीर और दादू ने भी युग की संघर्ष मूलक भूमिका से अपने व्यक्तित्व का निर्माण किया है। कबीर और दादू दोनों के साहित्य में दो स्पष्ट धाराएं मिलती हैं। प्रथम में दर्शन व साधना प्रणाली का सम्प्रेषण है। द्वितीय वर्ग में युग जीवन के आकलन कर, गतिरोध उत्पन्न करने वाली शक्ति के विध्वंस की ओर समाज संस्करण की चेष्टा मिलती है। इनकी इस चेतना का प्रभाव उनकी रूपक संरचना पर दिखाई देता है। कबीर व दादू की काव्यात्मक बनावट पर तथा उनकी विचारधारा पर सिद्ध साहित्य नाथ पंथी योगियों के साहित्य का गहरा प्रभाव है।

सिद्धों और नाथों की परम्परा का अनुगमन करते हुए भी कबीर और दादू ने अपनी एक अलग पहचान बनाई है, जिनमें जुलाहों, बुनकरों, व्यापारियों और खेतिहरों के विभिन्न पेशों से संबन्धित शब्दावली का उपयोग कबीर व दादू के काव्य में बहुतायत से हुआ है। आध्यात्मिक अनुभूतियों को स्पष्ट करने में रूपकों से भरी भाषा का प्रयोग अधिक प्रभावी होता है। कबीर और दादू ने अपने युग के जनजीवन से रूपकों की संरचना करते हुए आध्यात्मिक अनुभूतियों को सरस और ग्राह्य बना दिया है।

तृतीय अध्याय “कबीर के काव्य में कृषक जीवन सम्बन्धी रूपक स्वरूप विश्लेषण एवं अर्थव्यंजना” है। ग्रामीण अर्थव्यवस्था सदैव से ही कृषि पर आधारित रही है। कबीर के काव्य में भी ग्रामीण कृषक जीवन का पर्याय कृषि रूचि है। कृषि सम्बन्धी कार्य व्यापार और स्थितियों के बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से अपनी अनुभूतियों का विषय बनाते हुए कबीर ने आध्यात्मिक चेतना से जोड़ा है। कृषक जीवन के लौकिक उपादानों से कबीर ने आध्यात्मिक सत्य का संचार किया है। सूक्ष्म अनुभूति के लिए कबीर ने रूपक का आश्रय लिया है व कृषक जीवन के उपादानों जैसे किसान, खेत, बीज, फल-फूल आदि के उपादानों से परमार्थ बोध की अभिव्यक्ति कराई है। यथा — कालर, खेत, कृषक जीवन का अनुपयोगी भाग है, उसे भक्ति विहिन हृदय से सम्पृक्त कर कबीर ने अपने रूपकों में नवीन जीवन दृष्टि प्रदान की है —

हरिजन सेती रुसणां, संसारी सू हेत।

ते नर कदे न नीपजे, ज्यों कालर का खेत॥

अच्छे व बुरे फल की प्राप्ति को उपजाऊ व कालर दोनों भूमियों के माध्यम से आध्यात्मिक सन्दर्भ में स्पष्ट किया है।

इसी सन्दर्भ में ज्ञान नाम व ध्यान के रूपकों में सफल प्रस्तुति कबीर ने की है। —

ज्ञान कुदार ले बजर गोड़े, नाम का बीज बुवावै।

सुरत सुरावन नय कर फेरे, ढेला रहन न पावै।

उलटि-पलटि खेत को जोतै पूर किसान कहावै।

बीज वपन की अवधारणा को सृष्टि के विकास के रूप में, कृषक की सुरक्षा के उपायों को जीवन में अनियन्त्रित विषय विकारों के साथ जोड़ते हैं —

राम नाम करि बोहड़ा, बाहो बीज अघाई।
खण्ड ब्रह्माण्ड सूखा परै, तऊ न निष्फल जाइ।

कृषक जीवन के अभावों का वर्णन करते हुए जहाँ एक ओर उसकी आवासीय व्यवस्था का वर्णन किया है वहीं शाश्वत ज्ञान के आधारों को भी बताने का उद्देश्य निहित है।

चतुर्थ अध्याय में “कबीर के काव्य में शिल्पी जीवन सम्बन्धी रूपक स्वरूप विश्लेषण एवं अर्थव्यंजना” है। जिसमें कबीर ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था के व्यावसायिक बिम्बों की रूपकों के रूप में रचना करके अपनी सूक्ष्म आध्यात्मिक अनुभूतियों की व्यंजना की है। कबीर का काव्य लोक उपादानों को स्वीकारता है। कृषक जीवन की भाँति ग्रामीण अर्थव्यवस्था और सामाजिक अर्थव्यवस्था का सहगामी वहाँ का शिल्पी जीवन भी था। लुहार, सिकलीगर, तेली, कलवार, कुम्हार, बढई आदि ग्रामीण शिल्पी व्यवसाय के एक-एक अंग में शिल्प प्रतिभा को कबीर ने निकट से देखा था। कबीर ने अपने काव्य में इन्हीं व्यवसायों के रूपकों की सामग्री ग्रहण की है। उन्होंने कताई, बुनाई, बढई, सिकलीगर, लोहार, कलाल, बनिया, कुंहार, पनिहारिन जौहरी व ईश्वर का रूप देखा है।

बुनकर के साधारण उपादान ‘सूत’ के माध्यम से कबीर ने जीवन का रहस्य सुलझाया है यथा —

नौ मन सूत उरझै नहीं सुरझै, जनमि जनमि उरझैरा।
कहे कबीर एक राम भजहूँ रै, बहु दिन हैगा फेरा ।।

प्रस्तुत रूपक में सूत के उलझने व सुलझने को क्रमशः मोह में फँसना व मोह से निरहित निवृत्ति के सन्दर्भ में प्रयुक्त किया गया है। ‘सुलझना’ चेतन के आशय में है व्यक्ति प्रमाद, आलस्य छोड़कर सत्य की अनुभूति में जुट जाए यही चेतना है, नकारात्मक विचारों से उलझाव और सकारात्मक से सुलझना।

इसी प्रकार कुम्हार शिल्प में कच्चे घड़े का रूपक लेकर भी कबीर ने सूक्ष्म अभिव्यंजना प्रस्तुत की है -

यह तन काचा कुम्भ है, चोट चहुँ दिसि खाई।
एक राम के नांव बिन जदि तदि प्रलै जाइ।

कबीर द्वारा इस रूपक में शरीर की अपरिपक्वता की व्यंजना के लिए कच्चे घड़े का उपमान बड़ा सटीक चुनाव है। अग्नि का संचार घड़े को परिपक्व बनाता है। इसी प्रकार राम नाम का संचार राम की चेतना के साथ शरीर बोध की उस चेतना पर ला देता है जहाँ सांसारिक विषय और तजन्म प्रवृत्तियाँ प्रभावी नहीं रह जाती। कबीर के इस रूपक से कबीर की आध्यात्मिक साधना के एक अंग के रूप में शरीर साधना की ओर भी संकेत है और राम नाम के रूप में उसके साधन की ओर भी।

कबीर ने इनको अतिरिक्त बढई, सिकलीगर, लोहार, कलाल, बनिया, कुम्हार, पनिहारिन, जौहरी सभी व्यावसायिक कला के माध्यम से गूढ़ तत्त्व ज्ञान को व्यक्त करने में सफलता प्राप्त की है। उन्होंने अपनी अनुभूति को वाणी देने में जिन रूपकों का सहारा लिया है उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियों को जीवतता मिली है। कबीर केवल भावानुभूति और विचारधारा के कारण ही श्रेष्ठ कवि नहीं है बल्कि अभिव्यक्ति के धरातल पर अपने काव्य को भी वे श्रेष्ठता तक पहुँचाते हैं।

पंचम अध्याय “दादू के काव्य में कृषक जीवन संबन्धी स्वरूप विश्लेषण एवं अर्थव्यंजना” है। दादू की काव्य चेतना आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद से अनुप्राणित है जिसमें युग चेतना साकार हो उठी है। कबीर की भांति दादू का काव्य भी सामान्य लोक व परिवेश से प्राप्त विचार व अनुभव के बल पर साधारण लोगों के मध्य खड़ा हुआ है।

दादू ने कृषक जीवन के लौकिक उपादानों द्वारा आध्यात्मिक अनुभूतियों की काव्य का स्वर दिया है। दादू ने खेत, बीज, अंकुर अनावृष्टि आदि के रूपक खड़े करके आध्यात्मिक का भावन किया है यथा - कालर खेल को भाव विहीन हृदय के रूप में ग्रहण किया है-

कालरि खेत न नीपजे, जे वाहे सौ बार।
दादू हाना बीज का, का पचि मरे गँवार।।

कृषक जीवन प्रकृति से भी जुड़ा है। इस सत्य की अवधारणा वृक्ष, बेलि, फूल आदि के माध्यम से की गई है, वृक्ष के द्वारा दादू ने नैतिक मूल्यों की व्याख्या की है —

तरवर साषा मूल बिन, धर अंबर न्यारा।
अविनासी आनंद फल, दादू का प्यारा।
दया धर्म का रूपड़ा, सत सौ बंधता जाई।
संतो सो फूले फलै, दादू अमर फल खाई।।

परब्रह्म की विशेषताओं को गुणवंती बेलि के रूपक द्वारा दादू ने सार्थकता पदान की है —

दादू बहु गुणवंती बेलि है, ऊगी कालर माहि।
सींचै षारे नीर सों, तातै निपजै नाहि।।

पशुओं को कृषक जीवन में अत्यधिक महत्त्व प्राप्त है। 'गाय' जैसे साधारण लौकिक उपादान द्वारा परब्रह्म की सत्यता का आभास दादू के रूपकों में प्रस्तुत किया गया है। दादू के काव्य की मूल संवेदना आध्यात्मिक है धार्मिक विकृतियों के बोझ तले दबी और साम्प्रदायिक कट्टरता से सहमी जनता का धर्म के प्रगतिशील व्यक्तित्व से परिचित कराने के लिए उस पथ का पार्थिव बनाना उनकी जीवनचर्या बन गई। दादू ने तत्कालीन जनता पर हो रहे अत्याचारों की सच्चाई को रूपकों के माध्यम से व्यक्त किया है। दादू महत्त्वाकांक्षा के अधीन जुल्मी शासक को अन्धत्त्व से मुक्ति के लिए फटकारते हैं कि सुजनहार से बढ़कर कोई नहीं सुजनहार के न्यायमय दण्ड विधान के आगे किसी अत्याचारी की नहीं चलती। दादू का कृषक रूपक विवेचन शोषकों को सुधार कर बेहतर इंसान बनाने की कामना के साथ जनता के बीच सक्रिय होता है। दादू समाजिक कपटाचार, धार्मिक मिथ्याचार, राजनैतिक विसंगति, महत्त्वाकांक्षाजन्य मूल्यहीनता के विरोध में अपने काव्य रूपकों के लिए इसी सामाजिक परिवेश से सामग्री ग्रहण कर परमसत्य के सुन्दरतम सोपान तक पहुँचाते हैं।

इस प्रकार कृषक जीवन से सम्बन्धित उपादानों से अपने काव्य रूपकों की संरचना दादू की आध्यात्मिक अनुभूति और साधना की अभिव्यक्ति के लिए एक सशक्त प्रतिमान रूप में प्रतिबिम्बित हुआ है।

षष्ठ अध्याय “दादू के काव्य में शिल्पी जीवन सम्बन्धी रूपक स्वरूप विश्लेषण एवं अर्थव्यंजना” में दादू ने लोक मानस और जीवन प्रक्रिया को सूक्ष्म दृष्टि से देखा है।

मध्यकालीन हिन्दी काव्य धारा के सन्त जन सामान्य के व्यवसाय के अंग थे। उनमें से कोई कपड़ा बुनता था, कोई मिट्टी के पात्र बनाता था अन्य कोई धुनिया था, कोई व्यापार करता था दादू भी अन्य सन्तों की तरह व्यवसाय जन्य श्रम और उससे सम्बन्धित जीवन के पोषक थे। दादू ने रूपक की शब्दावली द्वारा अपनी बात सीधे-सीधे लोक हृदय में और लोक में प्रचलित धोबी, कुम्हार, बुनकर, लोहार, जौहरी आदि प्रसिद्ध शिल्प से उपादान ग्रहण कर अपने काव्य रूपकों की संरचना की है। कताई शिल्प क माध्यम से दादू ने सूक्ष्म आध्यात्मिक अभिव्यंजना की है। सहज साधना के लिए डोरी, मन के लिए तकुआ लेकर दादू ने मनोवृत्तियों को पलट कर परमसत्ता की प्राप्ति सम्भव बताई है। सूत के माध्यम से कर्मजाल में उलझने व उससे निकलने के लिए सचेत किया है। प्रेम के लिए गाड़ी, साधना के लिए धागा, साधक के लिए बुनकर, सांसारिक प्रपंच के लिए ताणें, ध्यान के लिए सूत उपमान लेकर साधना की प्रक्रिया का जीवन्त रूपक खड़ा किया है। यथा —

दादू जीव जंजालौ पड़ि गया, उलझया नौमण सूत।

कोई एक उलझे सावधान, गुरु वाहक अवधूत।।

इसी प्रकार कुम्हार के बर्तन बनाने की प्रक्रिया को सृजनात्मक चेतना से जोड़ा है। दादू ने कुम्हार के व्यावसायिक सन्दर्भों को लेकर अपनी आध्यात्मिक अनुभूति के लिए रूपकों का निर्माण किया है। ‘बाजीगर’ शिल्प द्वारा दादू ने उस परमसत्ता का बोध कराया है जिसने इस संसार को बाजीगर की भांति फैला दिया है। दादू ने अपने काव्य रूपकों के लिए उपादान जुटाते समय एक तो भावानुभूति के साम्य पर विशेष ध्यान रखा है, दूसरे अनेक रूपकों के उपादान सामान्य जीवन से जुड़ी हुई व्यावसायिक कला से जुड़े हुए हैं। दादू ने कलाल के शिल्प को भी बहुत निकट से देखा था। समाज में कलाल की निन्दनीय स्थिति को काव्य का अंग बनाकर दादू एक विशिष्ट सामाजिक चेतना की प्रतिष्ठा करते हैं।



‘कबीर और दादू के काव्य में कृषक एवं शिल्पी जीवन सम्बन्धी रूपक’

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय अलीगढ़
की पी-एच० डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत
शोध-प्रबन्ध

निर्देशक

डॉ० रमेश शर्मा

रीडर हिन्दी विभाग

शोध छात्रा

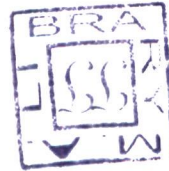
कु० शगुफ़्ता नियाज़

हिन्दी विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय

अलीगढ़

2002



THESIS



T5976



24 JUN 2005

Dr. R.C. Sharma
Reader



HINDI DEPARTMENT
Aligarh Muslim University
Aligarh - 202002 (U.P.)

Date : 27.12.2002

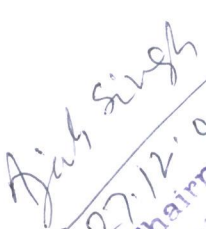
Certificate

Certified that the thesis entitled “कबीर और दादू के काव्य में कृषक और शिल्पी जीवन सम्बन्धी रूपक” submitted by **Ms. Shagufta Niyaz** for the award of **Ph.D.** degree in **Hindi** is an original research work. It is the result of Ms. Shagufta Niyaz's own efforts and it has been completed under my supervision.

As far as I know she has fulfilled all the conditions laid down in ordinances in this concerned.


(**DR. R.C. SHARMA**)
Supervisor

27/12/2002


27.12.02
Chairman
Department of Hindi
Aligarh Muslim University
ALIGARH

DEPARTMENT OF HINDI
FACULTY OF ARTS
ALIGARH MUSLIM UNIVERSITY
ALIGARH - 202002

CHAIRMAN

Telex : 564—230 AMU IN
Phones : Off.—700920 } Ext.
700921 } 342
700922 } 343
Res.— (0571) 501660

This is to certify that **MISS SHAGUFTA NIYAZ**
(D.O.A. 28.2.98) Research Scholar in Hindi has submitted
her Ph.D. thesis on dated 27.12.2002 on the Topic “कबीर
और दादू के काव्य में कृषक और शिल्पी जीवन सम्बन्धी रूपक”.

She was regular for two years from the date of
admission in the Department of Hindi and has completed her
Ph.D. thesis under the supervision of Dr. R.C. Sharma,
Department of Hindi, Aligarh Muslim University, Aligarh.


(Professor Ajab Singh) 27.12.02
Chairman

समर्पण

ममता व त्याग की साकार मूर्ति
अम्मी
उच्च से उच्चतम की प्रेरणा देते,
पापा
पथ प्रदर्शक, प्रकाश स्तम्भ सदृश
गुरु
भावनात्मक आधार प्रदान करती
बहनें
जीवन में नवीनता का संचार करती
मूक संवेदनाओं को
मैं अपनी साधना का यह फल
समर्पित करती हूँ।

शगुफ़ता नियाज़

प्राक्कथन

काव्य शास्त्रीय परम्परा में भारतीय आचार्यों ने काव्य के स्वरूप को परिभाषित करते हुए सम्यक अर्थ व्यंजना के लिय शब्द बोध और शब्द प्रयोग पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। शब्द बोध के आधार पर भावों के अनुकूल शब्द चयन और उसका सम्यक प्रयोग उत्तम काव्य के स्वरूप का रेखांकन करता है। काव्य सौन्दर्य के लगभग सभी प्रमिमान काव्य की इसी चेतना के परिचायक हैं। काव्य में रूपक तत्त्व इसी काव्य चेतना को लेकर काव्य के एक सशक्त प्रतिमान के रूप में प्रस्तुत हुआ है।

मध्यकालीन हिन्दी सन्त काव्य परम्परा में कबीर और दादू की अपनी पहचान है। सन्त साहित्य की चेतना के निर्माण में कबीर की भूमिका प्रधान रही। दादू ने कबीर की परम्परा का सम्यक रूप से अनुगमन किया। जिस युग में कबीर का जन्म हुआ था उस युग में धर्म शास्त्रीय चेतना रूढ़िग्रस्त होकर साहित्य और समाज को दिग्भ्रमित कर रही थी। शास्त्र पंडित शास्त्र की मनमानी व्याख्या करके अपने हित साधन करते हुए प्रस्तुत कर रहे थे। ऐसे समय कबीर ने शास्त्र को लोक संचेतना का आधार दिया। उन्होंने लोक भाषा और काव्य के लोकजन्य प्रतिमानों के माध्यम से अध्यात्म शास्त्र जैसे गूढ़ विषय को लोक का शास्त्र बनाने का प्रयास किया। इस क्रम में कबीर के काव्य में प्रयुक्त रूपकों की विशेष भूमिका रही है।

कबीर और उनके अनुगमन कर्ता दादू दोनों ही समाज के उस वर्ग से सम्बन्ध रखते थे जो श्रम जीवी थे। मध्यकाल में यह श्रम जीवी वर्ग मुख्य रूप से कृषक और शिल्पी जीवन से सम्बन्ध रखता था। कबीर और दादू ने कृषक एवं शिल्पी जीवन को बहुत निकट से देखा था, समझा था, आत्मसात किया था। इन व्यवसायों की बारीकियों को उनकी सूक्ष्म निरीक्षण दृष्टि ने परखा था। यही कारण है कि आध्यात्मिक सन्दर्भों में अपनी अनुभूतियों की

अभिव्यक्ति के लिए कबीर व दादू ने कृषक एवं शिल्पी जीवन को मुख्य रूप से अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। प्रस्तुत शोध विषय इसी काव्य चेतना के साथ कृषक और शिल्पी जीवन से सम्बन्धित रूपकों के स्वरूप विश्लेषण और अर्थ व्यंजना का एक लघु प्रयास है।

प्रस्तुत विषय की सीमाएँ कबीर के काव्य—रूपकों के निर्माण में पृष्ठभूमि और आधार से शुरू होकर उनकी अर्थव्यंजना तक जाती है।

हिन्दी शोध और समीक्षा के क्षेत्र में सन्त काव्य के सन्दर्भ में कबीर और दादू से शोधकर्ता एवं विद्वान सबसे अधिक आकर्षित हुए हैं। कबीर व दादू के काव्य को विभिन्न परम्परागत दृष्टियों से देखा परखा गया है। कबीर और दादू पर सम्पन्न शोध का कृछ विवरण इस प्रकार है —

कबीर पर सम्पन्न शोध

रामनिवास चंदक	: कबीर और मायावाद
गोपीचन्द रजक	: कबीर की अध्यात्म साधना का स्वरूप विवेचन
गोविन्द शरण त्रिगुणायत	: कबीर की विचारधारा
सीताराम सिंह	: कबीर के दर्शन और काव्य के स्रोत
गिरीशचन्द्र तिवारी	: कबीर के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचनात्मक अध्ययन
कुसुम लता श्रीवास्तव	: कबीर ग्रंथावली में प्रेम भक्ति
विलियम द्वेयर	: कबीरदास की भक्ति भावना
रामजीलाल सहायक	: कबीर के दार्शनिक विचारों का आलोचनात्मक अध्ययन
शंभुशरण सिन्हा	: भक्ति तत्त्व और कबीर प्रेम भावना
ओमप्रकाश गर्ग	: संत कबीर की योग साधना और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि

भगवत प्रसाद दुबे	: कबीर काव्य का भाषाशास्त्रीय अध्ययन
रामविलास राय	: कबीर काव्य में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दावली का अनुशीलन
महेन्द्र कुमार	: कबीर की भाषा
राधेश्याम मिश्र	: कबीर की भाषा का भाषाशास्त्रीय अध्ययन
साधना सक्सेना	: कबीर की विशिष्ट शब्दावली का दार्शनिक एवं साम्प्रदायिक अध्ययन
माधुरी पुरी	: कबीर दास की शब्दावली का सांस्कृतिक अध्ययन
बिन्दु माधव मिश्र	: कबीर ग्रंथावली की भाषा
भगीरथ प्रसाद यादव	: कबीर साहित्य में प्रयुक्त परिभाषिक शब्दावली
शुकदेव सिंह	: बीजक का भाषा शास्त्रीय अध्ययन
अरुण शास्त्री पोद्दार	: कबीर का समकालीन भारतीय समाज
आज्ञा प्रसाद त्रिपाठी	: कबीर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन
प्रहलाद मौर्य	: समकालीन भारतीय समाज और कबीर का सामाजिक दर्शन
नामदेव राव लाघव	: समकालीन सांस्कृतिक भूमिका पर कबीर की विचार धारा, साधना और साहित्य चेतना का तुलनात्मक अध्ययन
केदार नाथ दुबे	: कबीर और कबीर पंथ : तुलनात्मक अध्ययन
देवनाथ	: कबीर और दादू के काव्य के साधनात्मक सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन
कमलेश कुमार भारद्वाज	: कबीर और विलियम ब्लेक : तुलनात्मक अध्ययन
कोल्लि वेंकटेश्वर रेड्डी	: कबीर और वेमना का तुलनात्मक अध्ययन
गणमुक्तक वेंकट रमण	: कवित्रय : कबीर-सूर और तुलसी सामाजिक पक्ष

- कृ० झा० भिंगारकर : ज्ञानेश्वर और कबीर के साहित्य में नाथ संप्रदाय का स्वरूप
- रमेश सेठ : कबीर एवं तुकाराम का तुलनात्मक अध्ययन
- रवीन्द्र कुमार सेठ : त्रिवल्लुवर और कबीर का तुलनात्मक अध्ययन
- चंद्रा हरि नंदानी : प्रस्थानत्रयी और कबीर
- रामजीलाल सहायक : महात्मा कबीर एवं महात्मा गाँधी के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन
- साध्वी तरुलता : संत कबीर और बनारसीदास, आनंद धन तथा श्रीमद् रामचन्द्र का तुलनात्मक अध्ययन
- चंद्रदेव राय : संत कबीर और रैदास का तुलनात्मक अध्ययन
- मोहिनी कौल : हिन्दी कवि कबीर और कश्मीरी कवयित्री लालेश्वरी के रहस्याद का तुलनात्मक अध्ययन
- सूरजमुखी देवी : अपभ्रंश का जैन रहस्यवादी काव्य और उसका कबीर पर प्रभाव
- ब्रह्मजीत गौतम : कबीर काव्य में प्रतीक विधान
- रामनारायण प्रसाद सिंह : कबीर के काव्य पर समसामयिक परिस्थितियों का प्रभाव
- नजीर मुहम्मद : कबीर के काव्य रूपों का आलोचनात्मक अध्ययन
- एफ०ई० केई : कबीर तथा उनके अनुयायी
- सरनाम सिंह शर्मा 'अरुण' : कबीर—निदर्शन
- ब्रह्मदत्त : सौन्दर्य और उदात्त के सिद्धान्त पर कबीर के काव्य का मूल्यांकन
- गोविन्द त्रिगुणायत : कबीर की विचारधारा

केशनी प्रसाद चौरसिया	: मध्यकालीन हिन्दी सन्त साहित्य की साधना
डॉ० अनीता चौहान	: कबीर के क्रिया पद
डॉ० रमेश शर्मा	: आगम और कबीर
रामकुमार वर्मा	: कबीर एक अनुशीलन
डॉ० सरनाम सिंह शर्मा	: कबीर एक विवेचन
भोलानाथ तिवारी	: कबीर और उनका काव्य
गोविन्द त्रिगुणायत	: कबीर और जायसी का रहस्यवाद – तुलनात्मक अध्ययन
रामकुमार वर्मा	: कबीर का रहस्यवाद
प्रह्लाद मौर्य	: कबीर का सामाजिक दर्शन
भगवत प्रसाद दुबे	: कबीर काव्य का भाषा शास्त्रीय अध्ययन
हरिहर प्रसाद गुप्त	: कबीर काव्य प्रतिभा और संरचना
मुरारी लाल सुरल	: कबीर की काव्य कला
पुरुषोत्तम चन्द्र बाजपेयी	: कबीर और जायसी का मूल्यांकन
धर्मपाल मैनी	: कबीर के धार्मिक विश्वास
नारायण प्रसाद बाजपेयी	: कबीर चिंतन
विजेयन्द्र स्नातक	: कबीर
हजार प्रसाद द्विवेदी	: कबीर
कान्ति कुमार भट्ट	: कबीरदास
प्रतापसिंह चौहान	: कबीर साधना और साहित्य
यज्ञदत्त शर्मा	: कबीर साहित्य और सिद्धान्त
पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव	: कबीर-साहित्य का अध्ययन
सरनाम सिंह शर्मा	: कबीर-व्यक्तित्व, कृतित्व और सिद्धान्त

आर्या प्रसाद त्रिपाठी	कबीर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन
रामरतन भटनागर	कबीर साहित्य की भूमिका
रामकुमार वर्मा	सत कबीर
गोविन्द लाल छावडा	क्रान्तिकारी कबीर
आनन्द प्रकाश दीक्षित	कबीरदास चिंतन और सर्जन
लक्ष्मीदत्त पंडित	कबीरदास
महेन्द्र	कबीरदास
विन्दुमाधव मिश्र	कबीर दास
राजेन्द्र सिंह गौड	सत कबीर दर्शन
वीरेन्द्र मोहन	कबीर और जायसी का मानव मूल्य
ब्रह्मदत्त शर्मा	कबीर कल्पना शक्ति और काव्य सौन्दर्य
रवीन्द्र कुमार सेठ	तिरुवल्लुवर और कबीर का तुलनात्मक अध्ययन
डॉ० लक्ष्मी चन्द्र	कबीर और जायसी ग्राम संस्कृति
डॉ० बलदेव बसी	कहत कबीर—कबीर
डॉ० श्रीमती सुशीला सिन्हा	लौह पुरुष कबीर
डॉ० धर्मवीर भारती	कबीर बाज भी, कपोत भी, पपीहा भी
दादू दयाल पर सम्पन्न शोध	
सत नारायण उपाध्याय	दादू दयाल जीवन दर्शन और काव्य
कृष्ण वल्लभ दवे	सत कवि दादू
वासुदेव शर्मा	सत दादू और उनका पथ
शरद कुमार मिश्र	सत दादूदयाल के दार्शनिक विचारों का अनुशीलन
देवनाथ	कबीर और दादू के सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन
गुलनाज उस्मान	सत दादूदयाल का सामाजिक चिंतन

सं० डॉ० बल्देव बंसी	: दादू जीवन दर्शन
डॉ० विद्योत्तमा मिश्र	: दादू दास तुम्हारा
शरद कुमार मिश्र	: संत दादू दयाल और मध्यकालीन भक्ति काव्य
डॉ० किशनाराम बिश्नोई	: दादू दयाल सिद्धान्त और कविता

कबीर और दादू पर सम्पन्न शोध और समीक्षा का अध्ययन करते समय अभी तक ऐसा कार्य हमारे देखने में नहीं आया जिसमें इनकी रूपक संरचना को कृषक एवं शिल्पी जीवन के साथ जोड़कर देखा गया हो। कृषक एवं शिल्पी जीवन कबीर और दादू के रूपकों और भाव व्यंजना की प्राण शक्ति है। इसीलिए यह विषय शोध कर्त्ताओं के लिए अछूता बना हुआ था। प्रस्तुत शोध कार्य उसी दिशा में रिक्त पूर्ति करने का एक विनम्र प्रयास है।

अध्ययन की सुगमता और शोध प्रबन्ध की व्यवस्था के लिए प्रस्तुत शोध विषय को छः चरणों में विभाजित किया गया है।

शोध अध्ययन का प्रथम चरण "रूपक तत्त्व, शास्त्रीय अनुशीलन है। कवि अपनी आन्तरिक मन की अभिव्यक्ति के लिए नए-नए शिल्पों के प्रयोग से अपने भावों की व्यंजना करने का प्रयत्न करता है। शब्दों के इस अर्थवान प्रयोग में काव्य के प्रतिमान के रूप में रूपक महत्ता सर्वाधिक है। प्रस्तुत शोध विषय की एक सम्यक आधार देने के लिए रूपक के स्वरूप को समझना आपेक्षित है। विभिन्न कोशों में भाषिक व्युत्पत्ति और प्रयोग के आधार पर रूपक तत्त्व की चेतना नाटक से होती हुई काव्य के अप्रस्तुत विधान तक पहुँची हैं नाटकों में रूपक चेतना के साथ रूप का आरोप रहता है जिसके माध्यम से पात्र जीवन संदर्भों को अभिनय के माध्यम से दर्शकों के लिए संप्रेषणीय बनाते हैं। यही चेतना काव्य अभिव्यक्ति के संदर्भ में शब्द चयन एवं शब्द प्रयोग तक आई जिसने विश्लेषण के लिए संस्कृत काव्य शास्त्र में उपलब्ध रूपक अलंकार की परिभाषा पर विचार करते हुए तत्त्व स्वरूप विश्लेषण किया गया है। संस्कृत आचार्यों की परिभाषा के आधार पर रूपक का जो

स्वरूप उभर कर सामने आता है उसमें उपमेय व उपमान में अत्यन्त साम्य होने के कारण अभेदारोप होता है। इस आरोपण में उपमेय का वैधर्म्य या सादृश्य स्पष्ट रूप से भाषित होता है। रूपक के शास्त्रीय विवेचन के क्रम में उपमानों का भी विवेचन किया गया है। इस प्रकार इस अध्ययन में रूपक तत्त्व के शास्त्रीय विवेचन अध्ययन की आधार भूमि है।

रूपक संरचना की चेतना कवि के व्यक्तित्व और उसकी सामाजिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से जुड़ी होती है, इसीलिए शोध अध्ययन के दूसरे अध्याय में कबीर और दादू के काव्य की कृषक एवं शिल्पी जीवन सम्बन्धी पृष्ठभूमि को लिया गया है। इस अध्याय में सर्वप्रथम कबीर के काव्य को उनके वैयक्तिक जीवन परिवेश के रूप में देखा गया है। कबीर का काव्य और उसका अप्रस्तुत विधान उनकी जीवनगत अनुभूतियों का प्रतिफलन है। कबीर का जन्म उनके माता-पिता गृहस्थिक जीवन व्यवसाय सभी कृषक एवं शिल्पी जीवन से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े हुए हैं। कबीर के वैयक्तिक जीवन परिवेश के उन्ही सन्दर्भों को इस प्रकरण में उठाया गया है।

कबीर की तरह दादू का वैयक्तिक जीवन परिवेश भी कृषक एवं शिल्पी जीवन से जुड़ा हुआ है। कबीर जुलाहा परिवार से सम्बन्ध रखते थे और दादू धुनिया परिवार से किवदन्तियों के अनुसार दादू भी कबीर की तरह किसी कुंवारी ब्राह्मणी की अवैध संतान थे।

वैयक्तिक परिवेश के साथ युगीन परिवेश भी काव्य चेतना का नियामक होता है। इसीलिए पृष्ठभूमिगत आधार के लिए इस शोध अध्ययन में मध्यकाल को राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक पृष्ठभूमि एवं परिपार्श्व एक शोधपरक विर्मशात्मक दृष्टि से देखा गया है।

इस प्रकार ये अध्याय हमारे शोध अध्ययन के लिए पृष्ठभूमिगत आधार देता है।

प्रस्तुत शोध अध्ययन का तीसरा अध्याय “कबीर के काव्य में कृषक जीवन सम्बन्धी रूपक : स्वरूप विश्लेषण एवं अभिव्यंजना” है। ग्रामीण अर्थव्यवस्था सदैव से ही कृषि पर

आधारित रही है कबीर के काल में भी ग्रामीण जन समुदाय विशेष कर कृषि व्यापार आधारित था। कृषक जीवन का पर्याय उसका कृषि कार्य है। कृषि सम्बन्धी कार्य व्यापार और स्थितियों को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से अपनी अनुभूति का विषय बनाते हुए कबीर ने आध्यात्मिक चेतना से जोड़ा है। कबीर के काव्य में रूपक संरचना का मूल लक्ष्य आध्यात्मिक चेतना के आधार पर मानव के वैयक्तिक जीवन मूल्यों का निर्माण कर रहा है। लेकिन मूल प्रेरक के रूप में कहीं न कहीं सामान्य चेतना के जीवन बिम्ब भी उनके रूपक संरचना की बाह्य संरचना के स्वरूप पहलुओं को अपनी रूपक संरचना के लिए लिया है उसमें बन्जर भूमि, बीज, फसल की सुरक्षा और प्रकृति से जुड़े हुए अनेक तत्त्वों को अपनी रूपक संरचना का आधार बनाया है। कृषक जीवन सम्बन्धी रूपकों में कबीर ने सामन्ती जीवन और उसके परिणाम स्वरूप होने वाली कृषक जीवन सम्बन्धी दुर्दशा को आधार बनाकर रूपकों की रचना करते हुए अध्यात्म और भौतिक जीवन मूल्यों का निर्माण किया है।

शोध अध्ययन का चौथा चरण कबीर के काव्य में शिल्पी जीवन सम्बन्धी रूपकों का स्वरूप विश्लेषण एवं अर्थव्यंजना है। शिल्पी जीवन से हमारा तात्पर्य केवल श्रमजीवी शिल्प से नहीं रहा है, बल्कि शिल्प को कला के रूप में ग्रहण किया गया है। कबीर ने अपने रूपकों की संरचना के लिए वयन शिल्प को तथा उसको व्यापक चेतना के साथ लिया ही है इससे उन्होंने आध्यात्मिक साधना और आध्यात्मिक अनुभूति की बड़ी सटीक कल्पना की है। इसके अतिरिक्त काष्ठकार, कुम्भकार, बाजीगर, कलाल, लोहार, सिकलीगर, धोबी, सनिहारी, जौहरी, वणिक आदि में जीवन से अपनी रूपक चेतना की स्वरूप से रचना करते हुए अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त किया है।

सन्त काव्य परम्परा में दादू ने कबीर का अनुगमन किया है उन्होंने कृषक जीवन को अपने काव्य की रूपक संरचना में बड़ी सजगता के साथ ग्रहण किया है। खेत, बीज, अंकुर, अनावृष्टि, सिंचाई, प्रकृति के तत्त्व, पशुपालन आदि को तत्कालीन कृषक जीवन के प्रकाश में देखते हुए अपने रूपकों की संरचना की है। इन रूपकों के माध्यम से एक ओर जहाँ

उनकी अध्यात्मिक अनुभूति सर्वग्राह्य होती है वहीं उनकी रूपक संरचना में बाह्य विधान लौकिक जीवन के यथार्थ बिम्ब प्रस्तुत करता है।

शोध अध्याय का पाँचवां चरण, दादू के काव्य में शिल्पी जीवन से जुड़े हुए रूपकों का अंश है। इस रूपक संरचना में कबीर का अनुगमन करते हुए दादू ने अपनी पहचान भी बनाई है।

प्रस्तुत शोध विषय शोधपरक समीक्षा दृष्टि से जुड़ हुआ है। नवीन दृष्टि के उद्घाटन का प्रयास है। रूपक संरचना एक ऐसा प्रतिमान है। जो रचना के काव्यत्व का विधान भी करता है, साथ ही कवि द्वारा प्रस्तुत जीवन बिम्ब को सम्प्रेषणीय बनाता है। शोध प्रक्रिया के रूप में इस अध्ययन में निगमनात्मक पद्धति को अपनाया गया है। ऐतिहासिक पद्धति के आधार पर संरचना स्वरूप रेखांकित करते हुए काव्य शास्त्रीय परम्परा में उसका विकास देखा गया है। रूपक विधान और रूपक संरचना के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए कबीर व दादू के काव्य में प्रस्तुत रूपकों का विश्लेषण करते हुए उनकी भाव व्यंजना का अनुशीलन किया गया है।

कबीर और दादू के काव्य का अनुशीलन अब तक जिन दृष्टिकोणों से किया गया है उनमें खण्ड दृष्टियाँ ही अधिक दिखाई देती हैं। इनके काव्य को सम्यक से समझने समझाने के लिए इनको लौकिक जीवन परक चेतना का अनुशीलन आवश्यक है। क्योंकि उसी के माध्यम से इन महान सन्त कवियों अपने आध्यात्मिक जीवन बिम्बों एवं अनुभूतियों की व्यंजना की है। इसके साथ ही इनका रूपक विधान समाज को जन सामान्य वर्ग के जीवन संदर्भों का चित्र भी प्रस्तुत करता है। काव्य की सम्प्रेषणीयता दृष्टि से जब तक इनके काव्य के रचना तंत्र को नहीं समझ लिया जाता तब तक इनकी काव्य चेतना और इनकी भावानुभूति के साथ तादात्म्य नहीं किया जा सकता। इसीलिए विश्वास है कि यह शोध अध्ययन कबीर और दादू के काव्य को ही नहीं सन्त साहित्य को समझने समझाने के लिए एक दिशा निर्देशक दृष्टि प्रदान करेगा।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का प्रणयन श्रद्धेय डॉ० रमेश शर्मा के निर्देशन में हुआ है। डॉ० रमेश शर्मा का सुयोग्य निर्देशन प्राप्ति के लिए मैं डॉ० अब्दुल अलीम (रीडर हिन्दी विभाग, ए०एम०यू०, अलीगढ़) की सदा आभारी रहूँगी जिन्होंने मुझ अल्पज्ञ को विद्वता व कारयित्री प्रतिभा के धनी डॉ० रमेश शर्मा तक पहुँचने की प्रेरणा दी।

अज्ञानीतमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।

चछुरुन्मीलित येन तस्मै श्री गुरुवे नमः॥

मेरे शोध कार्य का आरम्भ और परिसमाप्ति मेरे माता-पिता (श्रीमती सलमा श्री नियाज अहमद) के अपूर्व उत्साहवर्द्धन और प्रोत्साहन का परिणाम है। अम्मी और पापा की आँखों में जिस डॉ० को देखने का सपना था शायद मेरा यह प्रयास उस सपने के कुछ अंश की पूर्ति कर सके। अम्मी और पापा के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता क्योंकि मेरा जीवन उन्हीं का दिया हुआ है उनके प्रति कृतज्ञता की अनुभूति मेरी निजी सम्पदा है किसी प्रकार के आभार प्रदर्शन से उसके मूल्य की क्षति ही होगी।

माँ की गोदी ममता की तुल्य विभाजक, मेरी भूलों की भ्रम परम प्रशंसक बहनें तरन्नुम नियाज, तबरस्सुम नियाज ने अपनी क्षमतानुरूप मेरे शोध कार्य में रुचि दिखाई। खुदा से दुआ है कि दोनों का भविष्य उज्ज्वल हो।

स्वर्गीय अब्दुल मजीद (दादा) के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए दादी के स्वास्थ्यपूर्ण जीवन के लिए खुदा से दुआगो हूँ। दादा हाजी कमाल, दादी, नानी, मामू सभी बुजुर्गों की दुआओं से मेरा शोध कार्य पूर्ण हुआ है। बड़े अब्बू (श्री मुस्ताज़) बड़ी अम्मी श्रीमती सरवर की निश्छल भावनाओं की मैं सदैव ऋणी रहूँगी।

चचा जनाब मौ० असलम व चची माहताब दोनों के स्नेह ने मुझे कभी माता-पिता से दूर नहीं महसूस नहीं होने दिया। भाई सालिम, मुस्लिम, मुकीम ने मेरे शोध कार्य में क्षमतानुसार सहयोग दिया।

जनाब मुहम्मद मुजतबा अकल व आंटी, दोनों भाई और भाभी ने दूर रहकर भी आशीष वचनो से सदैव प्रोत्साहित किया है।

मेरे शोध कार्य के लिए सदैव दुआगो मेरे गुरु डॉ० एहसन बेग (प्रवक्ता उर्दू विभाग, जे.एन.एम, पी.जी, कालेज बाराबंकी) व डॉ० श्रद्धासिंह – हिन्दी विभाग (जे.एन.एम.पी.जी, कालेज, बाराबंकी) के सहयोग व आशीष वचन के लिए उनका धन्यवाद देती हूँ।

हिन्दी विभाग के समस्त विद्वज्जन प्रो० एस.जे.आर.जैदी, (कला अधिष्ठाता कला संकाय एव आचार्य), प्रो० अजब सिंह (विभागाध्यक्ष), डॉ० एस.एन. शर्मा, डॉ० भरत सिंह, डॉ० अजय बिसारिया, डॉ० इफ्फत असगर, डॉ० तसनीम सुहेल और विशेष रूप से डॉ० मेराज (भाई) की मैं आभारी हूँ, जिनसे मुझे प्रोत्साहन मिला है।

हिन्दी विभाग की परवेज फतिमा, मुबशिशर भाई, हिन्दी स्टैक्स के राकिम भाई, इतिहास विभाग के अरशद भाई, हिन्दी संस्कृत सेक्शन की शाइस्ता बेदार, शाइस्ता जबी व विशेष रूप से पीर मुहम्मद भाई की मैं आभारी हूँ, जिन्होंने मेरे शोध कार्य में यथा सामर्थ्य सहायता की। हिन्दी विभाग के शकील भाई, शरीफ भाई, अफसर भाई, श्री प्रदीप भाई की भी मैं आभारी हूँ।

मेरे शोध पथ में जब कभी निराशा में मुझे सर्वत्र अन्धकार नजर आया ऐसे कठिन समय में आशा का दीप जलाती सुश्री उरुस फातिमा (प्रधानाचार्या ए.एम.यू., गर्ल्स हाईस्कूल) के प्रति मैं सदैव कृतज्ञ रहूँगी।

ए.एम.यू. गर्ल्स स्कूल के जनाब जावेद अख्तर साहब (मैनेजर) व श्रीमती सीमा जावेद (ओ.एस.डी.) के साथ-साथ मैं सुश्री नाज़मा आपा श्रीमती महलका शरीफ आपा, श्रीमती शाहिदा शेरवानी, श्रीमती नाहिद रिजवी, जनाब साबिर साहब, डॉ० महमूद साहब, सुश्री फरहत आपा (विशेष), अलका, लुबना मुनव्वर, साफिया आपा आदि के सहयोग के लिए मैं आभारी हूँ। जिन्होंने मेरे कार्य को सुगमता प्रदान की। श्रीमती हुमा मुख्तार और अजकिया वारिस (बहने, दोस्त कुलीग) के लिए मैं विशेष आभार प्रकट करती हूँ।

मनोबल बढ़ाने में भाई एहसान अहमद की भूमिका व क्षेत्रीय आत्मीयता प्रदर्शन के लिए डॉ० मोईन खान के प्रति भी मैं आभारी हूँ।

अपने घनिष्ठतम मित्रों में डॉ० हिना आफरीन, अमोदिनी श्री धरन, परवीन कौसर, डॉ० मिश्कात आबिदी, फरहाना परवेज़, लुबना अन्जुम, डॉ० फ़िरोज़ खान, जुल्फ़िकार आदि के प्रति मैं अत्यन्त आभारी हूँ। यद्यपि इनमें से कुछ मित्रों के साथ मेरा बहुत कम समय साथ रहा परन्तु फिर भी उनके द्वारा की गई प्रशंसा ने जहाँ मुझे भावनात्मक प्रोत्साहन दिया वहीं इनकी तीखी आलोचनाओं ने मुझे सदैव स्वयं को खूब से खूबतर बनाने की प्रेरणा भी दी है। इनके सुझावों ने न केवल मेरे शोध कार्य को वरन मेरे व्यक्तित्व को भी त्रुटियों से रहित किया है।

शोध यात्रा के साथी राधेश्याम, डॉ० समीना, तबस्सुम, उज़मा खान, खदीजा, फ़तमा, रईस, अनीस भाई, हस्सान, अहमद आजमी, हुसामुद्दीन, डॉ० इमरान, इकरार और विशेष रूप से आरिफ व सुहेल ने मेरे शोध कार्य को बेहतर करने की प्रेरणा व प्रोत्साहन दिया।

अन्त में उस जगत् नियन्ता के प्रति श्रद्धानवत् हूँ जो सर्वशक्तिमान व बुद्धिमान है जिसकी इच्छा के बिना कोई कार्य सम्भव नहीं।

“What Allah out of His Mercy, Doth bestow on mankind, None can withhold:, What he doth withhold, None can grant, Apart from Him :, and He is the Exalted, In Power, Full of Wisdom.”

— (Sura. Fatir, S. 35, A. 2-3)

शगुफ़ता नियाज़
(शगुफ़ता नियाज़)

प्रथम अध्याय

रूपक तत्त्व : शास्त्रीय विवेचन

1-43

1.1. रूपक : कोष परक अर्थ

- 1.1.1 संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ के अनुसार
- 1.1.2 मानक हिंदी कोश के अनुसार
- 1.1.3 हिन्दी शब्द सागर के अनुसार
- 1.1.4 विश्व कोश के अनुसार
- 1.1.5 बृहत् हिन्दी कोश के अनुसार
- 1.1.6 संस्कृत हिन्दी कोश के अनुसार

1.2. काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा रूपक का अर्थ

- | | |
|------------------------|-------------------------|
| 1.2.1 भरत | 1.2.2 भामह |
| 1.2.3 दण्डी | 1.2.4 उदभट् |
| 1.2.5 रुद्रट | 1.2.6 कुन्तक |
| 1.2.7 भोज | 1.2.8 मम्मट |
| 1.2.9 रूय्यक | 1.2.10 हेमचन्द्र |
| 1.2.11 जयदेव | 1.2.12 विश्वनाथ |
| 1.2.13 अप्पय्य दीक्षित | 1.2.14 पंडितराज जगन्नाथ |

1.3. रूपक भेद : कोश परक

- 1.3.1 मानक हिन्दी कोश
- 1.3.2 हिन्दी शब्द सागर
- 1.3.3 विश्वकोश
- 1.3.4 बृहत् हिन्दी कोश
- 1.3.5 संस्कृत हिन्दी शब्द कोश

1.4. काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा रूपक भेद निरूपण

- | | |
|----------------|------------------------|
| 1.4.1 भरत | 1.4.2 भामह |
| 1.4.3 दण्डी | 1.4.4 उदभट |
| 1.4.5 रुद्रट | 1.4.6 मम्मट |
| 1.4.7 रूय्यक | 1.4.8 जयदेव |
| 1.4.9 विश्वनाथ | 1.4.10 अप्पय्य दीक्षित |
| 1.4.11 जगन्नाथ | |

1 5 रूपक स्वरूप विवेचन

1.6. 'उपमान' शास्त्रीय स्वरूप विवेचन

- 1 6 1 साम्य मूलक उपमान
- 1 6 2 धर्म साम्य मूलक उपमान
- 1 6 3 प्रभाव साम्य मूलक उपमान
- 1 6 4 अपूर्व साम्य मूलक उपमान
- 1 6 5 व्यग्य मूलक उपमान
- 1 6 6 अतिशय मूलक उपमान
- 1 6 7 विरोध मूलक उपमान
- 1 6 8 जाति के आधार पर उपमान
- 1 6 9 गुण के आधार पर उपमान
- 1 6 10 द्रव्य के आधार पर उपमान
- 1 6 11 स्वभाव के आधार पर उपमान
- 1 6 12 सामयिक उपमान
- 1 6 13 असुन्दर उपमान
- 1 6 14 विशेष्य विशेषणमूलक उपमान
- 1 6 15 प्रतीकात्मक उपमान
- 1 6 16 लाक्षणिक उपमान
- 1 6 17 विशेषण विपर्यात्मक उपमान
- 1 6 18 विरोधात्मक विशेषण मूलक उपमान
- 1 6 19 भाववर्धक उपमान
- 1 6 20 भावापकर्षक उपमान
- 1 6 21 प्रच्छन्न उपमान
- 1 6 22 आभ्यन्तर उपमान
- 1 6 23 महनीय उपमान
- 1 6 24 एकांगी उपमान
- 1 6 25 जटिल उपमान
- 1 6 26 मूर्त से मूर्त का उपमान
- 1 6 27 अमूर्त से अमूर्त का उपमान
- 1 6 28 मूर्त से अमूर्त का उपमान
- 1 6 29 अमूर्त से मूर्त का उपमान
- 1 6 30 मूर्त्तमूर्त रूप उपमान

1.7 रूपक का भाव पक्ष

- | | | |
|---------------------|-------|--------------|
| 1 7 1 औचित्य विचार | 1.7.2 | यथार्थ बोध |
| 1 7 3 भाव व्यञ्जकता | 1.7.4 | मार्मिकता |
| 1 7 5 माधुर्य | 1.7 6 | प्रभाव साम्य |

- 1.8. रूपक का कला पक्ष
 - 1.8.1 कल्पना की दृष्टि से
 - 1.8.2 रमणीयता
 - 1.8.3 अभिनव प्रयोग
 - 1.8.4 सामाजिक दृष्टिकोण

द्वितीय अध्याय

कबीर और दादू का काव्य : कृषक और शिल्पी जीवन सम्बन्धी पृष्ठभूमि

44—100

- 2.1 कबीर का काव्य और वैयक्तिक जीवन परिवेश
 - 2.1.1 जीवन काल एवं माता—पिता
 - 2.1.2. गुरु एवं शिक्षा—दीक्षा
 - 2.1.3 व्यवसाय व जाति
- 2.2 दादू का काव्य और वैयक्तिक जीवन परिवेश
 - 2.2.1 जीवन काल एवं माता—पिता
 - 2.2.2 गुरु एवं शिक्षा—दीक्षा
 - 2.2.3 व्यवसाय व जाति
- 2.3 युगीन पृष्ठभूमि एवं परिपार्श्व
 - 2.3.1 काल निर्धारण
 - 2.3.1.1 राजनीतिक पृष्ठभूमि एवं परिपार्श्व
 - 2.3.1.2. सामाजिक पृष्ठभूमि एवं परिपार्श्व
 - 2.3.1.3. आर्थिक पृष्ठभूमि एवं परिपार्श्व
 - 2.3.1.4 सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एवं परिपार्श्व
 - 2.3.1.5. साहित्यिक पृष्ठभूमि एवं परिपार्श्व

तृतीय अध्याय

कबीर के काव्य में कृषक जीवन सम्बन्धी रूपक : स्वरूप विश्लेषण एवं अर्थव्यंजना

101—146

भूमिका

- 3.1. ऊसर खेत सम्बन्धी रूपक
- 3.2. बीज सम्बन्धी रूपक
- 3.3. उपज सुरक्षा सम्बन्धी रूपक

- 3.4. प्रकृति सम्बन्धी रूपक
 - 3.4.1 वृक्ष सम्बन्धी रूपक
 - 3.4.2 बेल सम्बन्धी रूपक
 - 3.4.3 फल-फूल सम्बन्धी रूपक
 - 3.4.4 वर्षा सम्बन्धी रूपक
- 3.5. सामन्ती जीवन सम्बन्धी रूपक
- 3.6. कृषक दुर्दशा सम्बन्धी रूपक

चतुर्थ अध्याय

कबीर के काव्य में शिल्पी जीवन सम्बन्धी रूपक :
स्वरूप विश्लेषण एवं अर्थव्यंजना

147-221

- 4.1. वयन शिल्प से सम्बन्धित रूपक
 - 4.1.1 कताई से सम्बन्धित रूपक
 - 4.1.1.1 सूत से सम्बन्धित रूपक
 - 4.1.1.2 चरखे से सम्बन्धित रूपक
 - 4.1.1.3 तकुए से सम्बन्धित रूपक
 - 4.1.2 बुनाई से सम्बन्धित रूपक
 - 4.1.2.1 वयन प्रक्रिया से सम्बन्धित रूपक
 - 4.1.2.2 ताने-बाने से सम्बन्धित रूपक
 - 4.1.2.3 मरोरिया या धागा जोड़ने की प्रक्रिया से सम्बन्धित रूपक
- 4.2 काष्ठकार शिल्प से सम्बन्धित रूपक
 - 4.21 आरे से सम्बन्धित रूपक
 - 4.22 कुल्हाड़ी से सम्बन्धित रूपक
- 4.3 कुम्भकार (कुम्हार) शिल्प से सम्बन्धित रूपक
 - 4.3.1 मिट्टी निर्माण की प्रक्रिया से सम्बन्धित रूपक
 - 4.3.2 कच्चे घड़े से सम्बन्धित रूपक
 - 4.3.3 पक्के घड़े से सम्बन्धित रूपक
 - 4.3.4 बर्तन बनाने की प्रक्रिया से सम्बन्धित रूपक
- 4.4 बाजीगर — नटकला से सम्बन्धित रूपक
 - 4.4.1 डमरू से सम्बन्धित रूपक
 - 4.4.2 पासे से सम्बन्धित रूपक
 - 4.4.3 बन्दर से सम्बन्धित रूपक

- 4.5 नटकला से सम्बन्धित रूपक
 - 4.5.1 बहरूपिया से सम्बन्धित रूपक
 - 4.5.2 रस्सी से सम्बन्धित रूपक
- 4.6 कलाल व्यवसाय से सम्बन्धित रूपक
 - 4.6.1 मदिरा से सम्बन्धित रूपक
 - 4.6.2 शराब की भट्टी से सम्बन्धित रूपक
 - 4.6.3 मदिरा के प्रभाव से सम्बन्धित रूपक
- 4.7 लोहार व्यवसाय से सम्बन्धित रूपक
 - 4.7.1 निहाई से सम्बन्धित रूपक
 - 4.7.2 कोयले से सम्बन्धित रूपक
 - 4.7.3 तप्त लोहे से सम्बन्धित रूपक
 - 4.7.4 लोहार शिल्प से गृहीत कतिपय अन्य उपादान और रूपक संरचना
- 4.8 सिक्लीगिरी शिल्प से सम्बन्धित रूपक
- 4.9 रजक व्यवसाय से सम्बन्धित रूपक
- 4.10 पनिहारी के व्यवसाय से सम्बन्धित रूपक
- 4.11 वणिक व्यवसाय से सम्बन्धित रूपक
 - 4.11.1 नाप-तोल से सम्बन्धित रूपक
 - 4.11.2 तराजू से सम्बन्धित रूपक
- 4.12 जौहरी की व्यवसाय कला (शिल्प) से सम्बन्धित रूपक
निष्कर्ष

पंचम अध्याय

दादू के काव्य में कृषक जीवन सम्बन्धी रूपक :
स्वरूप विश्लेषण एवं अर्थ व्यंजना

222-254

- 5.1. खेत सम्बन्धी रूपक
- 5.2. बीज सम्बन्धी रूपक
- 5.3. अंकुर सम्बन्धी रूपक
- 5.4. अनावृष्टि सम्बन्धी रूपक
- 5.5. कृषि और उससे फल प्राप्ति सम्बन्धी रूपक
- 5.6. सिंचाई सम्बन्धी रूपक
- 5.7. प्रकृति सम्बन्धी रूपक

- 5.8. वृक्ष सम्बन्धी रूपक
- 5.9. गुणवंती बेलि से सम्बन्धित रूपक
- 5.10. पशुपालन सम्बन्धी रूपक
- 5.11. सामन्ती जीवन व कृषक दुर्दशा सम्बन्धी रूपक

षष्ठ अध्याय

दादू के काव्य में शिल्पी जीवन सम्बन्धी रूपक : स्वरूप विश्लेषण
एवं अर्थ व्यंजना

255—284

- 6.1 वयन शिल्प से सम्बन्धित रूपक
 - 6.1.1 कताई से सम्बन्धित रूपक
 - 6.1.2 बुनाई से सम्बन्धित रूपक
- 6.2 कुम्हार शिल्प से सम्बन्धित रूपक
- 6.3 बाजीगर शिल्प से सम्बन्धित रूपक
- 6.4 कलाल शिल्प से सम्बन्धित रूपक
- 6.5 रंगरेज शिल्प से सम्बन्धित रूपक
- 6.6 रजक व्यवसाय से सम्बन्धित रूपक
- 6.7 साहूकार और बनिजारे के व्यवसाय से सम्बन्धित रूपक
- 6.8 जौहरी शिल्प से सम्बन्धित रूपक
- 6.9 स्वर्णकार शिल्प से सम्बन्धित रूपक

उपसंहार

285—289

परिशिष्ट

290—296

- हिन्दी ग्रन्थ
- संस्कृत ग्रन्थ
- अंग्रेजी ग्रन्थ
- कोश
- पत्र-पत्रिकाएँ

गीर्भिगुरूणां परषाक्षरभिः, तिरस्कृतायन्ति नरा महत्त्वम्।
अलब्ध शानोत्कषणा नृपाणा, नौलौ मणयो वसन्ति।।

प्रथम अध्याय

रूपक तत्त्व : शास्त्रीय विवेचन

- 1 1 रूपक कोष परक अर्थ
 - 1 1 1 सस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ के अनुसार
 - 1 1 2 मानक हिदी कोश के अनुसार
 - 1 1 3 हिन्दी शब्द सागर के अनुसार
 - 1 1 4 विश्व कोश के अनुसार
 - 1 1 5 वृहत् हिन्दी कोश के अनुसार
 - 1 1 6 सस्कृत हिन्दी कोश के अनुसार
- 1 2 काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा रूपक का अर्थ
 - 1 2 1 भरत
 - 1 2 2 भामह
 - 1 2 3 दण्डी
 - 1 2 4 उदभट्
 - 1 2 5 रुद्रट
 - 1 2 6 कुन्तक
 - 1 2 7 भोज
 - 1 2 8 मम्मट
 - 1 2 9 रूय्यक
 - 1 2 10 हेमचन्द
 - 1 2 11 जयदेव
 - 1 2 12 विश्वनाथ
 - 1 2 13 अप्पय्य दीक्षित
 - 1 2 14 पडितराज जगन्नाथ
- 1 3 रूपक भेद कोष परक
 - 1 3 1 मानक हिन्दी कोश
 - 1 3 2 हिन्दी शब्द सागर
 - 1 3 3 विश्वकोश
 - 1 3 4 वृहत् हिन्दी कोश
 - 1 3 5 सस्कृत हिन्दी शब्द कोश

- 1 4 काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा रूपक भेद निरूपण
 - 1 4 1 भरत
 - 1 4 2 भामह
 - 1 4 3 दण्डी
 - 1 4 4 उद्भट
 - 1 4 5 रुद्रट
 - 1 4 6 मम्मट
 - 1 4 7 रूय्यक
 - 1 4 8 जयदेव
 - 1 4 9 विश्वनाथ
 - 1 4 10 अण्णय्य दीक्षित
 - 1 4 11 जगन्नाथ
- 1 5 रूपक स्वरूप विवेचन
- 1 6 'उपमान' शास्त्रीय स्वरूप विवेचन
 - 1 6 1 साम्य मूलक उपमान
 - 1 6 2 धर्म साम्य मूलक उपमान
 - 1 6 3 प्रभाव साम्य मूलक उपमान
 - 1 6 4 अपूर्व साम्य मूलक उपमान
 - 1 6 5 व्यग्य मूलक उपमान
 - 1 6 6 अतिशय मूलक उपमान
 - 1 6 7 विरोध मूलक उपमान
 - 1 6 8 जाति के आधार पर उपमान
 - 1 6 9 गुण के आधार पर उपमान
 - 1 6 10 द्रव्य के आधार पर उपमान
 - 1 6 11 स्वभाव के आधार पर उपमान
 - 1 6 12 सामयिक उपमान
 - 1 6 13 असुन्दर उपमान
 - 1 6 14 विशेष्य विशेषणमूलक उपमान
 - 1 6 15 प्रतीकात्मक उपमान
 - 1 6 16 लाक्षणिक उपमान
 - 1 6 17 विशेषण विरप्यात्मक उपमान
 - 1 6 18 विरोधात्मक विशेषण मूलक उपमान
 - 1 6 19 भाववर्धक उपमान
 - 1 6 20 भावापकर्षक उपमान
 - 1 6 21 प्रच्छन्न उपमान
 - 1 6 22 आभ्यन्तर उपमान

- 1 6 23 महनीय उपमान
- 1 6 24 एकागी उपमान
- 1 6 25 जटिल उपमान
- 1 6 26 मूर्त से मूर्त का उपमान
- 1 6 27 अमूर्त से अमूर्त का उपमान
- 1 6 28 मूर्त से अमूर्त का उपमान
- 1 6 29 अमूर्त से मूर्त का उपमान
- 1 6 30 मूर्तामूर्त रूप उपमान
- 1 7 रूपक का भाव पक्ष
 - 1 7 1 औचित्य विचार
 - 1 7 2 यथार्थ बोध
 - 1 7 3 भाव व्यजकता
 - 1 7 4 मार्मिकता
 - 1 7 5 माधुर्य
 - 1 7 6 प्रभाव साम्य
- 1 8 रूपक का कला पक्ष
 - 1 8 1 कल्पना की दृष्टि से
 - 1 8 2 रमणीयता
 - 1 8 3 अभिनव प्रयोग
 - 1 8 4 सामाजिक दृष्टिकोण

रूपक तत्त्व : शास्त्रीय विवेचन

काव्य परमतात्त्विक शिव रूप है जिसकी पवित्र भावधारा में विश्व का प्रत्येक मानव निमग्न होकर ही जीवन की पूर्णता को प्राप्त करता है जो उस विश्व काव्य रस धारा में थोड़ी देर के लिए भी निमग्न न हुआ उसके जीवन को मरुस्थल की यात्रा ही समझना चाहिए।¹

आचार्य शुक्ल के इस कथन की सत्यता असंदिग्ध है क्योंकि काव्य परम पिता परमेश्वर की दिव्य कृति है और सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के प्रत्यक्षीकरण से काव्य कला ही मानव को सच्चिदानन्द तक पहुँचाती है।

भक्ति काल के कवियों ने भी काव्य के माध्यम से परब्रह्म को पहचानने की चेष्टा की है। भक्ति काल वास्तव में भारतीय चिन्तन और अध्यात्म के पुनर्जागरण का काल था। निर्गुण काव्यधारा में स्वानुभूति और व्यक्तिगत साधना पर बल दिया गया है। भक्तिकाल में रचे साहित्य उद्देश्य लोक व्याधि से मुक्ति है। निर्गुण काव्य पुरुष की आत्मा भक्ति प्राण-शाश्वत रस और शरीर लोकवाणी है। यह हृदय, मन और आत्माओं की विविध ज्वालाओं का हरण कर आध्यात्मिक तृप्ति प्रदान करता है। निर्गुण कवियों के हृदय में लौकिक-पारलौकिक दोनों जगत की आधारभूत भावनाओं का स्पन्दन छिपा है, जो मानव को नश्वर जगत के प्रति वैराग्य तथा अनिवश्वर परमसत्ता के प्रति अनुराग की प्रेरणा प्रदान करता है।

परमसत्ता का यह अनुभव गूंगे की मिठाई के समान इन्द्रियातीत विषय है। फलतः इसकी अभिव्यक्ति अस्फुट रहस्यात्मक एवं गूढ़ है।² यह कवि कर्म की विवशता थी कि आन्तरिक सत्य और इन्द्रियातीत अनुभव को काव्य भाषा में ही सम्प्रेषीय बनाया जा सकता था। भक्तिकाल के कवियों की विषय-सामग्री निजी अनुभव के क्षेत्र की वस्तु थी। इसलिए

1. आचार्य शुक्ल, चिन्तामणि, भाग-1, पृ० 199

2. डॉ० धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ० 456

उन्होंने अपने काव्य प्रतिमान भी उसी के अनुरूप सशक्त व्यंजना के लिए चुने। काव्य में उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द-संकेत मात्र नहीं, अपितु प्रतीक बन गए और उनके अर्थ विस्तार की सीमा असमान्य ढंग से बढ़कर अप्रस्तुत और अचेतन लोक के अभिप्रायों की गहराईयों तक पहुँच गई।

आन्तरिक ज्ञान की अभिव्यक्ति के लिए भाषा का वाह्य माध्यम अशक्त और अक्षम होता है। अतः कवि परम्परा से अलग हटकर नये-नये शब्दों और प्रतीकों के योग से आशय के अनुरूप अपनी व्यंजना का पूर्ण तथा पुष्ट बनाने का प्रयत्न करता है। सन्तों ने ऐसा ही किया।

यह वस्तुतः अव्यक्त के लिए अप्रस्तुत वाग्विधान का उपक्रम था।

मध्यकालीन काव्य चेतना अप्रस्तुत के माध्यम से मानवतावादी उक्तियों में व्यक्त हुई। परब्रह्म के आनन्द से अभिभूत व भाव-विभोर संत कवियों का काव्य निश्छल व यथार्थ होने के कारण सहज प्रभावी था और इसके लिए जो अभिव्यंजना शैली संतों ने अपनायी वह रूपक के रूप में उभर कर सामने आई। सन्तों ने अपने रूपकों की संरचना कुछ अपने परिवेश से कुछ पूर्व परम्परा में सिद्धों व नाथों की सन्ध्या शैली में अप्रस्तुतों तथा प्रतीकों की जो औप्यमूलक और विरोधमूलक द्विविध योजना प्रचलित थी, वही सन्त साहित्य में रूपकों व उलटवासियों के रूप में ग्रहण की गई।

इस प्रकार सन्तों ने अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए जो प्रतिमान अधिसंख्य रूप में अपनाए हैं उनमें उनका रूपक विधान प्रमुख है। सन्तों के काव्य में रूपकों के अनुशीलन के लिए रूपक के शास्त्रीय स्वरूप को समझाना होगा —

1.1 रूपक : कोष परक अर्थ

संस्कृत एवं हिन्दी शब्द कोशों में रूपक के व्युत्पत्तिपरक अर्थ पर विचार करते हुए कोशकारों ने रूपक के स्वरूप को स्पष्ट करने का यथासंभव प्रयास किया है। इस कोशपरक अर्थ एवं उसमें विवेचित रूपक के स्वरूप के आधार पर ही रूपक के स्वरूप निर्धारण की वे

रेखाएँ खींची जा सकती हैं जिनके आधार पर किसी काव्य के रूपक तत्त्व का अनुशीलन संभव होगा। अतः हम सर्वप्रथम विभिन्न कोशों के अनुसार रूपक तत्त्व पर विचार करेंगे –

1.1.1 संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ के अनुसार

रूपक – (नं०) (रूप + कनवा √रूप + ण्वल) आकृति, सूरत, शक्ल। मूर्ति, प्रतिकृति। चिहानी। लक्षण, किस्म। जाति। वह काव्य जो पात्रों द्वारा खेला जाता है, दृश्यकाव्य।

एक अर्थालंकार जिसमें उपमेय में उपमान के साधर्म्य के आरोप कर, उसका वर्णन उपमान के रूप से किया जाता है।¹

इस प्रकार शब्दार्थ कौस्तुभ प्रकृति प्रत्यय के आधार पर रूपक का व्युत्पत्ति परक अर्थ प्रस्तुत करते हुए रूपक के काव्य रूप विशेष (दृश्य-काव्य) अथवा एक अलंकार विशेष के रूप में प्रस्तुत करता है।

1.1.2 मानक हिन्दी कोश के अनुसार

रूपक का अर्थ इस प्रकार है – रूपक-वि० (सं० / रूप+विच+ण्वल-अक) जिसका कोई रूप हो। रूप से युक्त रूपी।

पु० 1 किसी रूप की बनायी गयी प्रतिकृति या मूर्ति, 2. किसी प्रकार का चिह्न या लक्षण, 3. प्रकार भेद, 4. प्राचीन काल का एक प्रकार का प्राचीन परिमाण। 5. चाँदी, 6. रूपया नाम का सिक्का जो चाँदी का होता है, 7. चाँदी का बना हुआ गहना, 8. ऐसा काव्य या और कोई साहित्यिक रचना जिसका अभिनय होता हो या हो सकता हो। जैसे – नाटक।²

पहले नाटक के लिए 'रूपक' शब्द ही प्रचलित था और रूपक के दस भेदों में नाटक-प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, इहामृग, अंक, बीथी, प्रहसन प्रचलित थे।

1. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० 7981

2. मानक हिन्दी कोश, पृ० 520

साहित्य में एक प्रकार का अर्थालंकार जिसमें बहुत अधिक साम्य के आधार पर प्रस्तुत में अप्रस्तुत का आरोप करके अर्थात् उपमेय में उपमान के साधर्म्य का आरोप दिखाते हुए उपमेय का उपमान के रूप में ही वर्णन किया जाता है। बोलचाल में कोई ऐसी बनावटी बात जो किसी को डरा धमकाकर अपने अनुकूल कही जाए जैसे तुम डरो मत; यह सब उनका रूपक भर है।

मानक हिन्दी कोष रूपक को और अधिक व्यापक रूप में परिभाषित करता है।

1.1.3 हिन्दी शब्द सागर के अनुसार

रूपक का अर्थ इस प्रकार है – रूपक – संज्ञा पु० (सं०) 1. मूर्ति। 2. प्रतिकृति। 3. वह काव्य जो पात्रों द्वारा खेला जाता है जिसका अभिनय किया जाता है। दृश्य काव्य। इसके दस भेद हैं जिन्हें नाटक, प्रकरण, भाव, व्यायोग, समवकार, डिम ईहामृग, अंक, वीथी और प्रहसन कहते हैं। इसके अतिरिक्त नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्यक, काव्य, प्रेखण, रासक, संलापक, श्री गदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हल्लीश और भाण को उपरूपक कहते हैं। 2. एक अर्थालंकार जिसमें उपमेय में उपमान के साधर्म्य का आरोप करके उसका वर्णन उपमान के रूप से या अभेद रूप से किया जाता है।¹

1.1.4 विश्वकोश के अनुसार

काव्यालंकार भेद रूपक अलंकार निरपहव विषय में जहाँ रूपित का आरोप होता है वहाँ यह अलंकार हुआ करता है। प्रकृति विषय छिपाने का नाम निरपहव है। जहाँ प्रकृत विषय को न छिपाकर उपमेय में उपमान का आरोप होता है वहीं पर रूपक अलंकार होता है। अर्थात् प्रतिषेध का अभाव होकर जहाँ उपमान में उपमेय का आरोप होता है, वहीं रूपक अलंकार होगा।²

1. हिन्दी शब्द सागर, भाग-8, पृ० 418

2. हिन्दी विश्वकोश (भाग-1), पृ० 644

1.1.5 वृहत हिन्दी कोश के अनुसार

पृ० (स०) (रूपक का आरोप करना) एक अर्थालंकार जहाँ साधर्म्य के कारण उपमेय में उपमान का आरोप किया जाए।¹

1.1.6 संस्कृत हिन्दी कोश के अनुसार

(रूप + ण्वुल, रूप + कन् वा)

अंग्रेजी के मेटाफर के अनुरूप एक अलंकार जिसमें उपमेय का उपमान के ठीक समानुरूप वर्णित किया जाता है – तद्रूपकमभेदो या उपमानोपमेययो।²

उपर्युक्त कोशों में रूपक की भाषिक व्युत्पत्ति के आधार पर बनी अवधारणा तथा काव्य सन्दर्भीय अवधारणा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि रूपक तत्त्व की चेतना नाटक के तात्त्विक स्वरूप से निकलकर काव्य के अप्रस्तुत विधान तक पहुँची है। नाटकों में भी रूपक चेतना के साथ 'रूप' का आरोपण था जिसके माध्यम से पात्र जीवन संदर्भों को अभिनय के माध्यम से दर्शकों के लिए सम्प्रेषणीय बनाते थे। यही चेतना काव्य अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में शब्द चयन और शब्द प्रयोग तक आयी जिसने रूपक अलंकार का स्वरूप ग्रहण किया।

1.2 काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा रूपक का अर्थ

भारतीय काव्य शास्त्र में संस्कृत के आचार्यों ने रूपक अलंकार को महत्त्व देते हुए उसको परिभाषित किया है। रूपक के स्वरूप विश्लेषण के लिए अब हम संस्कृत काव्यशास्त्र में उपलब्ध रूपक अलंकार की परिभाषा पर विचार करते हुए रूपक तत्त्व का स्वरूप विश्लेषण करेंगे –

संस्कृत काव्य शास्त्र में आचार्य भरत का नाट्यशास्त्र एक ऐसी रचना है जिसमें काव्य तत्त्वों का स्वरूप विश्लेषण नाट्य संदर्भों में हुआ है। नाट्यशास्त्र में रूपक को इस प्रकार परिभाषित किया गया है –

1 वृहत् हिन्दी कोश, पृ० 141

2 संस्कृत हिन्दी कोश

1.2.1 भरत

नाना द्रव्यानुरागाधैर्यदौपम्यगुणाश्रयम्।
 रूप निर्वर्णनायुक्तं तद्रूपकमिति स्मृतम्॥
 स्वीवकल्पेन रचितं तुल्यावयवलक्षणम्।
 किञ्चित् सादृश्यसम्पन्नं यद्रूपं रूपकं तु तत्॥¹

भरत के इस मत में – रूपक अलंकार के लक्षण में अनेक द्रव्यों के अनुषंग आदि से गुणाश्रित औपम्य का, रूप की निर्वर्णना से युक्त होना अपेक्षित माना है। उनके अनुसार रूपक स्वविकल्प से विरचित होता है तथा उसके तुल्यावयव लक्षण-युक्त होने तथा किञ्चित् सादृश्य से सम्पन्न होने के आधार पर दो रूप होते हैं।

भरत के अनुसार केवल गुण के ही आश्रय से किञ्चित् सादृश्य को अपने विकल्प से रूप प्रदान करना है। भरत ने लक्षण में दो ऐसे तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है, जिसे रूपक का सामान्य वैशिष्ट्य स्वीकार कर परवर्ती आचार्यों ने भी ग्रहण किया है। गुण-साम्य या सादृश्य के आधार पर एक पदार्थ को अन्य पदार्थ का रूप प्रदान करना। इतना होने पर भी भरत का लक्षण स्पष्ट नहीं है और उसमें प्रारम्भिक विकास की अस्पष्टताएँ विद्यमान हैं।

1.2.2 भामह

‘भामह’ ने अपनी रूपक परिभाषा में भरत की रूपक-धारणा को अधिक स्पष्टता से प्रस्तुत किया है –

उपमानेनयन्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते।
 गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः॥²

अर्थात् जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत में गुण की समता देखकर अप्रस्तुत के साथ प्रस्तुत का तत्त्व रूपित किया जाए, अर्थात् प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप किया जाए, वहाँ रूपक अलंकार होता है।

1. भरत, नाट्यशास्त्र, पृ० 56, 57

2. भामह, काव्यालंकार, 2।21

भामह के लक्षण में भरत की सी दुरुहता न होकर स्पष्टता है, इन्होंने गुण साम्य के आधार पर उपमेय में उपमान के रूपण या आरोप को रूपक कहा है। भामह ने गुण-साम्य को तो भरत से लिया, किन्तु उपमेय में उपमान के अभेद कथन या आरोप का उल्लेख कर रूपक के स्वरूप को अधिक स्पष्ट किया। अन्य आचार्यों ने उपमालंकार के निरूपण से ही अर्थालंकार का प्रारम्भ किया है। परन्तु भामह ने रूपक से ही अर्थालंकार का आरम्भ कर इसकी महत्ता प्रतिष्ठित की। इस प्रकार भामह ने रूपक के लक्षण में गुण साम्य तथा उपमेयोपमान का अभेदत्व स्थापित किया।

1.2.3 दण्डी

‘दण्डी’ का रूपक-लक्षण उपमा-लक्षण सापेक्ष है —

उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते।¹

उपमान और उपमेय का भेद जहाँ तिरोभूत हो जाए ऐसी उपमा ही रूपक है।

दण्डी के इस लक्षण से एक नवीन तथ्य की अभिव्यंजना हुई कि रूपक का उपमा के साथ अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है और उपमा में ही भेद का तिरोधान होने पर रूपक हो जाता है। यहाँ उनका कहना है कि — उपमा में उपमेय एवं उपमान में भेद रहता है, उनमें साधर्म्य रहने पर भी वैधर्म्य के तत्त्व बने रहते हैं, किन्तु रूपक में उपमेय और उपमान के वैधर्म्य सर्वथा लुप्त हो जाते हैं और दोनों में अभेद या ताद्रूप्य प्रतीति होने लगती है।

उपमा में दोनों के बीच साधर्म्य में भेदाभेद की प्रधानता रहती है। दोनों के साधर्म्य अभेद की दशा में रूपक अलंकार होता है। अतः गुण की समता के कारण उपमान और उपमेय का अभेदाराप अर्थात् उपमेय पर उपमान के आहार्य अभेद का आरोप रूपक अलंकार है।

इस प्रकार दण्डी का लक्षण भामह से भिन्न है परन्तु जहाँ भामह ने रूपक का स्वतन्त्र तथा पूर्व लक्षण दिया था, वहाँ दण्डी ने उसे उपमा-लक्षण-सापेक्ष बनाकर परिभाषित किया है।

1 दण्डी, काव्यादर्श, 2, 66

अतः दण्डी के लक्षण में तादृश्य प्रतीति के सौन्दर्य पर विशेष बल दिया गया है तथा इसे सादृश्य-निमित्तक अलंकार सिद्ध किया गया है।

1.2.4 उद्भट

‘उद्भट’ ने रूपक की परिभाषा स्वतन्त्र रूप में की है —

श्रुत्यासम्बन्धविरहाहात्पदेन पदान्तरम्।

गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत्॥¹

गुणावृत्ति या लक्षणा की प्रधानता के कारण एक पद का अन्य पद के साथ योग ही रूपक है। जब एक पद का अन्य पद के साथ अभिधा व्यापार के द्वारा श्रुति संबंध राहित्य-स्थापन न होने पर गुण-वृत्ति या लक्षणा व्यापार की सहायता से संबंध स्थापित हो जाए वहाँ रूपक होगा।

डॉ० ओम प्रकाश ने उद्भट के लक्षण को विकसित एवं वैज्ञानिक माना है और उद्भट के ‘गुणवृत्तिप्रधान’ योग को एक विशेष सूक्ष्मता का द्योतक माना है।²

रूपक में प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप लक्षणा से ही सम्भव होता है। भरत, भामह आदि की रूपक परिभाषाओं में भी आरोप की संगति गौणवृत्ति के आधार पर ही मानी जाएगी। यथा — ‘चन्द्रवदनम्’ को अभिधा से स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि मुख का चन्द्र होना सम्भव नहीं है, इसीलिए इसको लक्षणा से स्वीकार किया जाता है, यह रूपक का आधारभूत उदाहरण है। अतः रूपक के निरूपण में लक्षणावृत्ति का समावेश उद्भट का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

1.2.5 रुद्रट

‘रुद्रट’ ने रूपक के दो प्रकार स्वीकार कर उन्हें पृथक्-पृथक् परिभाषित किया —

यत्र गुणांना साम्ये सत्युपमानोपमेययोरभिदा।

अविवक्षित सामान्या कल्प्यत इति रूपकं प्रथमम्॥³

1 उद्भट, काव्यालंकार सा०स० 1।11

2 डॉ० ओमप्रकाश, अलंकारों का स्वरूप विकास, पृ० 59

3 रुद्रट, काव्यालंकार, पृ० 8, 38

अर्थात् सामान्य धर्म के कथन के बिना ही जहाँ गुण के साम्य के आधार पर उपमानोपमेय का अभेद कल्पित किया जाए।

उपमान और उपमेय का अभेद तो रूपक और उत्प्रेक्षा — दोनों में समान रूप से रहता है, पर उत्प्रेक्षा से रूपक का यह भेद है कि उत्प्रेक्षा में छल-छद्म, ब्याज आदि शब्दों से उपमान और उपमेय के बीच अभेद और भेद विवक्षित रहता है, पर रूपक में सामान्य विवक्षित नहीं रहता। रूद्रट के रूपक का दूसरा प्रकार 'समस्त' रूपक है जिसकी परिभाषा में कहा गया है कि इसमें उपमान और उपमेय का समास कर उपमेय को गौण रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

रूद्रट ने उपमानोपमेय में गुणों की तुल्यता आवश्यक मानी गई, साथ ही यह भी स्वीकार किया गया कि इसमें सामान्य धर्म का निर्देश नहीं किया जाए। उत्प्रेक्षा में अतिव्याप्ति न होने के लिए सामान्य की अविवक्षा पर बल दिया गया। उत्प्रेक्षा में छद्म, लक्ष्य, ब्याज, व्यपदेशादि शब्दों के द्वारा उपमान एवं उपमेय में अभेद या भेद स्थापन किया जाता है, किन्तु रूपक में ऐसा नहीं होता।

रूद्रट के बताए लक्षण जिसमें प्रथम प्रकार में उपमान और उपमेय पृथक्-पृथक् रहते हैं, पर द्वितीय प्रकार में वे समस्त रहते हैं। रूद्रट के ये दो रूपक क्रमशः व्यस्त तथा समस्त रूपक-भेदों के रूप में परवर्ती आचार्यों के द्वारा स्वीकृत हुए हैं।

126 कुन्तक

कुन्तक ने आचार्य उद्भट के मत का अनुसरण करते हुए उपमान के द्वारा उपमेय को अपने रूप का अपूर्ण रूपक का लक्षण माना और इस रूपार्पण की प्रक्रिया के मूल में निहित प्रस्तुत-अप्रस्तुत की समता का प्राणभूत तत्त्व उपचार वक्रता को स्वीकार किया —

उपचारैकसर्वस्व यत्र (वस्तु) तत् साम्यं मुदहत्।

यदर्पयति रूपं स्व वस्तु तद् रूपकं विदुः॥¹

कुंतक के लक्षण में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य का समावेश हुआ। इन्होंने उपचारवक्रता को रूपक का प्राणभूत तत्त्व माना। यहाँ उपचारवक्रता का अभिप्राय सादृश्यमूला गौणी लक्षणा से है। कुंतक के लक्षण में सादृश्यमयता के कारण उपमान-उपमेय को अपना स्वरूप अर्पित कर दे तो रूपक होगा इसमें उपमेय पर उपमान का कथन किया गया है।

1.2.7 भोज

‘भोज’ ने भी रूपक का मूलाधार लक्षणावृत्ति को स्वीकार कर उद्भट की रूपक धारणा का ही अनुमोदन किया है —

यदोपमानशब्दानां गौणवृत्तिव्यपाश्रयात्।
उपमेयेभवेद्वृत्तिस्तदातद्रूपकं पकं विदुः॥¹

अर्थात् गौणवृत्ति या सोरूपा लक्षणा के आश्रय के कारण उपमान के वाचक शब्दों का प्रयोग उपमेय के अर्थ में होने पर रूपक अलंकार होता है।

1.2.8 मम्मट

‘मम्मट’ ने रूपक में ताद्रूप्य प्रतीति न मानकर अभेद प्रतीति मानी है —

तद्रूपकमभेदोऽथ उपमानोपमेययोः॥²

भेद के विद्यमान रहने पर भी अतिसादृश्य के कारण उपमानोपमेय का अभेद वर्णन रूपक का चमत्कार है। यह लक्षण-उपमा लक्षण की परम्परा में लिखा गया है। वृत्ति में मम्मट ने स्वयं स्पष्ट किया है कि प्रसिद्ध भेद वाले उपमानोपमेय का अतिसाम्य के कारण अभेद वर्णन रूपक है।

मम्मट के विवेचन की दो मुख्य विशेषताएँ हैं — अभेदाराप एवं अत्यन्त सादृश्य। इन्होंने उक्त दोनों तत्त्वों का समावेश कर रूपक के स्वरूप-विवेचन को आगे बढ़ाया है। मम्मट ने

1 भोज, सरस्वती कण्ठाभरण, 4,24

2 मम्मट, काव्यप्रकाश, सू० 139

रूपक को सादृश्य—मूलक अलंकार मानते हुए इसके आधार पर अभेदारोप की स्थापना की है। इस प्रकार उपमेयापमान की अभेदात्मकता मम्मट की महान् उपलब्धि कही जा सकती है। रूपक शब्द जिस अर्थ का द्योतक है, उसकी पूर्ण प्रतिष्ठा मम्मट के लक्षण में हुई। रूपक में उपमेय व उपमान के भेद को मिटाकर दोनों में एकरूपता स्थापित की जाती है।

1.2.9 रूय्यक

‘रूय्यक’ ने रूपक का स्वरूप इस प्रकार बताया है —

“अभेद प्रधान्ये आरोपे आरोपविषयानपहवे रूपकम्।”¹

यह लक्षण मम्मट के लक्षण का ही विकास है। मम्मट ने लक्षण में अभेदोऽथ उपमानोपमेययोः तथा वृत्ति में ‘अतिसाम्यात् अनपहुतभेदयोः अभेदः स्पष्टीकरण किया था। रूय्यक ने दोनों को मिला दिया व मम्मट की भांति अभेद को रूपक का तत्त्व स्वीकार करते हुए नया विचार भी दिया। रूय्यक के लक्षण में अभेद के स्थान पर अभेद—प्राधान्य को महत्त्व दिया गया तथा अभेद प्राधान्य का सन्निवेश कर भेद की सत्ता भी स्वीकार की गई। इस प्रकार रूय्यक के अनुसार अभेद की प्रधानता होने पर भी यदि आरोप हो और आरोप के विषय का अपहन्व या निषेध न हो तो वहाँ रूपक होगा। अभेद एवं आरोप दोनों ही तत्त्वों का समन्वय कर इन्हें रूपक के लिए आवश्यक माना। मम्मट ने केवल अभेद का ही समावेश किया था, किन्तु रूय्यक ने अभेद एवं आरोप दोनों का उल्लेख कर रूपक के स्वरूप का विस्तार किया।

1.2.10 हेमचन्द्र

हेमचन्द्र ने रूपक में अभेद—प्रतीति को अनिवार्य नहीं माना है —

सादृश्ये भेदेनारोपोरूपकममेकानेक विषयम्।

भेद ग्रहणम्भेदारोपनिरासार्थम्।²

1 रूय्यक, अलंकार सर्वस्व, पृ० 43—44

2 हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, पृ० 168

अर्थात् रूपक में अभेद प्रतीति होती ही नहीं। इसीलिए इन्होंने अपने लक्षण में भेदेन का सन्निवेश कर अभेदारोप का खण्डन किया है।

1 2 11 जयदेव

‘जयदेव’ ने रूपक की परिभाषा रूपकात्मक शैली में दी है —

यत्रोपमानचित्रेण सर्वथाप्युपरज्यते।
उपमेयमयोभित्तिस्तत्ररूपक मियेत॥¹

अर्थात् जब उपमान चित्र के द्वारा उपमेय रूपी भित्ति रंग दी जाए तो वहाँ रूपक होगा।

जयदेव ने प्रकारांतर से अभेदारोप को ही रूपक स्वीकार किया है, किंतु उपमान द्वारा उपमेय को उपरजित करने का मत व्यक्त कर नवीन शैली का प्रयोग किया। जयदेव के विवेचन में उपरजकता या उपमान द्वारा उपमेय को अपने रंग में रजित कर देने की प्रवृत्ति का प्राबल्य है, अर्थात् रूपक में आरोप्यमाण का तिरोधान नहीं होता और वह विषय को अपने रंग में रंग देता है।

1 2 12 विश्वनाथ

‘विश्वनाथ’ ने बिना निषेध किए गए विषय पर विषयी के अभेदारोप को रूपक कहा है—

रूपक रूपितारोपाद्विषयेनिरपहनवे॥²

विश्वनाथ के लक्षण में ‘रूपित’ के द्वारा परिणाम एवं ‘निरपहनवे’ के द्वारा अपहृनति का निवारण किया गया है। विश्वनाथ रूपक में विषय एवं विषयी दोनों के शब्दों उपादान पर बल देकर उसे अपहृनति से पृथक् सिद्ध करते हैं। विश्वनाथ ने एक नवीन तथ्य पर विचार किया है कि इसमें सादृश्य शब्द न होकर व्यंग्य या आर्थ होता है।

इस प्रकार विश्वनाथ के रूपक विवेचन को एक नवीन तत्त्व का उद्घाटक कहा जा सकता है।

1 चन्द्रलोक जयदेव, 5।18

2 विश्वनाथ, साहित्य दर्पण, 10/28

1 2 13 अप्यय दीक्षित

‘अप्ययदीक्षित’ का रूपक विवेचन भी ध्यान देने योग्य है —

आरोपविषयस्य स्यादतिरोहितरूपिण ।

उपरजकमारोप्यमाण तदरूपक मतम् ।।¹

अप्यय दीक्षित ने ‘चित्र-मीमासा’ एवं ‘कुवलयानन्द’ दोनों ही ग्रंथों में रूपकालंकार का विवेचन किया है। ‘चित्रमीमासा’ में बताया गया है कि जब विषयी या उपमान बिब विशिष्ट (बिब प्रतिबिब भाव सेरहित) शब्दत कथित एवं अपहृत (निषेधरहित) उपमेय का उपरजक हो अर्थात् अपने रग में रग दे तो वहाँ रूपक होता है।

दीक्षित ने ‘कुवलयानन्द’ में रूपक की सरल परिभाषा दी है —

विषयभेदात्ताद्रुप्यरञ्जन विषयस्य यत् ।

रूपक तत्रिधाधिक्यन्यूनत्वानुभवेति ।।²

अर्थात् विषय में विषयी के अभेद एवं ताद्रूप्य-वर्णन को ही रूपक कहा गया है। यहाँ रजन की प्रक्रिया दो प्रकार से सिद्ध की गई है — अभेद एवं ताद्रूप्य के द्वारा विषयी जब विषय को अपने रग में रग दे तो रूपक होगा।

1 2 14 पडितराज जगन्नाथ

‘पडितराज जगन्नाथ’ की रूपक परिभाषा में यद्यपि नवीनता नहीं है परन्तु फिर भी उसका अपना वैशिष्ट्य है। अभी तक आचार्यों ने रूपक निरूपण में अभेदता एवं उपरजकता तथा ताद्रूप्य का प्राधान्य था, किन्तु पडितराज ने सादृश्यमूलक अभेद एवं उपस्कारकता (रूपक की शोभाजनकता) का सन्निवेश कर अधिक सूक्ष्मता प्रदर्शित की।

उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेणोपमेये शब्दान्निश्चीयमानम्

उपमानतादात्म्य रूपकम् । तदेवोपस्कारकत्वविशिष्ट्यलंकार ।³

1 अप्ययय दीक्षित चित्रमीमासा, पृ० 56

2 अप्यय दीक्षित कुवलयानन्द, पृ० 163

3 पडितराज जगन्नाथ रस गगाधर, पृ० 297

अर्थात् उपमेयतावच्छेदक (मुखत्व) को आगे रखकर शब्द द्वारा निश्चित की जाने वाली, उपमेय (मुख) में उपमान (चन्द्र) की एकरूपता (अभेद) को रूपक कहते हैं। शोभाजनक होने से इसका अलंकारत्व है।

इस लक्षण में नवीनता केवल शब्दों की है। विवेचन से ज्ञात होता है कि 'उपमेयतावच्छेदक पुरस्कारेण' विशेषण अपहृति भ्रांतिमान्, अतिशयोक्ति और निर्दशना से रूपक को भिन्न सिद्ध करता है। 'शब्दात्' विशेषण का अभिप्राय 'आहार्य' अभेद से है, भ्रान्तिमान् में आने वाले वास्तव अभेद से नहीं। 'निश्चयीमानम्' से उत्प्रेक्षा का निवारण होता है। 'उपमान' 'उपमेय' पदों से सादृश्य प्राप्त होता है।¹

पंडितराज के लक्षण में रूपकालंकार में चमत्कारत्व का विशेष महत्त्व स्थापित किया गया, जो इसके स्वरूप विकास के क्षेत्र में निश्चित बढ़ाव का सूचक है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के इन आचार्यों द्वारा प्रस्तुत रूपक की परिभाषा पर यदि सम्यक् रूप से विचार किया जाये तो यह स्पष्ट है कि इन आचार्यों ने काव्य उपादान के रूप में रूपक को महत्त्व दिया है इन परिभाषाओं में रूपक के लक्षण स्पष्ट रूप में रेखांकित किए गए हैं।

रूपक भरत द्वारा उद्भाषित चार अलंकारों में से दूसरा है। इसको महत्त्व की दृष्टि से 'उपमा' के तत्काल पश्चात् स्थान दिया गया है।

भरत ने रूपक-लक्षण में तीन गुणों पर बल दिया है — उपमा का आधार 'सादृश्य' है, रूपक का आधार 'औपम्य' उपमा का आधार 'गुणाकृति' है, परन्तु रूपक का आधार केवल 'गुण', उपमा में आकृति का सादृश्य है रूपक में 'रूप निर्वग्रना' भामह ने 'गुणाना समता' के साथ-साथ अभेद रूपता को रूपक लक्षण में महत्त्व दिया; यह अभेद कालान्तर में रूपक का मुख्य आधार माना गया। दण्डी का लक्षण इसी अभेद-मात्र पर बल देता है — उपमैव

1. डॉ० ओमप्रकाश, अलंकारों का स्वरूप विकास, पृ० 68

तिरोभूत भेदा रूपक मुच्यते। उद्भट ने सर्वप्रथम यह उद्भावना की थी कि रूपक में प्रस्तुताप्रस्तुत का सम्बन्ध लक्षणा पर निर्भर है, यह गुण वृत्ति प्रधान सम्बन्ध रूपक के निर्माण की धुरी है। मम्मट तथा रूय्यक ने अभेद पर बल दिया तो विश्वनाथ ने 'आरोप' पर। मम्मट तथा रूय्यक ने सर्वप्रथम यह कहा कि रूपक का अभेद निरपहव होता है – निषेधरहित रहता है।

इस प्रकार रूपक के लक्षण में यह सर्वस्वीकार्य है कि इसमें गुणोंना समता होती है। दूसरी स्वीकृति 'अभेद' अथावा 'आरोप' का कारण लक्षणा शब्द शक्ति है। यह अभेद अथावा आरोप पदार्थों में होता है और निषेध रहित होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि – सभी कोशों व आचार्यों के मतानुसार रूपक में एक वस्तु का अन्य पर आरोप होता है।

1.3 रूपक भेद : कोश परक

काव्यशास्त्रीय परम्परा में रूपक को परिभाषित करने के साथ उसका सूक्ष्म अध्ययन करते हुए उसके भेदों पर विचार किया गया है। शब्दकोष और साहित्य कोषों में आचार्यों द्वारा प्रस्तुत रूपक भेदों को रूपक चेतना का अंग बनाया गया है।

1.3.1 मानक हिन्दी कोश

मानक हिन्दी कोश में रूपक के निम्नलिखित भेद बताए गए हैं – सांग रूपक, अभेद रूपक, तद्रूप रूपक, न्यून रूपक, परम्परित रूपक आदि।¹

1.3.2 हिन्दी शब्द सागर

हिन्दी शब्द सागर के अनुसार रूपक दो प्रकार का होता है – तद्रूप और अभेद। जिसमें उपमेय का वर्णन उपमान रूप से होता है उसे तद्रूप रूपक कहते हैं, और जिसमें

1. मानक हिन्दी कोश, पृ० 521

दोनों की अभेदता का वर्णन होता है उसे अभेद रूपक कहते हैं। रूपक में आकृति स्वभाव और शील का अभेद और तद्रूपता दिखायी जाती है।¹

1.3.3 विश्वकोश

विश्वकोश के अनुसार रूपक अलंकार परम्परित, सांग और निरंग तीन प्रकार के हैं।²

1.3.4 वृहत्त हिन्दी कोश

वृहत्त हिन्दी कोश के अनुसार तद्रूप व अभेद दो प्रकार का रूपक है जो उपमान की तद्रूपता होने पर तद्रूप और दोनों में अभेद होने पर अभेद रूपक होता है।³

1.3.5 संस्कृत हिन्दी शब्दकोश

संस्कृत हिन्दी शब्दकोश के अनुसार तद्रूप व अभेद दो प्रकार का है।⁴

शब्द कोष और साहित्य कोषों में रूपक के भेदों पर दृष्टिपात करने के पश्चात् आचार्यों द्वारा दिये गए रूपक भेदों को समझाना आसान होगा —

1.4 काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा रूपक भेद निरूपण

1.4.1 भरत

आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में रूपक के भेद स्पष्ट करते हुए कहा है कि —

स्वीकल्पेन रचितं तुल्यावयवलक्षणम्।

किञ्चित् सादृश्य सम्पन्नं युद्धं रूपकं तु तत्।⁵

भरत ने रूपक अलंकार के लक्षण में अनेक द्रव्यों के अनुषंग आदि से गुणाश्रित औपम्य का रूप की निर्वणना से युक्त होना अपेक्षित माना है, उनके अनुसार रूपक स्वविकल्प से

1 हिन्दी शब्द सागर, भाग-8, पृ0 4198

2 हिन्दी विश्वकोश, पृ0 644

3 वृहत्त हिन्दी कोश, पृ0 141

4 संस्कृत हिन्दी कोश

5 भरतनाट्य शास्त्र, पृ0 16

विरचित होता है तथा उसके तुल्यावयव लक्षण—मुक्त होने तथा किञ्चित् सादृश्य से सम्पन्न होने के आधार पर दो रूप होते हैं।

स्वविकल्प से किसी वस्तु (वर्ण्य वस्तु) की रूप रचना में अर्थात् उस वर्ण्य में अन्य वस्तु के रूप की कल्पना में प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के आरोप की धारणा निहित थी। यही धारणा परवर्ती काल के आचार्यों के रूपक लक्षण में स्पष्टतया व्यक्त हुई है।

1.4.2 भामह

भामह ने अपनी रूपक परिभाषा में भरत की रूपक धारणा को अधिक स्पष्टता से प्रस्तुत किया है।

समस्त वस्तु विषयमेक देश विवर्चिच ।

द्विधा रूपकमदिदष्टम् ।।¹

अर्थात् रूपक के दो भेद होते हैं — 1. समस्त वस्तु विषय और 2. एकदेशविवर्ति। रूपक की कल्पना में उपमेय और उपमान के बीच गुण की समता को “गुणाश्रित औपम्य” पद से भरत ने भी हेतु बताया था। भरत के द्वारा सांकेतिक रूपक के दो भेदों का स्पष्ट निरूपण भामह ने किया है।

‘समस्त वस्तु विषय’ रूपक में समस्त उपमान का (अवयवों के साथ) समस्त उपमेय पर (अवयवों के साथ) आरोप हो जाता है।

‘एकदेशविवर्ती’ रूपक में केवल कतिपय अवयवों पर ही आरोप होता है, समस्त वस्तु पर नहीं।

1.4.3 दण्डी

दण्डी ने रूपक के अनेक भेदों की संभावना व्यक्त की है। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ‘काव्यादर्श’ में 19 भेदों का उल्लेख किया है। शेष सभी भेद विद्वानों के अनुमानों पर छोड़ दिए गए हैं —

1. भामह, काव्यालंकार, 2, 21—22

न पर्यन्तो विकल्पाना रूपकोपमयोरतः।

दिङ्मात्र दर्शित धीरैरनुक्तमनु मीयताम्॥¹

रूपक के एकोनविंशति भेद हैं – समस्त, असमस्त, समस्त-व्यस्त, सकल, अवयव, अवयवी, युक्त, अयुक्त, विषम, सविशेष, विरुद्ध हेतु, शिलष्ट, उपमारूपक, व्यतिरेकिरूपक, आक्षेपरूपक, समाधानरूपक, रूपक रूपक तथा तत्त्वापह्वरूपक।

डॉ० ओम प्रकाश ने इसका विश्लेषण इस प्रकार किया है – समस्त, असमस्त तथा समस्त व्यस्त भेदों का वर्णन एक साथ है। उपमान, उपमेय जहाँ समस्त हो, वहाँ समस्त रूपक है। अगले तीन भेद सकल रूपक, अवयव रूपक तथा अवयवी रूपक है। सकल रूपक में उपमानोपमेय से अग-प्रत्यंगों का अभेद वर्णन होता है। अवयव रूपक में अवयव मात्र का रूपक होता है, पूरे अवयवों का नहीं इसके विपरीत अवयविरूपक में अवयवों का आरोप नहीं होता। युक्त रूपक में अवयवों का अभेद वर्णन करते हुए सम्बन्धसंगति विद्यमान रहती है। अमुक्त रूपक में संगीत विद्यमान नहीं रहती। विषमरूपक में अंगी का अभेद होता है। सविशेष रूपक में विशेषण विशिष्ट पदार्थ का आरोप होता है। विरुद्ध रूपक में उपमेय-उपमान के प्रसिद्ध कार्य न कर विरोधी कार्य करता है। हेतु रूपक में सामान्य धर्म का हेतु रूप में उल्लेख रहता है। साधारण धर्म शिलष्ट हो तो शिलष्ट रूपक बनता है। उपमा रूपक में गौण मुख्य के साधर्म्य की तथा व्यतिरेक रूपक में गौण-मुख्य के वैधर्म्य की प्राप्ति होती है। आक्षेप गर्भित होने से आक्षेप रूपक होता है। रूपमरूपक दोहरा रूपक है। तत्त्वापह्वरूपक में उपमेय का निषेध करके उपमान के साथ अभेद स्थापना होती है।²

1.4.4. उद्भट

उद्भट ने रूपक के चार प्रकारों का उल्लेख किया है – प्रथम दो भेद तो भामह से यथावत् ग्रहण कर लिए हैं – समस्त वस्तु-विषय तथा एकदेशविवर्ती और मालारूपक तथा एकदेशविवर्त। इन्होंने समस्त-वस्तु विषय को मालारूपक कहा है।³

1 दण्डी, काव्यादर्श, 2196

2 डॉ० ओमप्रकाश, अलंकारों का स्वरूप विकास, पृ० 56, 57

3 उद्भट, काव्यलंकार सार स० 1।12, 13

भामह ने 'समस्तविषय वस्तु' का लक्षण नहीं दिया। उद्भट के अनुसार समस्तवस्तुविषय रूपक में रूपता के लिए समस्त अभिमत वस्तुओं का स्वकण्ठ से कथन होता है। 'बन्धस्तस्य यतः श्रुत्या'।

'एकदेशविवर्ती' में कुछ उपमान कथित होते हैं, साथ ही कुछ अर्थाक्षिप्त अथवा गम्य भी होते हैं -- 'यतश्च श्रुत्यर्थाभ्यां तस्य बन्धस्तेन'। राजहंसैरवज्जिन्त शरदैव सरोनृपाः' उदाहरण में राजहंसों का चामरत्व और शरद का नायिकात्व अर्थाक्षिप्त है।

रूपक के अन्य भेदों के विषय में उद्भट का मत है कि 'मालारूपक' भी 'समस्तवस्तुविषय' रूपक है -- 'समस्तवस्तुविषयं मालारूपकमुच्यते'। यदि किसी वर्णन में रूपकों की श्रृंखला हो तो उसे भी 'समस्तवस्तुविषय' माना जाएगा। यह कथन 'मालारूपक' को अलग उपभेद मानने का खडन करता है। रूपक का एक भेद 'एकदेशविवर्ती' माना गया है। उद्भट के अनुसार यद्वैकदेशवृत्ति स्यात्पररूपेण रूपणत् एकदेशवृत्ति पररूप के साथ रूपण से होता है, जहाँ प्रकृत को अप्रकृत का रूप प्रदान किया जाए।

1.4.5 रुद्रट

रुद्रट की रूपक चेतना अधिक व्यापक दिखाई देती है। उन्होंने रूपक के भेदों का निरूपण इस प्रकार किया है --

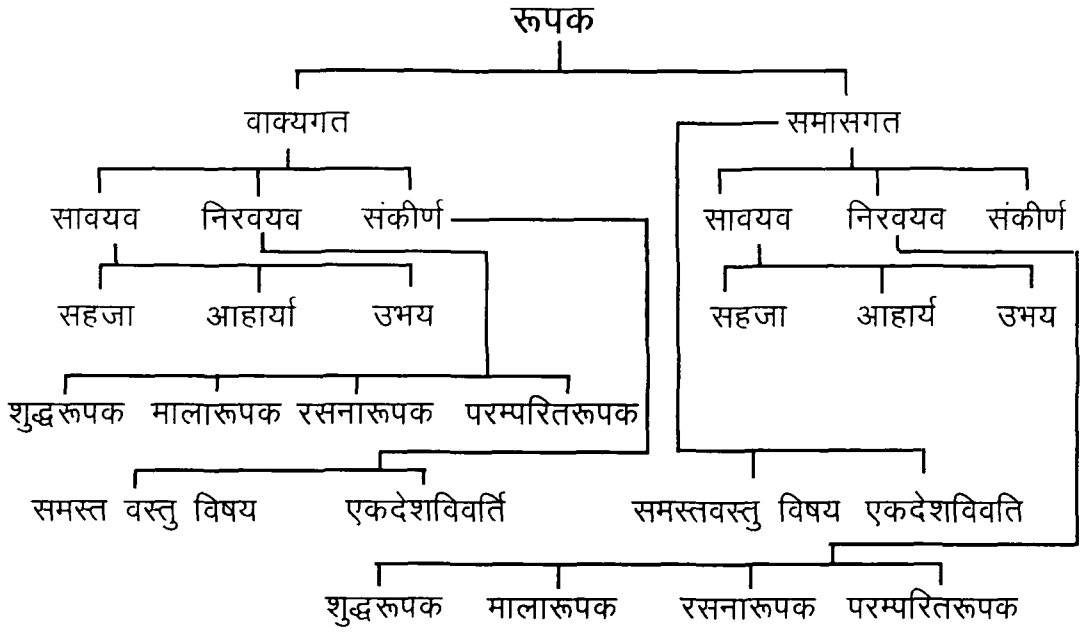
उपसर्जनोपमेय कृत्वा तु समासमतेयोरुययोः।

यत्तु प्रयुज्यते तद्रूपकमन्यत्समासोक्तम् ॥४०॥

सामान्य रूपक भेदद्वयमेतदभिधायेदा नीमेतद्विशेषानाह --

सावयव निरवयवं संकीर्ण चेति भिद्यते भूयः।

द्वयमपि पुनर्द्विधैतत्समस्त विषयैकदेशितया ॥४१॥¹



रुद्रट ने पहले एक ही भेद का उल्लेख किया, जिसे समासोक्त रूपक कहते हैं। पुनः इसके तीन भेद किए गए – सावयव, निरवयव, संकीर्ण। इनमें प्रथम दोनों के दो-दो भेद हुए समस्त विषय एवं एकदेशी। सावयव रूपक के तीन भेद किए गए – सहज, आहार्या, एवं अनाहार्या। निरवयव रूपक चार प्रकार के माने गये हैं – शुद्ध, माला, रसना, परम्परित।

1.4.6 मम्मट

संस्कृत काव्य शास्त्र में मम्मट की दृष्टि तर्क सम्मत रही है। मम्मट ने सर्वप्रथम रूपक के भेदों का परिसीमन एवं वैज्ञानिक रीति से विभाजन किया। इनके वर्गीकरण पर भामह, उद्भट एवं रुद्रट का प्रभाव देखा जा सकता है। प्रथमतः रूपक के तीन भेद किए गए – सांग, निरंग एवं परंपरित। सांग रूपक के दो भेद माने गए – समस्तवस्तु विषयक एवं एकदेशविवर्ति। निरंगरूपक के भी दो उपविभाग हुए – शुद्ध एवं माला रूप। परंपरित के पहले दो भेद किए गए – श्लिष्ट एवं अश्लिष्ट, पुनः प्रत्येक के शुद्ध एवं माला दो भेद होकर चार प्रकार हैं।

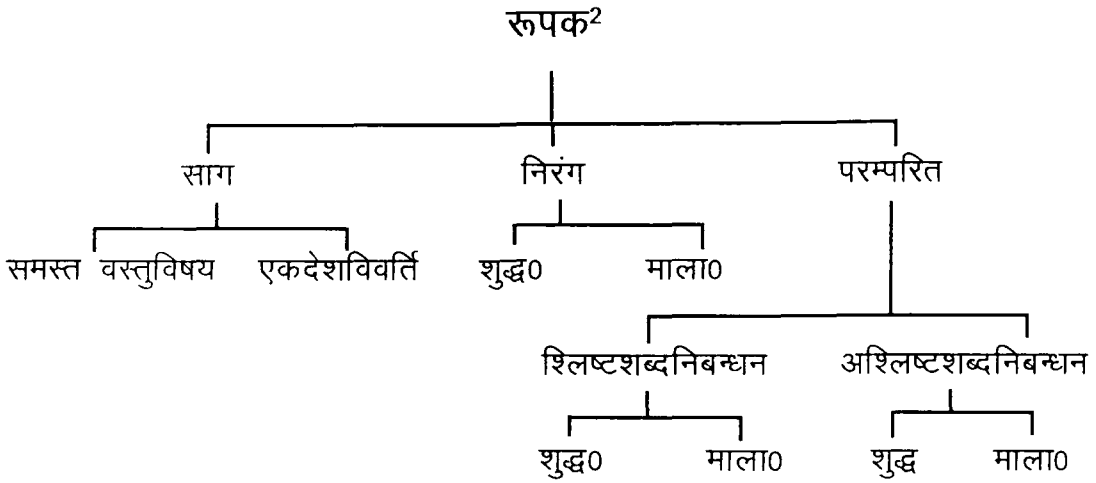
जब आरोप्यमाण अर्थ 'शब्दतःउपात्त' अर्थात् श्रौत हो तो रूपक 'समस्तवस्तुविषय' है; जब कुछ अंश में श्रौत कुछ अंश में आर्थ हो, तो रूपक एकदेशविवर्ती है। यह विभाजन श्रौती

तथा आर्थी उपमा के समानान्तर होते हुए भी किंचित् भिन्न है, और रूपक भेद परम्परा से सयुक्त है। रूपक के पुनः दो भेद हैं — 'सांग' तथा 'निरंग' इनको सावयव निरवयव भी कह सकते हैं। 'मालोपमा' के समान आरोप विषय पर अनेकों का आरोप होने से 'मालारूपक' बनता है।

'परम्परित रूपक' में एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है — आरोप-परम्परा के कारण यह 'परम्परित' है। इसके दो भेद हैं — श्लेषमूलक तथा अश्लेषमूलक।

'परम्परित रूपक' के सम्बन्ध में मम्मट के दो संकेत ध्यान देने योग्य हैं : (क) श्लिष्ट परम्परित रूपक उभयालंकार है।¹

मम्मट का रूपक-विभाग



1.4.7 रूय्यक

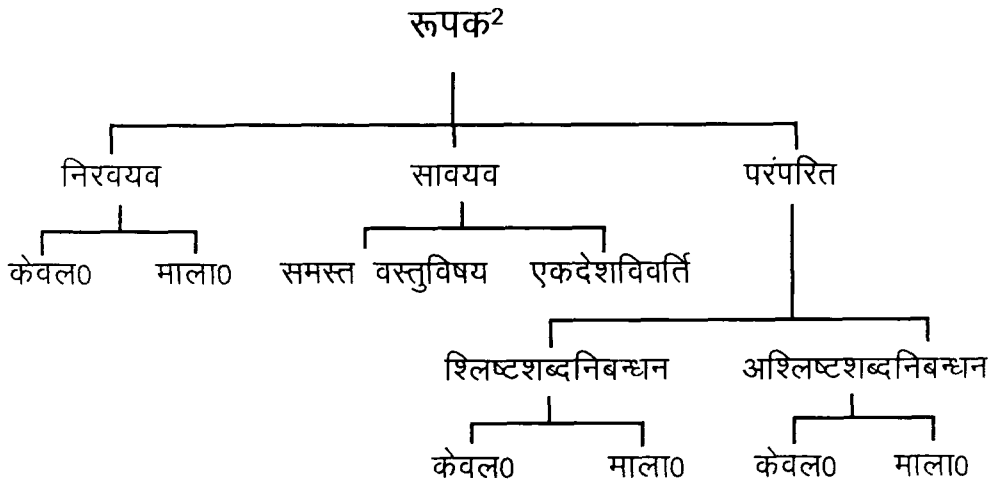
रूय्यक का रूपक भेद निरूपण मम्मट का ही विस्तार है। रूय्यक के रूपक विवेचन पर मम्मट का प्रभाव है। रूय्यक ने मम्मट की भौति अभेद को रूपक का तत्त्व स्वीकार करते

1 डॉ० ओमप्रकाश, अलंकारों का स्वरूप विकास, पृ० 63, 64

2 डा० रामचन्द्र द्विवेदी, अलंकार मीमांसा, पृ० 257

हुए भी नया विचार दिया। इनके लक्षण में अभेद के स्थान पर अभेद-प्राधान्य को महत्व दिया गया तथा अभेद प्राधान्य का सन्निवेश कर भेद की सत्ता भी स्वीकार की गई। इस प्रकार रूय्यक के अनुसार अभेद की प्रधानता होने पर भी यदि आरोप हों और आरोप के विषय का अपहव या निषेध न हो तो वहाँ रूपक होगा। रूय्यक ने अभेद एवं आरोप दोनों ही तत्त्वों का समन्वय कर इन्हें रूपक के लिए आवश्यक माना।¹

रूय्यक का रूपक भेद निरूपण



1.4.8 जयदेव

यस्मिन्नुपमानाभ्यां समस्यमुपमेयमन्यार्थे ।।³

जयदेव ने रूपक के चार भेद किए हैं — सोपाधिरूपक, सादृश्यरूपक, आभासरूपक तथा रूपितरूपक। 'सोपाधिरूपक' वस्तुतः परम्परित का ही नाम है। सामान्य धर्म के उपादान से जहाँ प्रधान आरोप की सिद्धि हो वहाँ सोपाधिरूपक अलंकार होता है। सादृश्य रूपक में सादृश्य पृथक्-पृथक् पदों द्वारा कहा जाता है। यह अन्य आचार्यों का समस्तवस्तुविषय

1. डॉ० ओमप्रकाश, अलंकारों का स्वरूप विकास, पृ० 64

2. डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी, अलंकार मीमांसा, पृ० 258

3. जयदेव, चन्द्रलोक, 8।51

सावयव (सांग) रूपक है। 'आभासरूपक' वस्तुतः निरंग अथवा निरवयव रूपक है। अन्तिम भेद 'रूपितरूपक' है। रूपितेनारोपेणरूपक रूपितरूपकम्। अतः आरोपित पदों का आरोप करने से यह रूपित रूपक है।¹

1.4.9 विश्वनाथ

विश्वनाथ ने रूपक के तीन भेद माने हैं — परंपरित, सांग तथा निरंग। परम्परित के दो उपभेद 'श्लिष्टशब्दनिबन्धन' तथा 'अश्लिष्टनिबन्धन' मम्मट के अनुसार ही है। इन उपभेदों के पुनः उपभेद 'केवल' तथा 'माला' है। इस प्रकार परम्परित रूपक के चार उपभेद हो गये। सांगरूपक के दो उपभेद समस्तवस्तु विषय तथा एकदेशविवर्ती है। केवल अंगी के रूपकत्व में निरंग रूपक है; यह माला तथा केवल दो प्रकार का होता है। इस प्रकार विश्वनाथ ने सब मिलाकर आठ भेद बताए हैं —

विश्वनाथ रूपक में विषय एवं विषयी दोनों के शब्दतः उपादान पर बल देकर उसे अपह्नुनि से पृथक् सिद्ध करते हैं। विश्वनाथ ने रूपक के संबंध में एक नवीन तथ्य पर विचार किया कि इसमें सादृश्य शब्द न होकर व्यंग्य या आर्थ होता है।

रूपकादिषु साम्यस्य व्यंग्यत्वम्।²

इस दृष्टि से रूपक के विवेचन में इन्हें नए तत्त्व का उद्घाटक कहा जा सकता है।

1.4.10 अप्यय दीक्षित

अप्यय दीक्षित ने व कुवलयानंद ने 'चित्रमीमांसा' में रूपक के उन भेदों का वर्णन किया है, जो 'अलंकार सर्वस्व' में स्वीकार किये गये हैं और प्राचीन परम्परा से चले आ रहे थे।

'कुवलयानंद' में दीक्षित जी ने निम्नलिखित भेद बताए हैं — ततश्च रूपकं तावद्विविधम्—अभेदरूपकं, ताद्रूप्यरूपकं चेति। द्विविधमपि प्रत्येक त्रिविधम्। प्रसिद्ध—

1. डॉ० ओमप्रकाश, अलंकारों का स्वरूप विकास, पृ० 64

2. विश्वनाथ, साहित्य दर्पण 10।14 वृत्ति

विषय्याधिक्य वर्णनेन तन्नूननत्ववर्णनेनानुभयोक्तया चैवं रूपकं पडविधम्। 'अयं हि' इत्यादि सार्धलोकेनाभेदरूपकाणि, 'अस्य मुखेन्दुना' इत्यादि। सार्धश्लोकेन ताद्रूप्यरूपकाणि, आदि। क्यन्नूननत्वानु भ्योक्त्युद्देशमप्रातिलोम्यनोदाहतानि। 'येन दग्धा' इति विशेषणेन वर्णनीये राज्ञि प्रसिद्धशिवाभेदानुरजनाच्छिवस्य प्रवविस्थातो। वर्णनीयराज भावास्थाया न्यूनत्वाक्योर वर्ण नाच्चानुभयाभेदरूपकं द्वितीयम्। न्यूनत्ववर्णनमप्यभेददादयीपादकत्वाचमत्कारि। विषमदृष्टित्व परित्यागेन। जगद्रक्षकत्वोक्त्या शिवस्य पूर्ववस्थातो वर्णनीयराज भावावस्थायामुत्कर्ष विभावना- दधिका भेद रूपकं तृतीयम्। एवमुक्तरेषु ताद्रूप्यरूपकोदहारण रोष्वपि कमेणानुभय- न्यूनाधिकभावा उन्नेयाः।¹

'चित्र मीमांसा' में भी रूपक के आठ भेदों का वर्णन है — क. केवल निरवयव, ख. माला निरवयव, ग. समस्त वस्तुविषय सावयव, घ. एकदेशवर्तिनी, ङ. अश्लिष्ट शब्द निबन्धन केवल परम्परित, च. श्लिष्ट शब्द निबन्धन केवल परम्परित, ज. श्लिष्ट शब्द निबन्धन माला परम्परित।²

1.4.11 जगन्नाथ

पण्डित राज जगन्नाथ ने 'रस गंगाधर' में रूपक के आठ भेदों का उल्लेख किया है जो प्राचीन आचार्यों में चले आ रहे थे, 'वाक्यार्थोपमा' के समान पण्डितराज ने 'वाक्यार्थ रूपक' की भी कल्पना की है। एक वाक्य का अर्थ उपमेय हो और उसमें अन्य वाक्य का उपमान रूप अर्थ आरोपित किया जाए तो 'वाक्यार्थरूपक' होता है।³

रूपक के उपर्युक्त तात्त्विक विवेचन और भेद निरूपण के पश्चात् अब हम इस स्थिति में हैं कि काव्य रूपक के स्वरूप का रेखांकन कर सकें। रूपक का यह स्वरूप ही हमारे शोध विषय का मूलाधार होगा। इसी के आधार पर कबीर और दादू के रूपकों की अर्थव्यंजना स्पष्ट हो सकेगी।

1. अप्पय्य दीक्षित, कुवल्लयानन्द, पृ० 16-17

2. अप्पय्य दीक्षित, चित्र मीमांसा, पृ० 181

3. जगन्नाथ, रस गंगाधर, भाग-2, पृ० 228

1.5 रूपक—स्वरूप विवेचन

रूपक के अन्तर्गत प्रस्तुत के साथ ऐसे अप्रस्तुत को उपस्थित किया जाता है जो भाव या कल्पना पर आधारित है। प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत का जुटाना ही अलंकारका मुख्य तत्त्व है क्योंकि सत्यानुभूति किसी वस्तु के दर्शन से ही जगती है। उस वस्तु से उद्भूत सम्यक् प्रतीत को किसी पूर्वानुभूत सत्य के मेल में रखकर फिर मिलाता है जिससे कि तत्काल प्राप्त सम्य की पुष्टि हो इसीलिए यह अप्रस्तुत योजनाया रूपक चेतना हमारे दैनिक जीवन में भी चलती है।

रूपक विधान में उपमेय व उपमान दोनों एक दूसरे के अभिन्न सहयोगी हैं, एक के अभाव में दूसरा अस्तित्वहीन है। एक शरीर है तो दूसरा प्राण है, परन्तु शरीर में प्राण का रहना तभी संभव होता है जब हृदय एवं उसके सहयोगी तत्त्वों का पूर्ण सहयोग होता है अतः रूपक के निर्माण में उपमेय उपमान के अतिरिक्त उसके सादृश्य का आधार साधारण धर्म तथा सहयोगी तत्त्वों के रूप में वाचक भी है। यद्यपि वह आवश्यक नहीं है कि सदैव इसके चारों अंगों का एक साथ ही दिग्दर्शन हो तभी रूपक योजना हो, किन्हीं अंगों के अभाव में भी रूपक योजना हो सकती; अतः यही कहना उचित है कि रूपक योजना का स्वरूप निर्माण निम्नांकित चारों अंगों के संयोजन से ही हुआ है — उपमेय, उपमान साधारण धर्म, वाचक शब्द।

प्रस्तुत अंगों के अंकन से रेखाओं के आधार पर तो रूपक योजना का स्वरूप सामने आ गया परन्तु ये आपस में किस प्रकार भावात्मक रूप से सम्बन्धित है यह जानना भी आवश्यक है। वास्तव में कवि उपमेय अथवा वस्तु का मूर्त अथवा अमूर्त भाव सुन्दर बनाकर समझाने के हेतु सादृश्य अथवा साधारण धर्म के आधार पर बाहरी तत्त्वों को ला बिठाता है जिसे दूसरे शब्दों में उपमान कहते हैं।

इन सभी अंगों में 'उपमान' ही रूपक का प्राणतत्त्व है। उपमान के स्वरूप पर विचार करके ही रूपक के स्वरूप को समझा जा सकता है।

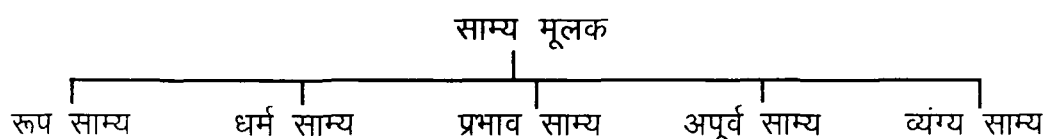
1.6 उपमान : शास्त्रीय स्वरूप विवेचन

उपमान वास्तव में काव्य सौन्दर्य का सशक्त माध्यम है। उपमान से तात्पर्य है प्रस्तुत की समता के आरोप का वह बाह्य संकेतक जो अप्रस्तुत रहते हुए भी प्रस्तुत की विशेषताओं से तुलनीय समझा जाता है अथवा जिसकी तुलना से प्रस्तुत की विशेषताओं को उद्घाटित किया जाता है।

उपमान प्रधानतः साम्य पर आधारित रहता है और यह साम्य मुख्यतः तीन प्रकार का होता है — क. रूप साम्य (सादृश्य), ख. धर्म साम्य (साधर्म्य), ग. प्रभाव साम्य।

मनमोहन गौतम¹ का वर्गीकरण अत्यन्त स्पष्ट और व्यापक है —

उपमान योजना



1.6.1 साम्य मूलक उपमान

इसमें प्रस्तुत के रमणीय बनाने तथा श्रोता के हृदय में चमत्कारिक भावना का उदय करने के हेतु ही समान आकार प्रकार रूप वाले उपमान को ग्रहण किया जाता है।

1.6.2 धर्म साम्य मूलक उपमान

इसमें उपमेय व उपमान का सादृश्य धर्म अथवा गुणों के आधार पर होता है। यथा—

कलि का स्वामी लोभिया पीतलि धरी खटाइ।

राज दुवारा यौं फिरै, ज्यौं हरिहाई गाई॥6॥²

1 मनमोहन गौतम, सूर की काव्य कला, पृ० 153

2 कबीर ग्रन्थावली, चाणक कौ अग, पृ० 31

1.6.3 प्रभाव साम्य मूलक उपमान

सादृश्य के आधार पर जब उपमानों में रूप, रंग, गुण आदि पर साम्य नहीं स्थापित होता तब प्रभाव साम्य देखा जाता है — कबीर ने रूप साम्य, धर्म साम्य व प्रभाव साम्य के बिना अपूर्व कल्पना से अपूर्व साम्य से सादृश्य स्थापित कर अपूर्व साम्य वाले अप्रस्तुतों का प्रयोग किया है।

1.6.4 अपूर्व साम्य मूलक उपमान

काया कस कमाण ज्यु पचतत करिवाण।

मारौ तौ मन मृग कौ, नहीं तो मिथ्या जाण॥¹

इसमें 'काया' और 'कमाण' में दोनों धर्म, गुण किसी की समानता न होने पर भी कल्पना के माध्यम से अपूर्व साम्य स्थापित किया गया है।

1.6.5 व्यंग्य मूलक उपमान

सादृश्य के आधार पर उपमान का प्रयोग व्यंग्य साम्य पर होता है इसका उद्देश्य उपमान द्वारा उपमेय की अनुभूति की व्यंजना द्वारा स्पष्टीकरण है।

1.6.6 अतिशय मूलक उपमान

बात को बढा-चढाकर सुन्दर ढंग से कहा जाता है।

लेखिनि कस करंक की, लिखित लिखि नाप॥²

1.6.7 विरोध मूलक उपमान

इसमें सादृश्य के आधार पर उपमानों का प्रयोग न होकर वैषम्य के आधार पर होता है।

“कौतिक दीठा देह बिन, रवि ससि बिना उजास।

साहिब लेखा माहि है, बेपरवाही दास॥

1 कबीर ग्रथावली, मन कौ अग, सा० 30

2. कबीर ग्रथावली, परचा कौ अग, सा० 2

इसमें विरोधी उपमान होने पर भी उपमेय की विलक्षणता स्पष्ट है।

उपमान की महत्ता को स्पष्ट करने के लिए पण्डित रामदहिन मिश्र का उपमान विवेचन प्रस्तुत है। जिससे रूपक की शास्त्रीय व्याख्या और स्पष्ट रूप में सामने आ सकेगी —

उपमान (अप्रस्तुत) योजना के जाति, गुण, द्रव्य, क्रिया, शक्ति और स्वभाव के भेद से अनेक भेद होते हैं। कहीं कहीं जाति द्रव्य के एक व दो तीन व सभी के योग से इसमें वैचित्र्य लक्षित है। पर जहाँ जाति-जाति का ऐसे ही गुण-गुण, द्रव्य-द्रव्य आदि का योग होता है अर्थात् उपमानोपमेय के भाव से कविता का स्वास्थ्य बढ़ जाता है।

उक्त उद्धरण के आधार पर संक्षेप में उपमान अथवा अप्रस्तुत के निम्नलिखित प्रकार बताए हैं —

1.6.8 जाति के आधार पर उपमान

एक जाति वाले उपमान से तात्पर्य है कि एक ही जाति अथवा लिंग के आधार पर अप्रस्तुत का होना यथा ... स्वर्ण परी सी रश्मि भी में इसमें उपमेय रश्मि तथा उपमान स्वर्ण परी की लिंग अथवा जाति स्त्री की है और वचन की भी समानता है।

1.6.9 गुण के आधार पर उपमान

इसमें उपमेय व उपमान दोनों का संयोग एक ही गुण के आधार पर होता है जैसे — 'हिमराशि की शीतल फैली शुभ चन्द्रिका' इसमें प्रस्तुत चन्द्रिका का अप्रस्तुत हिमराशि दोनों का गुण शीतलता एक ही है।

1.6.10 द्रव्य के आधार पर उपमान

इसमें द्रव्य के आधार पर उपमेय व उपमान का चयन होता है यथा नयनों से आंसू छलके मानों निर्झरणी मचली।' इसमें आंसू उपमेय व निर्झरणी उपमान दोनों ही जलद्रव्य हैं तथा लिंग भी एक है। इस सादृश्य के द्वारा ही सहज में भाव स्पष्ट हो जाता है।

1.6.11 स्वभाव के आधार पर उपमान

स्वभाव के सादृश्य के आधार पर भी उपमान की योजना होती है — “सागर सी गम्भीर धीर वह।” इसमें उपमेय व उपमान दोनों के स्वभाव की विशेषता धीरता, गम्भीरता का सादृश्य है।

उपरोक्त प्रकार के बाद उपमान के विस्तृत भेदों की व्याख्या इस प्रकार है —

1.6.12 सामयिक उपमान

सामयिक उपमान वह है जिसका स्थिति एवं वातावरण के अनुसार कवि अपनी रचनाओं में लाता है। यथा — बैठी फिर पूतरी अनूतरी फिरंग कैसी।¹

1.6.13 असुन्दर उपमान

उपमान सदैव सुन्दर ही होने चाहिए। परन्तु यथार्थवादी कवि यथार्थ के चित्रण में कभी-कभी उपमानों का प्रयोग कर जाते हैं जो सुन्दर न कहला कर असुन्दर कहलाते हैं।¹

1.6.14 विशेष्य विशेषणमूलक उपमान

ये विशेषण होते हुए उपमान का काम देते हैं। जैसे — ‘इन्द्रधनुषी उपवन’ में इन्द्रधनुषी शब्द से ऐसे उपवन का बोध होता है जो इन्द्रधनुष वाले सात रंगों के फूलों से युक्त उपवन हो। इस प्रकार इन्द्रधनुषी शब्द अप्रस्तुत रूप में विशेषण होते हुए भी उपमान है।²

1.6.15 प्रतीकात्मक उपमान

ये वे उपमान हैं जो किसी भाव या वस्तु के प्रतीक बनकर आते हैं।

1.6.17 लाक्षणिक उपमान

यह वह उपमान है जो लक्षण शब्द शक्ति से सम्बन्धित होते हैं।

1.6.17 विशेषण विपर्यात्मक उपमान

ऐसे विशेषण रूप में आए हुए उपमान जिनको विशेष्य के साथ अनुचित स्थान में जोड़ दिया जाता है।

1.6.18 विरोधात्मक विशेषण मूलक उपमान

ये ऐसे उपमान हैं जो अन्तर से विरोधी न होकर मार्मिकता के सूचक बन जाते हैं।

1.6.19 भाववर्धक उपमान

यह वह उपमान है जिसमें भाव चित्र को प्रस्तुत करने में रंगों का आधार लिया जाता है तथा कई रंगों के मिश्रण से एक चित्र निर्मित होता है। जिससे भावों का वर्द्धन होता है।

1.6.20 भावापकर्षक उपमान

भाववर्द्धक उपमान के विरुद्ध भावापकर्षक उपमान भी होते हैं जिसके प्रयोग से भावापकर्ष होता है।

1.6.21 प्रच्छन्न उपमान

कवि के अनजाने ही उसकी रचना में अपना स्थान बना लेने वाले प्रच्छन्न उपमान होते हैं जैसे – 'जय प्रकाश' अर्थात् जो प्रकाश के घेरे में घिरा नहीं रह सकता कवि के अनुसार उसी प्रकाश के समान 'जयप्रकाश नारायण' समाजवादी नेता हैं। यह उपमा है। 'जयप्रकाश' के प्रकाश को लेकर जो उपमान योजना की गई है वह प्रच्छन्न है।

1.6.22 आभ्यन्तर उपमान

इसके द्वारा कभी-कभी बाह्य वस्तुओं की सादृश्य भावना के हेतु भावों, मनोव्यापारों की ओर संकेत किया जाता है। जैसे – गिरवर के उर उर से उठ उठकर उच्चकांक्षाओं से तरुवर।

इस पंक्ति में उच्च और उर ऐसे शब्द हैं जिससे अन्तर-साम्य की ओर सहज ही दृष्टि चली जाती है। पहाड से निकले आकाश छूने वाले इन तरुवरों के लिए यह साम्य अनुपम है।

1.6.23 महनीय उपमान

जो उपमान स्वरूप के साम्य एवं हृदय की भावनाओं का स्पष्ट अंकन करते हैं उन्हें ही महनीय उपमान की संज्ञा दी गई है।

1.6.24 एकांगी उपमान

इन उपमानों में एक ही गुण को लेकर उपमेय में साम्य स्थापन किया जाता है।

1.6.25 जटिल उपमान

कुछ उपमान इतने जटिल होते हैं कि इसे पाठक सहज रूप में ग्रहण नहीं कर पाते हैं।

1.6.26 मूर्त से मूर्त का उपमान

इसमें उपमेय वस्तु का उपमान वस्तु ही होती है तथा मूर्त उपमेय का उपमान भी मूर्त होता है जैसे – “झिलमिल करते गरिमा पाकर, अन्तर के दृग दीपक मेरे।”

इसमें दृग उपमेय का उपमान दीपक दोनों की ही तेल तथा आंसू के आधार पर द्रव्य की समानता है।

1.6.27 अमूर्त से अमूर्त का उपमान

इसमें अमूर्त उपमेय का अमूर्त ही उपमान भी होता है यथा – “नव आशा सी फैल रही थी उस तटिनी की शोभा।” यहाँ आशा और शोभा उपमेय दोनों ही अमूर्त हैं।

1.6.28 मूर्त से अमूर्त का उपमान

इसमें वे उपमान होते हैं जिनका उपमेय मूर्त रूप होता है जैसे – “प्रातः की नव सुषमा सी, तुम आई जीवन में मेरे”। इसमें मूर्त रूप उपमेय नायिका का सर्वनाम ‘तुम’ का उपमान अमूर्त रूप प्रातः की ‘नव सुषमा’ है।

1.6.29 अमूर्त से मूर्त का उपमान

इसमें वे उपमान आते हैं जिसका स्वयं का रूप मूर्त होता है परन्तु उपमेय अमूर्त रूप होता है जैसे – “सागर सी असीम, हिमालय से ऊँची कल्पना भावना”। इसमें ‘कल्पना’, ‘भावना’ अमूर्त उपमेय का ‘सागर’ एवं ‘हिमालय’ मूर्त रूप उपमान है।

1.6.30 मूर्तामूर्त रूप उपमान

ये उपमान वे हैं जो मूर्त अमूर्त दोनों आते हैं जैसे – “लोल लहर सी चंचल बाला, मधुक्रतु की मधुमय पीड़ा।” इसमें मूर्त रूप उपमेय ‘चंचल बाला’ का उपमान मूर्त ‘लोल लहर’ एवं अमूर्त रूप मधुमय पीड़ा है।¹

उपमान के आधार पर रूपक की स्वरूप व्यंजना के पश्चात् काव्य सन्दर्भ में रूपक के स्वरूप को समझना होगा।

काव्य के सौन्दर्यानुभूति के लिए उसके दोनों पक्षों भाव पक्ष एवं कला पक्ष के संदर्भ में रूपक तत्त्व का विवेचन करना होगा जो काव्य के शृंगार सौन्दर्य का मूल साधन है एवं उसके दोनों पक्षों से गूढ़ रूप से सम्बन्धित है।

1.7 रूपक का भाव पक्ष

सन्त काव्य की रूपक योजना का सम्यक् विवेचन भावपक्ष के अन्तर्गत आने वाले आधारभूत तथ्यों यथा अ. औचित्य विचार, ब. यथार्थबोध, स. व्यंजकता, द. मार्मिकता, य. माधुर्य तथा र. प्रभाव साम्य के अनुसार निम्नलिखित विचार क्रम समीचीन होगा।

1.7.1 औचित्य विचार

काव्य वस्तुतः चिर नवीन कला है जो रस सिक्त गर्मियों द्वारा हमारे हृदय सागर को आलोकित कर ब्रह्मनन्द का ज्ञान कराता हुआ आध्यात्मिक जगत में खींच ले जाता है। काव्य कैसा भी हो किन्तु उसकी आधारशिला लौकिक व्यवहारों एवं संस्कारों से ही निर्मित होती है। जगत्-व्यवहार के नियमों को आदर्श का पुट देने के लिए औचित्य का ही सहयोग सम्भव होता है। किसी भी काव्य की रूपक योजना में उपमेय एवं उपमान का गुण, जाति, द्रव्य, क्रिया, शक्ति एवं स्वभाव के आधार पर स्थापित सम्बन्ध के मूल में उचित साम्य पर विचार करने को ही औचित्य विचार कहा जा सकता है।

1. पं० रामदहिन मिश्र, काव्य में अप्रस्तुत योजना, पृ० 112, 113, 125

श्री क्षेमेन्द्र जी की निम्नलिखित कारिका इसे पूर्णतः स्पष्ट कर देती है -

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।

उचितस्य च यो भावः, तदौचित्यं प्रचक्षेत।।¹

अर्थात् उचित का जो भाव है वह औचित्य कहलाता है। जो वस्तु जिसके सदृश हो, जिससे उसका मेल मिले उसे कहते हैं उचित का ही भाव होता है औचित्य।

वास्तव में भावना हो या विचार या कर्म, उसका उचित स्थान ही श्रेष्ठ मान्य है, अतएव काव्य में औचित्य द्वारा ही काव्य एवं कवि की श्रेष्ठता एवं कुशलता का निर्धारण किया जा सकता है।

पंडित रामदहिन मिश्र ने काव्य में औचित्य के स्थान एवं आवश्यकता के महत्त्व पर लिखा है कि -

रूपक योजना में उपमेय एवं उपमान के व्यापार में कितना औचित्य है। जितना ही अधिक औचित्य होगा उतना ही उसका साम्य समर्थ होगा और कवि कौशल प्रकट होगा। औचित्य काव्य कलेवर का एक अनुपम अंग है।²

अभिप्राय यह है कि काव्य कला का नैपुण्य एवं परिपक्वता भाषा के सभी अंगों के औचित्य पर ही निर्भर है।

1.7.2 यथार्थ बोध

‘यथार्थ’ और ‘बोध’ का अर्थ है वास्तविक ज्ञान या सत्य ग्रहण, प्रस्तुत प्रसंग में इसका अभिप्राय काव्य में ऐसी रूपक योजना से है जिसे कवि के हृदय की अभिव्यक्ति का उसी रूप में पूरा-पूरा ज्ञान भी हो जाए और रूपक तत्त्व के सहारे उसके विचारों से यथार्थ रूप में तादात्म्य भी स्थापित हो जाए। कोई भी श्रेष्ठ कवि यथार्थ अभिव्यक्ति द्वारा ही अपने साहित्य को विश्वजनीन बना सकता है।

1. आचार्य क्षेमेन्द्र, औचित्य विचार चर्चा, कारिका-71

2. पं० रामदहिन मिश्र, काव्य में अप्रस्तुत योजना, पृ० 80

जब कवि के अन्तःकरण में संचित वस्तुजगत के यथार्थ ज्ञान से भावजगत के अनुभव का तादात्म्य हो जाए तभी काव्यगत यथार्थबोध संभव होता है। वस्तु और भाव के बीच एकता और समरूपता का माध्यम बनती है रूपक योजना जिसकी औचित्यपूर्ण संगति पर ही भावानुमोदित वस्तु का सामान्यीकरण तथा प्रत्यक्षीकरण होता है। वस्तु-सत्य से भावसत्य के तादात्म्य तथा अनुमोदन द्वारा उसकी काव्यगत सम्प्रेषणीयता तथा साधारणीकरण का सम्मिलित रसोद्रेकत्व का अनुभव भी भावरूप में ही होता है परन्तु उसकी पुष्टि का आधार जागतिक वास्तविकता ही होती है। इसीलिए यथार्थबोध वस्तु सत्य पुष्ट भावसत्य के काव्यगत साक्षात्कार का अनुभव ही कहा जाएगा। मानव सांसारिक यथार्थ रूपी जिन अनुभवों का प्रत्यक्षीकरण किए रहता है उसी अनुभवों का तादात्म्य पहले-पहले कवि अपने अन्तःकरण के भावरूपों से करता है फिर उसे दूसरों को कराता है। रूपक के अन्तर्गत आने वाले उपमेय व उपमान का सम्बन्ध जब व्यापार-स्वरूप एवं भावसाम्य पर आधारित होता है तभी उसकी यथार्थता प्रकट हो सकती है।

कवि अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए रूपक अलंकार के सहारे प्रस्तुत तत्त्व का अप्रस्तुत तत्त्व से जितना अधिक साम्य स्थापित करता है तथा पाठक के हृदय में उस भाव को उसी रूप में उदय करने में जितना अधिक समर्थ होता है उतनी ही यथार्थता उसकी रूपक-योजना में सम्भव होती है, अर्थात् भाव के अनुरूप होने वाली रूपक योजना में यथार्थबोध होता है।

श्री रामदहिन मिश्र का कथन है कि जहाँ केवल आकार, रूप, गुण, क्रिया आदि की न्यूनता या अधिकता को ही तीव्र करना होता है, वहाँ ऐसी साम्य योजना की जा सकती है फिर भी काव्योपयुक्तता का ध्यान रखना आवश्यक है। अप्रस्तुत योजना की यथार्थता इन्हीं बातों में है।¹

1.7.3 भाव व्यंजकता

किसी भी काव्य की श्रेष्ठता एवं कर्म की कुशलता उस काव्य में भाव व्यंजकता पर ही आधारित होती है। विशेषतः रूपक योजना का तो मुख्य उद्देश्य ही काव्य में सौन्दर्य वृद्धि

1. पं० रामदहिन मिश्र, काव्य में अप्रस्तुत योजना, पृ० 94

के हेतु भाव व्यंजकता द्वारा भाव वर्द्धन करना है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि किसी भी काव्य की रूपक योजना की सफलता भाव व्यंजकता पर ही निर्भर होती है।

1.7.4 मार्मिकता

काव्य में रूपक योजना का सौन्दर्य वस्तुतः भाव व्यंजकता एवं मार्मिकता से ओत-प्रोत उस शक्ति द्वारा ही सम्भव होता है जो सादृश्य, साधर्म्य एवं प्रभाव साम्य के औचित्य पर निर्भर हो। परिणामतः जिस रूपक योजना में अप्रस्तुत एवं प्रस्तुत तत्त्वों में साधर्म्य, सादृश्य एवं प्रभाव साम्य का जितना यथार्थपूर्ण तथा भाववर्द्धक व्यापार सम्बन्ध होगा रूपक योजना की मार्मिकता उतनी ही सजीव होगी।

1.7.5 माधुर्य

‘माधुर्य’ शब्द स्वतः कर्णेन्द्रियों को कितना प्रिय लगता है। वास्तव में किसी काव्य का आकर्षण उसका माधुर्य ही है जो स्वभावतः सहृदयों के हृदय उद्गार के रूप में निकलकर शब्दों के बन्धन में बंधकर काव्य की संज्ञा पाता है। माधुर्य से एक प्रकार के गुण का बोध होता है जो सरस उक्तियों में पाया जाता है।

1.7.6 प्रभाव साम्य

जब रूपक योजना रूप रंग आकार के अतिरिक्त उपमेय व उपमान के उचित भाव साम्य पर आधारित होती है, तभी श्रेष्ठ काव्य का अंग बनती है तथा सबल भाव व्यंजना से पूर्ण होती है।

प्रभाव साम्य के लिए आवश्यक नहीं है कि वस्तु के प्रत्येक कार्य या गुण का पूर्णतः साम्य हो। सादृश्य एवं साधर्म्य के संकेत व सूत मात्र से भी भाव-वृद्धि हो तो पूरा आरोप अनावश्यक है। यदि सादृश्य एवं साधर्म्य प्रभाव विस्तारक नहीं हो तो वह उपमान निर्जीव है। रूपक योजना में प्रभाव की क्षमता उपेक्षणीय नहीं है।¹

1. डॉ० मनमोहन गौतम, सूर की काव्य कला, पृ० 158-154

उपरोक्त पंक्तियों में प्रभाव साम्य की महत्ता स्पष्ट है। परन्तु डॉ० मनमोहन गौतम के उद्धरण में प्रभाव साम्य एवं उसके अभिन्न तत्त्व भी पूर्णरूपेण प्रकाश में आ जाते हैं – “प्रभाव-साम्य, धर्म साम्य का अगला चरण है, इसमें सादृश्य तो होता नहीं अपितु लक्षणा के आधार पर टिका हुआ साधर्म्य अन्तिम प्रभाव की ओर लक्ष्य रखता है। इससे अनुभूति अधिक स्पष्ट हो जाती है।

प्रभाव साम्य अभिव्यक्ति की सफल शैली है तथा रूपक योजना की सशक्त, सजीव रमणीयता एवं मार्मिकता का सृजन बिन्दु है।

अतः स्पष्ट है कि संतों ने अधिकांशतः प्रभाव साम्य एवं फल-साम्य पर आधारित रूपक योजना की है।

1.8 रूपक का कला पक्ष

भावपक्ष की दृष्टि से रूपक योजना पर विचार करने के पश्चात् कलापक्ष की दृष्टि से रूपक का विवेचन प्रस्तुत है।

काव्य का कलापक्ष इन्द्रिय संवेद्य बिम्बों को प्रत्यक्ष रूप से खड़ा करने में समर्थ होता है। भाव-पक्ष अनुभूति से सम्बन्धित होते हैं जबकि कलापक्ष बिम्ब एवं चित्र से।

1. कल्पना
2. रमणीयता
3. अभिनव प्रयोग तथा सामाजिक दृष्टि।

1.8.1 कल्पना की दृष्टि से

भावनाओं की अभिव्यक्ति मनुष्य की मूल मनोवृत्ति है वह अपनी कल्पना की सहायता से सृष्टि की अनेक सम्भावनाओं और रूपों का चिन्तन करता और उन्हें भाषा के माध्यम से व्यक्त करने की चेष्टा करता है। संसार के जड़ एवं चेतन पदार्थ उसके हृदय पर प्रभाव डालते हैं और उसकी कल्पना को झकझोरते हैं।

‘कल्पना’ का आधार तत्त्व मन की अनुभूति है। मन की अनुभूति के अनुरूप ही कल्पना की दिशा और कविता की वृत्ति होती है यही कारण है कि जिस युग में जैसा वातावरण रहा, कल्पना का काव्य पर वैसा ही रंग चढ़ा। कल्पना का सबसे अधिक प्रभाव काव्य के रूपक—तत्त्व या अप्रस्तुत विधानों पर पड़ता है।

1.8.2 रमणीयता

रमणीयता का सामान्य अर्थ है सुन्दरता। काव्य के अनुरंजनकारी तत्त्वों और लालित्य—बोध के कई रूप तथा स्तर होते हैं किन्तु मन की गहन अनुभूतियों और रागात्मक वृत्तियों के अनुसार कल्पना द्वारा शब्द प्रतीकों का संयोजन करते समय समर्थ कवि का सारा ध्यान काव्यगत रमणीयता और लालित्य पर रहता है। रमणीयता के कई स्तर हैं, जैसे रसगत रमणीयता, भाषागत रमणीयता तथा अलंकारगत रमणीयता।

रूपक के अन्तर्गत उपमानों के द्वारा ही भाववर्द्धक एवं भावाभिव्यंजना का उचित रूप सामने आता है जो पाठक की हृदयगत भावनाओं से साधारणीकरण स्थापित करके उसे आकर्षित कर लेता है। भक्तिकाल की रचनाओं में इसका सशक्त रूप मिलता है। काव्यगत रमणीयता के प्रतिपादक तत्त्वों में रूपक का विशेष महत्त्व है।

उपमानों की सरसता, सहजता, लालित्य एवं विलक्षणता का सम्पूर्ण सम्भार उपमेय के गुण धर्म की संगति में होने पर काव्य में रमणीयता का संचार कराने में सहायक होता है। रूपक—योजना में रमणीयता तभी आती है जबकि उसके उपमान ललित एवं आकर्षक हो।

विद्वानों ने दस प्रकार की रमणीयता बतायी हैं यथा — आचरित रमणीय, विचारमय रमणीयता, अर्थगत रमणीयता, शब्दार्थो्भयगत रमणीयता, अलंकारगत रमणीयता, रसगत रमणीयता, रसालंकारी उभयगत रमणीयता।

1.8.3 अभिनव प्रयोग

यहाँ अभिनय प्रयोग से तात्पर्य सर्वथा नवीन तथा मौलिक प्रयोग से है। अभिनव उपमानों के सहारे अपूर्व अप्रस्तुत—योजना ही काव्य में मौलिकता का आवश्यक तत्त्व है।

अलकारो के माध्यम से विचित्र कल्पना का सहारा लेकर अभूतपूर्व ताजे और विलक्षण उपमानों का उपयोग होता है वहाँ काव्य में मौलिक प्रयोग की छटा दीख पड़ती है।

1.8.4 सामाजिक दृष्टिकोण

हर कवि अपने युग की सामाजिक धार्मिक स्थितियों के अनुरूप ही काव्य का सृजन करता है। सतो का मुख्य उद्देश्य ही समाज-सुधार एवं समाज के बने हुए कुष्ठ रोग धार्मिक कर्मकाण्डों का खण्डन करना था अतः उनकी रूपक योजना में सामाजिक दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से झलकता है भले ही आधार आध्यात्मिक हो परन्तु प्रत्यक्ष रूप में उसके उपमान समाज से ही ग्रहण किए गए हैं।

कोशो व समस्त सस्कृताचार्यों के भेदोपभेद के विस्तृत विवेचन स्पष्ट है कि प्रारम्भ में रूपक के भेदों का विस्तार नहीं था किन्तु भामह, दण्डी आदि ने आगे चलकर इसकी संख्या बढ़ाई।

भामह ने सर्वप्रथम रूपक के भेदों का उल्लेख किया। रूपक दो प्रकार का है – ‘समस्तवस्तुविषय’ तथा ‘एकदेशविवर्ती’। ये भेद उत्तर आचार्यों ने भी स्वीकार किए हैं। उद्भट ने इन दोनों भेदों की व्याख्या की है और एक तीसरा भेद ‘एकदेशवृत्ति’ भी माना है। यह आगे चलकर ‘परम्परित’ नाम से प्रसिद्ध हुआ।

‘दण्डी’ ने रूपक के अनेक भेदों का वर्णन किया है। जिनके कुछ आधार थे, एक आधार समास था, जिसको मानकर रूपक ‘समस्त’, ‘असमस्त’ तथा ‘समस्त-व्यस्त’ है। दूसरा आधार अवयव है जिससे रूपक ‘सकल’, ‘अवयव’ तथा ‘अवयवी’ बनता है। तीसरा आधार सम्बन्ध-संगति ‘युक्त’ तथा ‘अयुक्त’ रूपक का कारण है। इसी प्रकार अन्य आधारों पर अन्य भेद हैं।

रुद्रट ने भी रूपक के अनेक भेद बताए हैं जिनमें से सावयव, निरवयव, माला, रशना, परम्परित आगे भी चले।

मम्मट तथा रूय्यक ने रूपक के आठ भेदों पर मुहर लगा दी, जिनको 'चित्रमीमांसा' में 'एवमष्टौ भेदा रूपकालंकारस्य प्राचीनैः प्रदर्शिताः' कहा गया है। ये भेद रूपक के मुख्य तीन भेद निरवयव, सावयव तथा परम्परित, निरवयव के उपभेद 'केवल' तथा 'माला', सावयव के 'समस्तवस्तुविषय' तथा 'एकदेशविवर्ती', एवं परम्परित के 'शिल्पशब्द निबन्धन' तथा 'भिन्न शब्द निबन्धन' है।

रुद्रट ने पहले एक भेद व बाद में इसके तीन भेद किए — सावयव, निरवयव तथा संकीर्ण। इनमें प्रथम दोनों के दो-दो भेद हुए — समस्त विषय एवं एकदेशी। सावयव रूपक के तीन भेद किए गए — सहज, आहार्य एवं अनाहार्य। निरवयव रूपक चार प्रकार का माना गया — शुद्ध, माला, रशना, परम्परित।

कुछ आचार्यों ने किसी नवीन आधार पर रूपक का नवीन विभाजन प्रस्तुत किया है। जयदेव के अनुसार रूपक के चार भेद हैं — 'सोपाधिक' जो परम्परित का पर्याय लगता है, 'सादृश्यरूपक' जो समस्तवस्तुविषय सावयव (सांग) रूपक है।

'आभास रूपक' जो निरंग अथवा निरवयव ठहरता है तथा 'रूपितरूपक' जो नया चमत्कार है, 'विश्वनाथ' ने 'अधिकारूढ वैशिष्ट्य' रूपक की चर्चा की है जो दण्डी का व्यतिरेक रूपक है। कुवलयानन्द में रूपक के दो भेद हैं — अभेद तथा ताद्वरूप और प्रत्येक के अधिक न्यून तथा अनुभूत उपभेद हैं।

जगन्नाथ ने मम्मट कृत भेदों के अतिरिक्त अन्य प्रकारों का भी निर्देश किया है। वाक्यार्थोपमा के समान वाक्यार्थ रूपक की कल्पना की है।

रूपक की शास्त्रीय व्याख्या में उसके स्वरूप महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता विशेषकर उपमान के सन्दर्भ में। उपमान के अनेकानेक भेद हैं यथा — साम्यमूलक उपमान, धर्म साम्य मूलक उपमान, प्रभाव साम्य, अपूर्व साम्य मूलक, व्यंग्यमूलक, अतिशयमूलक, विरोध मूलक, जातिमूलक द्रव्य, स्वभाव के आधार पर उपमान, सामयिक उपमान, असुन्दर

उपमान, विशेषणविशेष्यमूलक उपमान, प्रतीकात्मक उपमान, लाक्षणिक उपमान, विशेषण विर्पयात्मक उपमान, विरोधात्मक विशेषण उपमान, भाववर्द्धक, भावापकर्षक प्रच्छन्न, अभ्यान्तर, महनीय, एकांगी, जटिल उपमान, मूर्त से अमूर्त का उपमान, अमूर्त से अमूर्त का उपमान, मूर्त के अमूर्त का उपमान, अमूर्त का मूर्त से उपमान, मूर्तामूर्त रूप उपमान आदि के माध्यम से रूपक का विशाल स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

मार भली जो सतगुर देहि, फेरि बदल औरे करि लेहि।
ज्युँ माटी को करै कुंभार, त्युँ सतगुरु की मार विचार॥

द्वितीय अध्याय

कबीर और दादू का काव्य : कृषक और शिल्पी जीवन सम्बन्धी पृष्ठभूमि

- 2.1 कबीर का काव्य और वैयक्तिक जीवन परिवेश
 - 2.1.1. जीवन काल एवं माता-पिता
 - 2.1.2. गुरु एवं शिक्षा-दीक्षा
 - 2.1.3. व्यवसाय व जाति
- 2.2 दादू का काव्य और वैयक्तिक जीवन परिवेश
 - 2.2.1. जीवन काल एवं माता-पिता
 - 2.2.2. गुरु एवं शिक्षा-दीक्षा
 - 2.2.3. व्यवसाय व जाति
- 2.3 युगीन पृष्ठ भूमि एवं परिपार्श्व
 - 2.3.1 काल निर्धारण
 - 2.3.1.1 राजनीतिक पृष्ठभूमि एवं परिपार्श्व
 - 2.3.1.2 सामाजिक पृष्ठभूमि एवं परिपार्श्व
 - 2.3.1.3 आर्थिक पृष्ठभूमि एवं परिपार्श्व
 - 2.3.1.4 सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एवं परिपार्श्व
 - 2.3.1.5 साहित्यिक पृष्ठभूमि एवं परिपार्श्व

कबीर और दादू का काव्य : कृषक एवं शिल्पी जीवन सम्बन्धी पृष्ठभूमि

2.1 कबीर का काव्य और वैयक्तिक जीवन परिवेश

काव्य रचना किसी भी कवि की जीवनगत अनुभूति का प्रतिफलन होती है। ये जीवनगत अनुभूतियाँ कवि के जन्मकाल, जन्म की परिस्थितियाँ, पारिवारिक परिवेश, शिक्षा-दीक्षा, व्यवसाय, सामाजिक परिवेश और युगीन परिवेश के आधार पर अपना स्वरूप ग्रहण करती हैं। इन्हीं जीवन अनुभूतियों के आधार पर कवि की संरचना का निर्माण होता है जिनको आधार बनाकर कवि अपनी रचना को मूर्त रूप देता है।

अपने काव्य में कवि उन तथ्यों को प्रकट करता है, उन बातों का कहता है जिनका अनुभव तो सब लोग करते हैं, पर सब उसे प्रकट नहीं कर पाते। सहृदयता के कारण कवि की रचना शक्ति अन्य व्यक्तियों से अधिक होती है साथ ही आस-पास का परिवेश कवि की मानसिकता को पुष्ट करता है। इसी कारण कवि की रचना के दोनों पक्षों अनुभूति एवं अभिव्यक्ति के लिए हमें उसके जीवन परिवेश और युगीन परिवेश का विश्लेषण करना होता है।

कबीर के काव्य का प्रस्तुत और अप्रस्तुत विधान उसकी जीवनगत अनुभूतियों का प्रतिफलन है। इन्हीं अनुभूतियों के द्वारा उनकी काव्यपरक मानसिक संरचना का निर्माण हुआ है। कबीर की जीवनगत अनुभूतियों के सूक्ष्म विश्लेषण के लिए हमें उनके जीवन परिवेश पर विचार करना होगा।

कबीर के काव्य में कृषक एवं शिल्पी जीवन सम्बन्धी रूपकों के अनुशीलन के लिए हमें कबीर के काव्य की पृष्ठभूमि के रूप में उनकी जीवन-अनुभूतियों के विधायक तत्वों को खोजना होगा। जीवनगत अनुभूतियों के विधायक तत्वों में रचनाकार या कवि का वैयक्तिक जीवन परिवेश और उसका युगीन परिवेश ही अहम स्थान रखता है। जीवन परिवेश और

युगीन परिवेश के रेखांकन के लिए पहले रचनाकार के जीवन काल का रेखांकन करना होता है। जीवन के रेखांकन के क्रम में रचनाकार के जन्म व उसके माता-पिता के सन्दर्भ में बताया जाएगा—

2.1.1 जीवन काल एवं माता-पिता

जन्म काल

जैसा कि हम ऊपर संकेत कर चुके हैं कि कवि की अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों के लिए उपादान सामग्री प्रस्तुत करने में उसके जन्मकाल की अहम भूमिका होती है। व्यक्ति के वैचारिक दर्शन के निर्माण में व्यक्ति का जन्मकाल एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। हिन्दी के भक्त एवं सन्त कवियों के जन्मकाल के निर्धारण के लिए प्रमाणिक सामग्री का अभाव होने के कारण किसी निष्कर्षात्मक तिथि पर पहुँचना संभव नहीं होता। कबीर के सन्दर्भ में भी यही बात है। विभिन्न विद्वानों ने अपने शोध व समीक्षा के माध्यम से उनके जन्मकाल के सम्बन्ध में अपने-अपने मत प्रस्तुत करते हुए किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के प्रयास किए हैं, लेकिन उनमें पर्याप्त मतभेद हैं।

कबीर की जन्मतिथि के सम्बन्ध में विद्वानों के मतों के आधार पर हम उनके जन्मकाल का अनुमान कर सकते हैं। इन विद्वानों में इतना अधिक वैमत्य है कि हम किसी निश्चित तिथि पर न पहुँचकर केवल ये मानकर चल सकते हैं कि कबीर का जन्मकाल 15वीं शताब्दी के मध्य में पड़ता है।

कबीर का युग वो युग था जब कि राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक क्रान्तियाँ अपने चरम शिखर पर थीं। राजनीतिक परिस्थितियों में कोई स्थिरता नहीं थी, धार्मिक परिस्थितियों में अनेक मतवाद थे, आर्थिक दृष्टि से निम्न वर्ग जर्जर हो रहा था। कबीर के कवि हृदय ने न केवल यह सब देखा था वरन भोगा भी था।¹ अतः कबीर के कवि चेतना ने अपने जन्मकाल से संस्कार ग्रहण कर अपने काव्य के लिए आधार भूमि तैयार की।

1 साहित्य कोश

जन्म एवं माता-पिता

कबीर के जन्म एवं माता-पिता के सम्बन्ध में प्रमाणिक जानकारी न होते हुए भी जनश्रुतियों के आधार पर कुछ रोचक मान्यताएँ मिलती हैं। जनश्रुतियों के आधार पर कबीर को एक विधवा ब्राह्मणी का अवैध पुत्र माना जाता है, जिसे लोक-लाज के भय से उसे लहरतारा नामक तालाब के किनारे डाल दिया था। कबीर के माता-पिता के सम्बन्ध में एक मान्यता यह है कि कबीर का पालन-पोषण एक जुलाहा परिवार में हुआ था। इन दन्त कथाओं से कबीर के जन्म एवं माता-पिता की प्रमाणिकता चाहे संदिग्ध हो या असंदिग्ध लेकिन इतना अवश्य पता चलता है कि कबीर ने अपने जन्म के साथ ही उस कृषक जीवन के साथ सांस लेना सीखा जो (जुलाहा) शिल्पी जीवन से असंदिग्ध रूप से जुड़ा था।

जन्म और माता-पिता के इन संस्कारों ने निश्चित रूप से कबीर की कवि चेतना को काव्य संस्कार दिए होंगे जो आगे चलकर उनके रूपको की संरचना का आधार बने।

कबीर के रूपकों की वाह्य संरचना के साथ उनकी आन्तरिक चेतना भी उनके जन्म और माता-पिता से सम्बन्धित वातावरण से मिले संस्कारों से अछूति नहीं थी। उन्हें जन्म और माता-पिता के साथ जो उपेक्षा और लांछना भरा जीवन मिला उसने उन्हें जीवन के तात्त्विक स्वस्व बोध और आध्यात्मिक जीवन बोध की ओर अग्रसर किया। जीवन का यही तात्त्विक स्वरूप बोध और आध्यात्मिक जीवन बोध ने कबीर के रूपकों की आत्मा का स्वरूप निर्धारित किया।

गार्हस्थिक जीवन

कबीर के गार्हस्थिक जीवन के सन्दर्भ में भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है, लेकिन अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि कबीर ने एक ग्रहस्थ के रूप में जीवन व्यतीत किया। कबीर का गार्हस्थिक जीवन अभावों से ग्रस्त था। जिसका आर्थिक स्तर निम्न वर्गीय समाज से जुड़ा हुआ था। गार्हस्थिक जीवन के सभी सम्बन्ध सूत्र भारतीय निम्न वर्गीय समाज से

जुड़े हुए थे। यह समाज या तो कृषक जीवन से सम्बन्धित था या शिल्पी जीवन से उनके गार्हस्थिक जीवन में जीवन के तात्त्विक रूप को एक संरचनात्मक ढाँचे को समझने के लिए प्रेरित किया है और अभिव्यक्ति के लिए उसी गार्हस्थिक सम्बन्ध सूत्रों ने काव्य के उपादान प्रदान किए जिससे उनके काव्य रूपों का निर्माण हुआ।

2.1.2 गुरु एवं शिक्षा-दीक्षा

गुरु

वैयक्तिक एवं पारिवारिक परिवेश के बाद व्यक्तित्व के निर्माण में गुरु परम्परा एवं शिक्षा-दीक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। विद्वानों ने अपनी धारणा स्पष्ट करते हुए पीर शेख तकी एवं स्वामी रामानन्द को कबीर का गुरु माना है और कुछ विद्वानों ने लौकिक गुरु की सम्भावना से इन्कार किया है।

कबीर के गुरु के रूप में शेख तकी या रामानन्द को मानना उन्हें कृषक या शिल्पी जीवन सम्बन्धी परिवेश प्रदान करता है। शेख तकी या रामानन्द की शिष्य परम्परा में सभी वर्णों के सन्त आते हैं सभी सन्त अपने मूल रूप में कृषक व शिल्पी जीवन से जुड़े रहे अतः ये आश्वस्त होकर कहा जा सकता है कि कबीर की लौकिक गुरु की शिष्य परम्परा ने भी उनके काव्य रूपों के निर्माण में योग दिया।

यदि कबीर के गुरु के रूप में आलौकिक गुरु की मान्यता को स्वीकार किया जाए तो वह भी उनके काव्य रूपों के निर्माण में एक सशक्त भूमिका है। आलौकिक गुरु के रूप में गुरु की अनुभूति जीवनगत व्यापारों के साथ तादात्म्य बैठते हुए आध्यात्मिक रूपों का आधार तैयार करती है। कबीर ने अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए निम्न वर्गीय समाज के व्यापारों से रूपों का चयन किया जो विशेषकर कृषक व शिल्पी जीवन से सम्बन्धित है।

अतः कबीर की गुरु भावना किसी एक व्यक्तित्व से बंधी हुई नहीं है, उसका प्रभाव कबीर के काव्य में अभिव्यक्त रूपक चेतना पर भी पड़ता है। कबीर किसी एक सम्प्रदाय एक परम्परा के आधार पर अपने काव्य का स्वरूप निर्माण नहीं करते। वे गुरु परम्परा की सीमाओं में न बंधते हुए उन्मुक्त सामाजिक जीवन से अपने रूपकों के प्रतिमान और अपमान ग्रहण करते हैं।

शिक्षा—दीक्षा

यह सर्वमान्य ही है कि कबीर की शिक्षा—दीक्षा किसी व्यवस्थित संस्था में नहीं हुई थी। उनकी शिक्षा—दीक्षा अपने समाज में प्राप्त अनुभवों के रूप में ही हुई थी। इन अनुभवों के आधार पर उनके जीवन और समाज के कार्य—व्यापार उनके चिन्तन का व्यापक आधार बन गई, इन्हीं से उनकी काव्य चेतना का निर्माण हुआ यही कार्य चेतना कबीर के काव्य में रूपकों के रूप में अवतरित हुई है।

गार्हस्थिक जीवन गुरु व शिक्षा—दीक्षा की भांति व्यवसाय व जाति भी कबीर के काव्य रूपकों के निर्माण को एक सशक्त आधार देती है।

2.1.3 व्यवसाय व जाति

किसी काव्य की स्वरूप संरचना में रचनाकार के व्यवसाय की भी अप्रत्यक्ष भूमिका होती है। अपने व्यवसाय की प्रकिया और उसकी बारीकियों की कवि अपनी काव्य भावना के साथ एकाकार करके अप्रस्तुत से प्रस्तुत की योजना करते हैं। यथा —

कहहि कबीर करम से जोरी।
सूत कुसूत बिने भल कोरी।।¹

जुलाहे के व्यवसाय से जुड़े होने के कारण कबीर ने अध्यात्म प्रवण काव्य चेतना को बुनकर जीवन से चुने हुए प्रतिमानों से सफल अभिव्यक्ति की है। इतना ही नहीं इनका

1 कबीर वाङ्मय, रमैनी पद 28, पृ० 51

व्यवसाय इन्हें अन्य शिल्पियों के जीवन से भी जोड़ता है। सामाजिक जुड़ाव शिल्पी जीवन और कृषक जीवन के विभिन्न आयामों का दिग्दर्शन कराता हुआ उनके काव्य के लिए रूपक सामग्री उपलब्ध कराता है।

कबीर ने अपनी भाषा रचना पद्धति, काव्यरूप चयन उदाहरण विधान तथा आन्तरिक तर्क सभी स्तरों पर साधारण जन के साथ होने का प्रयास किया है। वस्तुतः वे कमाते-खाते हुए दुर्लभ ईश्वर को सुलभ कराने का रास्ता ढूंढने वाले संत थे। कबीर ने अपने काव्य में श्रम को सम्मान और धर्म के स्वाधिकार का रास्ता बताते हुए दोनों के बीच की विभाजक रेखा को समाप्त करने का उपदेश दिया है।

2.2 दादू का काव्य और वैयक्तिक जीवन परिवेश

कबीर की तरह सन्त शिरोमणि दादू दयाल का आविर्भाव साहित्य और समाज की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। यदि अन्याय और उत्पीड़न के समय में कोई समाज अपनी संवेदनशील चेतना के गर्भ से सन्त को जन्म नहीं दे पाता, तो वह अपने ही बोझ से डूब जाता है। सम विषम का अन्तर्द्वन्द्व सामाजिक प्रक्रिया का आयाम है। यदि किसी समाज में संवेदनशीलता क्षीण हो जाए तो संभव है कि वहां सन्त का अर्विभाव न हो। उस दशा में समाज स्वयं टूट सकता है।¹ कबीर और दादू दानों ही ऐसी परिस्थितियों की उपज थे जब भारतीय समाज को रास्ते की तलाश थी।

मध्यकालीन भारतीय इतिहास (15वीं शती से लेकर 17 वीं शती तक) सन्तों की वाणी में सिमट आया है। भारत का मध्यकाल सम्राटों एवं सामन्तों का युग था। उस समय में सर्वाधिक विषमता अधर्म थी, उसी समय भारत की संवेदनशील लोक चेतना में से उत्तर से दक्षिण तक, पूर्व से पश्चिम तक करुणा और मानवता के अनेक स्रोत फूट उठे जिन्हे हम सन्त कहते हैं।²

1 डॉ० बलदेव बसी, दादू जीवन दर्शन – पृ० 9

2 हिन्दुस्तानी (पत्रिका) 1985 भाग 46 अंक 4 पृ० 20

मध्ययुगीन सन्त काव्य परम्परा में निश्चित रूप से दादू एक गौरवमयी विभूति है। दादू का काव्यत्व लोकमानस में अब तक जीवित रहा है और आगे भी रहेगा। उनके काव्य का बहुत बड़ा हिस्सा आज भी भारतीय जनता के लिए अमृत वाणी के रूप में विद्यमान है। दादू की रचना का मूल पाठ भले ही विकृत हो गया हो परन्तु उन्होंने जो साहित्य सृजन किया था वह आज भी लोक मानस में जीवित है।¹

हम अपने शोध विषय के अनुशीलन क्रम में कबीर पर विचार करते हुए स्पष्ट कर चुके हैं कि कवि युग द्रष्टा होता है। उसी कवि की रचनाएं सफल कही जाती हैं जो तत्कालीन दशा का ज्ञान प्राप्त कराने में सहायक होती हैं। कवि की मानसिकता के निर्धारण में आस-पास के वातावरण की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। आस-पास का वातावरण कवि के मस्तिष्क को आधार प्रदान करता है। जो काव्य का माध्यम बनता है। यद्यपि संतों की साधना का स्वरूप आध्यात्मिक है परन्तु वे अपनी साधना का क्षेत्र सामाजिक चेष्टाओं को ही बनाते हैं।² जिस समाज में वह जन्म लेता है वह आस-पास के परिवेश में हो रहे त्रास को भोगता है। इस भोगे हुए यर्थाथ को ही संतो ने अपनी वाणी का माध्यम बनाया है।

दादू के काव्य में कृषक एवं शिल्पी जीवन सम्बन्धी पृष्ठभूमि को अच्छी तरह से समझने के लिए दादू का जीवन परिचय, व्यक्तित्व, जीवन दर्शन व तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक आर्थिक व सांस्कृतिक परिवेश के बारे में जानना आवश्यक है।

सर्वप्रथम दादू के वैयक्तिक जीवन परिवेश पर एक विमर्शात्मक दृष्टि से विचार करेंगे जिसने उन्हें अपनी काव्य-चेतना और उससे सन्दर्भित रूपक चेतना की संरचना के लिए प्रेरित किया।

2.2.1 जीवन काल एवं माता-पिता

कवि की रचनाओं की स्वरूप संरचना में जन्म काल की एक अहम भूमिका होती है। सन्त एवं भक्त कवियों के जन्मकाल के सम्बन्ध में प्रमाणिक रूप से निर्णय करना सम्भव नहीं

1 रवीन्द्र कुमार सिंह, दादू काव्य की सामाजिक प्रासंगिकता पृ० 36

2 डॉ० पीताम्बर दत्त बड़शाल, हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा – पृ० 228

होता। ये अपने बारे में किसी प्रकार का कोई अवलोकन नहीं करते। यही कारण है कि अनेक भक्त सन्त कवियों की प्रमाणिक जीवनी को जानना अत्यन्त कठिन है। इनमें से कुछ की तो समकालीन सन्तों की परिचयात्मक या प्रशंसात्मक वर्णन मात्र से जानकारी सम्भव हो सकी है। परन्तु कुछ की सिर्फ अनेक किवदंतियों जन्मश्रुतियों या सम्प्रदायों या प्रशिष्यों की अतिशयोक्ति युक्त वर्णन से जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इस विषम परिस्थिति में अन्तः साक्ष्य और बाह्य साक्ष्य पर आधारित अनुसंधानात्मक वैज्ञानिक अध्ययन ही एक मात्र उपाय रह गया है, जिसके माध्यम से सन्देह के अन्धकार को दूर कर सत्य तथ्यों का सहारा ले, इन महापुरुषों की जीविनियों को प्रकाश में लाया जा सकता है।

संत दादू की जीवनी को प्रस्तुत करते समय हमारा लक्ष्य उनके जीवन सम्बन्धी तथ्यों के सन्दर्भ में निष्कर्ष देना नहीं है बल्कि उनके आधार पर दादू के जीवन सन्दर्भों को आधार बनाकर उनकी रूपक चेतना को रेखांकित करना है।

संत दादू की रचनाओं में कहीं भी उनके जीवन काल सम्बन्धी कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता, किन्तु नामदेव, पीपा, रैदास व कबीर आदि संतों के प्रति सम्मान सूचक 'सबद' अवश्य मिलते हैं। यथा —

नामदेव कबीर जुलाहो. जन रैदास तिरै।

दादू बेगि बार नहि लागै. हरि सौ सबै सरै।¹

इससे यह तो स्पष्ट है कि संत दादू ने इन संतों के पश्चात् ही जन्म लिया था। संत नामदेव का जन्म समय कार्तिक सुदी 11 शक सं० 1192 तदनुसार सन् 1260ई० अथवा विक्रम संवत् 1326 कहा जाता है।²

रामानंद का समय वि०स० 1356 से 1467 है। संत कबीर का विक्रम संवत् 1455 से 1575 और भक्त मीरा का वि०स० 1555 (तदनुसार सन 1498 ई०) से 1603 (तदनुसार सन् 1546 ई०) है। रैदास का समय भी वि०स० 1600 के पूर्व ही माना जाता है।³

1 कृष्ण देव बल्लभ देव, संत कवि दादू — पृ० 34, 35

2 परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की संत परम्परा — पृ० 110

3 डॉ० सरनाम सिंह, कबीर एक विवेचन, पृ० 28

वेलवेडियर प्रेस के संस्करण के अनुसार दादू का जन्म कबीर की मृत्यु के 26 वर्ष बाद हुआ था अर्थात् दादू का जन्म वि०स० 1601 या सन 1544 को हुआ था इसी प्रकार डॉ बडथवाल के अनुसार भी गुरु नानक की मृत्यु के 6 वर्ष बाद दादू का जन्म हुआ।¹ गुरु नानक देव का वि०स० 1526 के वैशाख मास की शुक्ल पक्ष की तृतीय तदनुसार 15 अप्रैल सन 1469 को हुआ था और निधन वि०स० 1595 अर्थात् सन 1538 ई० में हुआ था।²

संत दादू के सदैव साथ रहने वाले उनके प्रमुख शिष्य स्वामी जनगोपाल ने स० 1601 को ही उनका जन्म काल माना है —

संवत सोलह सौ इकोत्तर, संत एक उपज्यो भूमि पर।
पच्छिम दिसा अहमदाबाद। ती ठां साध परगटै दादू।³

संत साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान श्री क्षितिमोहन सेन ने भी संत दादू के इसी जन्म तिथि (ई० सन् 1544) को मान्यता दी है। उपर्युक्त आधारों पर हम दादू के जीवन काल के निर्धारण के लिए उनका जन्म-काल ईसा की 16वीं शताब्दी के मध्य मानकर चल सकते हैं। संत दादू की मृत्यु के सन्दर्भ में विद्वानों में अधिक मतभेद नहीं है। स्वामी जनगोपाल ने इनका निधन समय सं० 1660 की ज्येष्ठ बदी अष्टमी को माना है। यथा—

संवत सोलह सौ अस साठा, सेठ बदी जु गए दिन आठा।
थावर पहर चढ्यौ दिन जबहि। ढिंग के सिस सुध पाई तबही।।

राघव दास ने भी इसी को मान्यता दी है —

सोलह सौ के आठ में। जेठ ओंठ सनवार।
कृष्ण पीष दिन पहर चढता। स्वामी मिले करतार।।

4. डॉ० पीताम्बर दत्त बडथवाल, हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० 130

5. परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० 289

1. परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० 296

यही तिथि दादू सम्प्रदाय में भी मानी जाती है। इसी कारण दादू सम्प्रदाय की प्रमुख गद्दी 'नराणा' में आज भी फाल्गुनी 5 से 11 तक सात दिवस का मेला लगता है। इस प्रकार संत दादू का जीवन-काल वि०स० 1601 की फाल्गुन शुक्ल 8 सं० 1660 की जेठ सुदी 8 तक मानना ही समीचीन है।¹

तदनुसार सन्त दादू दयाल का जीवन काल ईसा की 16वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और 17वीं शताब्दी का आरम्भिक काल ठहरता है। आगे इसी जीवन काल के आधार पर हम दादू के काव्य की रूपक चेतना पर विचार करेंगे।

जीवन स्थली

संत दादू दयाल के जन्म स्थान के संदर्भ में अभी कुछ निर्णयात्मक ढंग से नहीं कहा जा सकता है। दादू के जन्म के सन्दर्भ में प्रचलित कुछ किवदंतियों के आधार पर दादू का जन्म स्थान अहमदाबाद माना जाता है। ऐसा विश्वास है कि अहमदाबाद नगर में लोदी रामजी नागर ब्राह्मण थे। उनके कोई संतान नहीं थी। अतः संतान प्राप्ति के लिए संत माहात्माओं की बड़ी प्रेम से सेवा करते थे, प्रातः साबरमती में रोज स्नानार्थ जाते थे, एक दिन आते हुए एक तपःपूत महात्मा द्वारा वरदान प्राप्त हुआ कि सुबह स्नान करने साबरमती नदी में जाने पर तुम्हें नदी प्रवाह में कमल के फूलों में कीड़ा करते हुए एक दिव्य ब्रह्मज्ञानी बालक की प्राप्ति होगी, जैसा कि 'सद्गुण सागर' के उद्धरण से स्पष्ट है—

गैबी संत मिल्यो तिहि बारा, करी बनिती चरन मंझारा।

मांग प्राणि यह वचन उचारा, तू चाहे तो देखूं सारा।

तू चाहे सो देहू तोई, भक्ति मुक्ति कामना कोई।

इस प्रकार संत के मिलने पर वरदान रूप में पुत्र प्राप्ति मांगी जिसके लिए जनगोपालजी कृत जन्मलीला में लिखा है—

1 कृष्णदेव वल्लभ दवे, सत कवि दादू, पृ० 36, 37

सुन लो एक अरज हमारी, पुत्र बिना दुःख है भारी।
 संत कृपा कर गिरा उचारी, जाह नदी तट बडे संवारी।
 दियो पुत्र तेहि ब्रह्म विचारी, देवे कुल को केई तारी।
 बडे संवार नदी तट जावै, बालक अधर सो तिरते आवै।
 गोद माहि तब लेकर आयो, गैब दूध माता के पायो।
 इहि विधि स्वामी जन्म जुलिया, लोदीराम पुत्र यों किया।¹

पाश्चात्य विद्वान ' नाइकल मैक्निकल ' ने भी अपनी पुस्तक में इसी मत का समर्थन किया है —²

सन्त दादू दयाल का जन्म अहमदाबाद में हुआ था या नहीं, यह निर्णय करना हमारे कार्य का अंग नहीं है, उनका जन्म कहीं भी हुआ हो लेकिन उनकी जीवन साधना उनके जन्म स्थान से प्रारंभ नहीं होती। ऐसा माना जाता है कि अपनी वय के 18वें वर्ष में महान विभूति दादू ने अहमदाबाद छोड़ दिया और छः साल तक वे परिव्राजक की तरह जगह-जगह घूमते रहे और 26वर्ष की आयु में सांभर आए। यहीं से उन्होंने अपना सदुपदेश देना प्रारम्भ किया। इस स्थिति में भी दादू सांभर में ही टिक कर नहीं रहते थे। 32वें वर्ष तक सांभर को अपना केन्द्र बनाने के बाद दादू आम्बेर आ गए। 13-14 वर्ष के लिए आम्बेर दादू के ज्ञान प्रसार के परिवेश का केन्द्र रहा। अतः इस अवधि में भी दादू आम्बेर में स्थिर होकर नहीं बैठे। सन 1645-46 में 44-45 वर्ष की आयु में दादू ने अपने ज्ञान का प्रचार करने के लिए बड़ी यात्रा आरंभ की जो 10-12 वर्ष तक निरन्तर चलती रही। 12 वर्ष की इस अवधि में सं० 1655 में दादू नराणा आ गए। 59 वे वर्ष में पुनः नराणा आकर दादू ने इस भौतिक शरीर को त्याग दिया।

माता-पिता

दादू के माता-पिता कौन थे, इस सन्दर्भ में विद्वानों में अनेक मत हैं किवदन्तियों के अनुसार दादू कबीर की भांति ही किसी कुंवारी ब्राह्मणी की अवैध सन्तान थे।³ विधवा ब्राह्मणी

1 बलदेव बसी, दादू जीवन दर्शन, पृ० 18-19

2 Dr. Nicol Macnicol, A Sixteenth Century Indian Mystic, p. 27

3 सत कवि डॉ० कृष्णदेव वल्लभ दवे, संत कवि दादू, पृ० 38-39

के परित्यक्त पुत्र के रूप में दादू को जिस तिरस्कार का सामना करना पड़ा होगा, उसकी कल्पना हम आज के सामाजिक सन्दर्भों में भी कर सकते हैं। तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में दादू जैसी सन्तान को समाज किस रूप में ग्रहण करता होगा इससे हम सभी परिचित हैं।

अतः यह मानने में हमें कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि दादू की जन्म की स्थितियों (माता-पिता) ने दादू को जिस समाज से जोड़ा उसने उनकी काव्य चेतना को एक ऐसी काव्य परम्परा से जोड़ा जो आध्यात्मिक चेतना को लोक चेतना से जोड़कर चल रही रही थी। इस काव्य चेतना ने दादू के काव्य की रूपक चेतना के निर्माण में एक सार्थक योगदान किया होगा।

2.2.2 गुरु एवं शिक्षा-दीक्षा

अन्य अधिकांश सन्त कवियों की भांति ही दादू की शिक्षा भी व्यवस्थित रूप से किसी संस्था में नहीं हुई थी। अक्षर ज्ञान के आधार पर प्राप्त शिक्षा से दादू भी वंचित ही रहे थे। श्रुत परम्परा से इन्होंने अवश्य ज्ञान प्राप्त किया जो इनके काव्य के स्वरूप निर्माण में सहायक सिद्ध हुआ। श्रुत परम्परा से प्राप्त ज्ञान का इन्होंने अपने प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर विस्तार किया। परिणामस्वरूप इनके काव्य का वाह्य कलेवर जिसमें रूपक भी सम्मिलित है किसी काव्य परम्परा का अनुपालन नहीं बल्कि जीवन व्यवहार की अनुभूतियों के आधार पर बना।

दीक्षा का सम्बन्ध गुरु से होता है। दादू के गुरु के संबंध में विद्वानों ने अपनी धारणा स्पष्ट करते हुए बुडढन को दादू का गुरु माना है – विल्सन बुडढन कबीर की वंश परम्परा में दादू को स्वीकार करते हुए इन्हें भी कबीर का ही वंशज मानते हैं सुधाकर द्विवेदी इन्हें कबीर के पुत्र कमाल का शिष्य बताते हैं। पीताम्बर दत्त बडशवास विल्सन से सहमत हैं। परशुराम चतुर्वेदी सन 1562 के आस-पास बुडढन नाम धारी किसी ऐतिहासिक व्यक्ति की स्थिति न मानते हुए विल्सन के मत को निराधार व्यक्त करते हैं। दादू पन्थी बुडढन से साक्षात् भगवान का अर्थ लेते हैं और 11 वर्ष की अवस्था में भगवान ने वृद्ध महात्मा को रूप में बालक दादू को दिया ऐसा मानते हैं।¹

“स्वामी हरिराम” ने भी ऐसा मत उदधृत किया है— “7 वर्ष की अवस्था में एक दिन बालकों के साथ कांकरिया तालाब (नगीना बाड़ी) में क्रीडा करते समय भगवान ने एक वृद्ध ऋषि के रूप में प्रकट कर दर्शन दिए और दादू को प्रसाद, शुभाशीर्वाद तथा दीक्षा रूप निर्गुण भक्ति का उपदेश देकर अन्तर्ध्यान हो गये। पुनः एकादश वर्ष की अवस्था में वृद्ध भगवान ने कांकीरमा तालाब के उस स्थान पर दर्शन दिए जहां कि आज शिव मंदिर बना हुआ है और निर्गुण का प्रचार करने की आज्ञा देकर अंतर्ध्यान हो गए। वृद्ध भगवान के दर्शन से महाराज को पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो गई और गुरु आज्ञा मानकर देश एवं गृह का त्याग कर दिया और भिक्त का प्रचार करने हेतु अहमदाबाद से प्रस्थान किया।¹

डॉ नाइकल मैकिनकल ² ने भी इसी सन्दर्भ का उल्लेख अपनी पुस्तक में किया है—

गार्सा दतासी ने दादू को रामानन्द की शिष्य परम्परा में स्वीकार कर उन्हे इस परंपरा में उनका छठा शिष्य माना है। इन शिष्यों का कम रामानन्द, कबीर, जमाल, विमल, बुडढन और दादू। एच०एच० विल्सन ने भी इसी को स्वीकार किया है। आर०वी० रसल ने भी इसी को मान्य किया है।³

परन्तु दादू के गुरु के सन्दर्भ में अभी तक निर्णयात्मक ढंग से कुछ कहा नहीं गया है। दादू ने अपनी वाणी में गुरु की महिमा का गान तो बहुत किया है परन्तु उनका नाम कहीं नहीं लिखा है⁴ दादू ने किसी व्यक्ति से नियम पूर्वक दीक्षा लेकर शिष्यत्व ग्रहण किया हो, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता इससे यही संभावना व्यक्त की जा सकती है कि दादू के कोई निश्चित गुरु नहीं थे।

इसका परिणाम यह हुआ कि दादू का काव्य चिन्तन किसी सीमित संकीर्ण धारा में बंधने से बच गया। दादू का जिस गुरु परम्परा से सम्बन्ध जोड़ा जाता है उसके आधार पर

1 स्वामी हरिनाम, दादू का जीवन चरित्र, पृ० 20

2 Dr. Nicol Manicol, A Sixteenth Century Indian Mystic, p. 27

3 डॉ० किशनाराम बिश्नोई, दादूदयाल सिद्धान्त व कविता, पृ० 68

4 डॉ० रवीन्द्र कुमार सिंह, दादू काव्य की सामाजिक प्रासंगिकता, पृ० 40

दादू अपने जीवन विम्बों के निर्माण के लिए कृषक व शिल्पी जीवन के निकट ही अधिक पाए जाते हैं। सन्त परम्परा के ये सभी सन्त अपने मूल रूप में कृषक व शिल्पी जीवन से जुड़े रहे हैं।

अतः यह मानने में संकोच नहीं होना चाहिए कि दादू के काव्य प्रतिमान उनकी आध्यात्मिक साधना परम्परा के सामाजिक परिवेश की भी अभिव्यक्ति करते हैं। यदि कबीर की भांति दादू के लिए भी आलौकिक गुरु की मान्यता को स्वीकार किया जाए तो वह भी काव्य-रूपकों को सशक्त आधार प्रदान करती हैं। रूपकों की आन्तरिक चेतना उनकी आलौकिक अनुभूति की ही देन है जो उनके गुरु साक्षात्कार की ही देन कही जा सकती है।

2.2.3 व्यवसाय व जाति

सभी संत कवियों की भांति दादू भी श्रमण संस्कृति के पोषक नहीं हैं, वे केवल खंजूरी, तंबूरा अथवा झोली लेकर न तो केवल कहानी व उपाख्यान ही कहते थे और न केवल भक्तों और अनुयायियों की भक्ति भावना और गुरु श्रद्धा के ही भरोसे बैठकर गुलछर्रा ही उड़ाते थे। अन्य सन्तों की तरह दादू भी अपने पैतृक व्यवसाय को अपनी जीविका का साधन बनाते हुए अपनी आध्यात्मिक साधना में रत रहते हैं। दादू ने आध्यात्म मार्ग अपनाया, परन्तु अपने पैतृक कार्य को भी नहीं छोड़ा अपने पैतृक कार्य को करते हुए भी वे भजन उपासना अथवा पारलौकिक चिन्तन करते थे। अपने व्यवसाय में रत रहते हुए उनका आसपास के कृषक एवं शिल्पी जीवन सम्बन्धी जीवन से जुड़ा होना स्वाभाविक था। अतः उनके व्यवसाय ने उनके काव्य प्रतिमानों के लिए आपेक्षित सामग्री जुटाने में एक बड़ी भूमिका अदा ही होगी।

दादू की जाति के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। स्वामी दयानंद अपने ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' में इन्हें तेली बताते हैं। पं सुधाकर द्विवेदी के अनुसार दादू 'मोची' थे।¹ इसके अतिरिक्त एक तीसरा मत भी है जो दादू को 'धुनिया' बताता है – अकबर कालीन

1 डॉ० किशनाराम बिश्नोई, दादूदयाल : सिद्धान्त व कविता, पृ० 61

‘मोहसिन फानी’ ने दादू को धुनिया माना है।¹ डा पीताम्बर दत्त बडशवाल² व परशुराम चतुर्वेदी³ भी इसी मत के समर्थक हैं — इनके अतिरिक्त विल्सन, कुल विल्कस, रसल ग्रियर्सन, सिंडस, गार्सा द तासी आदि भी दादू को ‘धुनिया’ ही मानते हैं।⁴

इन सभी विद्वानों के मतों से दादू की जाति स्पष्ट नहीं हो पाती इसका कारण यह है कि दादू को लोग लोदी राम ब्राह्मण का औरस पुत्र मानते हैं और कुछ लोग इनके द्वारा मात्र पालित-पोषित स्वीकार करते हैं।⁵

ऐसी स्थिति में दादू की जाति व पेशे को लेकर यह कहा जा सकता है कि कबीर की भांति दादू भी समाज के निचले स्तर से आए थे। दादू का यह जातिगत परिवेश भी उनकी काव्य चेतना को कृषक व शिल्पी जीवन से ही जोड़ता है, अतः यह मानकर चला जा सकता है कि दादू के काव्य में कृषक एवं शिल्पी जीवन सम्बन्धी रूपक चेतना को सहज व्यावहारिक आधार मिला है जो दादू के वैयक्तिक परिवेश से जुड़कर व्यवसाय से सम्बन्ध रखता है।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि कबीर की भांति दादू ने भी निम्न वर्गीय परिवार में आँखें खोली जो आजीविका के लिए कृषक व शिल्प पर निर्भर था। कबीर की ही भांति निश्चित रूप से दादू को भी उनके जन्म, माता-पिता और संस्कारों से वह परिवेश प्राप्त हुआ जिसने दादू के रूपकों को सामग्री प्रदान की।

दादू का परिवेश भी कबीर की भांति ही उपेक्षित था जिसने उन्हें नवीन जीवन दृष्टि दी जो काव्य चेतना का आधार बनी। दादू के काव्य का एक पक्ष जहाँ आध्यात्मिक भावना से परिपूर्ण है वहीं दूसरा पक्ष उस चेतना का बोध कराता है जो उन्हें अपने आस-पास के परिवेश से मिली थी।

2 डॉ० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य की आलोचनात्मक इतिहास, पृ० 273

3 डॉ० पीताम्बर दत्त बडशवाल, हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० 131

4 परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० 411

5 डॉ० किशनाराम बिश्नोई, दादूदयाल व सिद्धान्त व कविता, पृ० 72

6 साहित्य कोश

2.3 युगीन पृष्ठभूमि एवं परिपार्श्व

2.3.1 काल निर्धारण

कवि की वैचारिक दृष्टि के निर्माण में जितनी भूमिका उसके वैयक्तिक जीवन की होती है उतना ही युगीन परिवेश की। युगीन परिवेश व्यक्ति को दिशाएं देता है और उसके आधार पर अपने लिए कवि की चिन्तन की दिशाएं खोलता है।

कबीर का जन्म 1455 ई० व दादू का सं. 1601ई० माना गया है। 14वीं शताब्दी से 17वीं शताब्दी का समय मध्यकाल कहा जाता है। मध्यकाल भारतीय समाज में काफी उथल-पुथल का काल रहा है। इस उथल-पुथल का मुख्य कारण इस्लाम के रूप में विदेशी प्रभाव का था। दो समाजों के परस्पर सम्पर्क में आने की उठा-पटक में से तत्कालीन भारतीय सम्प्रदाय का ढांचा छिन्न-भिन्न हो गया था। साहित्य कोश में इस सन्दर्भ में कहा गया है कि “राजनैतिक परिस्थितियों में कोई स्थिरता नहीं थी, न तो राजवंशों में कोई स्थिरता थी और न ही उनकी नीति निश्चित थी। धार्मिक परिस्थितियों में पूर्ववर्ती नाथ सम्प्रदाय की धारा तो हिन्दू और मुसलमानों में समान रूप से चल रही थी और अपने विविध प्रकार के विश्वासों के साथ बल ग्रहण कर रही थी। सामाजिक संरचना वर्णाश्रम धर्म के कारण धीरे-धीरे विच्छिन्न हो रही थी। ब्राह्मण व शूद्रों में मनोमालिन्य बढ़ रहा था। बाहरी वेश और आचार की विविधा ही सामाजिक स्तर का मूल्यांकन कर रही थी।¹ यही धार्मिक सामाजिक विच्छिन्नता मध्यकाल की पृष्ठभूमि तैयार करती है। डा० रवीन्द्र कुमार भ्रमर के शब्दों में – मध्यकाल को पतन काल, अन्धकार काल, अवनति काल, हीनता का काल आदि भी कहा जा सकता है। भारत में इस्लामी शासन के स्थिर हो जाने के बाद ही इस प्रक्रिया का आरम्भ होता है जिसमें हिन्दु और इस्लाम दोनों मान्यताओं को गहरा आघात लगता है। पौराणिक हिन्दू धर्म की उच्चवर्गीय कट्टरता, रूढ़िवादिता व शोषण से निराश लोक इससे पूर्व भी

1 साहित्य कोश

उससे विमुख हो चुका था। इस्लाम का अनुयायी लोक भी इस्लामी शासन होने पर स्वयं के सामन्तों द्वारा उतना ही दमित व शोषित अनुभव कर रहा था जितना कि हिन्दू।¹ इसी सन्दर्भ में डा० मोती सिंह का भी मत है कि एक ओर बाहर से मुस्लिम आक्रमण हो रहा था और देश के भीतर भक्तिवाद का उन्मेष हो रहा था। वह जाति और वर्ण व्यवस्था की दृष्टि से अत्यन्त प्रतिक्रिया वादी युग था।²

उपरोक्त तथ्यों को मध्ययुग की पृष्ठभूमि का आधार मानते हुए जो भक्ति आन्दोलन प्रारम्भ हुए उनमें शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, जयदेव, चैतन्य और रामानंद आदि ने तेजी प्रदान की।

इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम भक्ति मार्ग में उदारता का बीज पहले स्वामी रामानंद ने ही बोये थे – वो पहले आचार्य थे, जिन्होंने मुस्लिमों को भी अपना शिष्य बनाया, और स्त्रियों व शूद्रों का भी अपने सम्प्रदाय में स्वागत किया। रामानंद के शिष्य कबीर और रैदास थे।

इसी परम्परा में चलकर 'दादू दयाल' का नाम भी जुड़ गया ये सभी सन्त नीच समझी जाने वाली जुलाहा, मोची, धोबी, धुनिया आदि जातियों से जुड़े थे। अपने लक्ष्य आध्यात्म प्रतिपादन के प्रचार व प्रसार के लिए गाँव से जुड़े व शिल्पियों की भावनाओं को ही काव्य सामग्री के रूप में ग्रहण किया।³

इन कवियों की जीवन दृष्टि इनकी युगीन परिस्थितियों की देन है क्यों कि निर्गुण संतो ने भी अपनी सामाजिक सांस्कृतिक परम्परा में युगानुरूप सृजनात्मकता अपनाई है, जिसमें भावात्मक एकता, जातीय सौमनस्य मनुष्यत्व की स्थापना, अंतःकरण की पवित्रता, ईश्वरीय रूप के प्रति मूल्यांकन की दृष्टि, लोक चेतना की सकारात्मक जीजिविषा और जीवन की विवेकशील व्याख्या के अंतः सूत्र मिलते हैं।⁴

2. डॉ० रवीन्द्र कुमार भ्रमर, दादू काव्य की सामाजिक प्रासंगिकता, पृ० 17

3. डॉ० मोती सिंह, निर्गुण साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ० 217

1. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 386

2. डॉ० रोहिताश्व, भावात्मक एकता दिशा में निर्गुण संतों का योगदान, पृ० 12

इन्हीं विशिष्ट प्रवृत्तियों को समझने के लिए तत्कालीन पृष्ठभूमि व परिपार्श्व को जानना आवश्यक है।

कबीर व 'दादू' के काव्य के रूपरूप को समझने के लिए हमें कबीर व दादू युगीन परिस्थितियों पर दृष्टिपात करना होगा – इसमें मध्यकाल के 14वीं से 17वीं शती तक के समय को उठाया गया है। इसे निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत स्पष्ट किया गया है –

- 1 राजनीतिक पृष्ठभूमि एवं परिपार्श्व
- 2 सामाजिक पृष्ठभूमि एवं परिपार्श्व
- 3 आर्थिक पृष्ठभूमि एवं परिपार्श्व
- 4 सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एवं परिपार्श्व
- 5 साहित्यिक पृष्ठभूमि एवं परिपार्श्व

2.3.1.1 राजनीतिक पृष्ठभूमि एवं परिपार्श्व

मध्यकाल में राजनीतिक परिवेश क्षुब्ध, अव्यवस्थित अशांत व असंतुलित था। इसका प्रमुख कारण था बाहर से होने वाले आक्रमण। इन आक्रमण के झोंकों के कारण भारतीय राजनीति रह-रहकर अशांत व अस्थिर हो उठी थी। वास्तव में भारतीय राजनीति विविध रंगों में इसलिए परिवर्तित होती रही कि प्रत्येक बार नई शक्ति ने उत्साह और नई अभिलाषाओं को कार्यान्वित करने तथा महत्वकाक्षाओं की पूर्ति के लिए भारतवर्ष की जनता पर नए-नए प्रयोग किए और प्रत्येक बार भारतीय जनता को आक्रमणकारी शक्ति के समक्ष नतानत होकर सब कुछ चुपचाप स्वीकार करना पड़ा।

हर्षवर्धन की मृत्यु (640ई0) के बाद उसका साम्राज्य अनेक स्वतंत्र राज्यों में विभक्त हो गया, और उसी समय से भारत की राज्यश्री शांति एवं सुव्यवस्था अस्थिर हो चली थी। तत्कालीन परिस्थिति का अनुमान केवल इस बात से लगाया जा सकता है कि अनेक छोटे-छोटे राज्यों को छोड़कर यदि प्रधान राज्य शक्तियों का मानचित्र सामने लाया जाए तो

उनकी संख्या एक दर्जन से अधिक पहुँच जाती है।¹ जिसमें राज्य लिप्सा के साथ एक दूसरे को नीचा दिखाने की स्पृहा इतनी बढ़ गई थी कि उसके कारण वे सदैव युद्धरत रहा करते थे।² इस प्रकार किसी भी शक्ति-शाली विदेशी आक्रमण के लिए भारत ऐसा उपयुक्त क्रीडा स्थल बनता जा रहा था जिसकी कि राजनीतिक फूट, विश्रखलता आदि निर्बलताएँ उसकी विजय को सरल करने के लिए पर्याप्त थीं।

ग्यारहवीं शती के प्रारम्भ में धनलोलुप तुर्की के एक के बाद एक आक्रमण होने लगे जिनमें से केवल छब्बीस सत्ताईस वर्षों के भीतर ही महमूद गजनवी के सत्रह आक्रमणों ने देश का असंख्य धन लूटा और एक से एक भव्य बने देवालय, विद्यालय तथा मठ ध्वस्त कर दिए जिनके साथ भारतीय कला के उत्कृष्ट उदाहरण भी सदा के लिए लुप्त हो गए।³ सन् 1206 से लेकर 1920 तक गुलाम वंश ने भारत पर शासन किया। अलाउद्दीन खिलजी ने प्रभावशाली हिन्दुओं को सार्मथ्यहीन करने के लिए उन पर अनेक धार्मिक तथा आर्थिक अत्याचार किए और राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण से उन्हें इतना दयनीय और पंगु बना दिया कि चिरकाल तक सिर न उठा सके क्यों कि उसकी धारणा थी कि इसके बिना उन्हें अनुशासन में नहीं रखा जा सकता किन्तु उसकी मृत्यु (सन् 1315) के चार वर्षों के भीतर ही हो गई। समस्त राजशक्ति बिखर कर नष्ट हो गई जिसे तुगलक वंश के संचालक गयासुद्दीन तुगलक ने पुर्नगठित किया, पर तुगलक शासन में न तो सुख-शांति की प्रतिष्ठा हो सकी और न साम्राज्य एकता ही सुरक्षित रही। तुगलक वंश के अंतिम शक्तिहीन शासक महमूद के समय में तैमूरलंग ने भारत पर आक्रमण किया। तैमूर ने अपने सैनिकों की बौछार उसी प्रकार भारत पर कर दी, जिस प्रकार मेघ जल बरसाते हैं। इस ईश्वरीय प्रकोप के

1. डॉ० आर्या प्रसाद त्रिपाठी, कबीर साहित्य सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 51

2. डॉ० अवध बिहारी पाण्डेय, पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास, पृ० 12

3. डॉ० अवध बिहारी पाण्डेय, पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास, पृ० 10

भारतीय क्षितिज के उस पार अन्तर्ध्यान हो जाने पर भी देश को धन, जान-माल तथा धर्म की अपार क्षति सहनी पड़ी। तुगलक वंश नष्ट हो गया पर मुस्लिम सत्ता का विकास जारी रहा।¹

तुगलक वंश के बाद 'लोदी वंश ने पिचहत्तर वर्ष शासन किया इस वंश में केवल तीन सुल्तान हुए — बहलोल, सिकन्दर तथा इब्राहीम। लोदी वंश की नींव डालने वाला यह शासक अत्यन्त कूटनीतिज्ञ तथा चालाक था। इसका दूसरा प्रतापी शासक सिकन्दर लोदी था जिसने हिन्दुओं पर अगठित अत्याचार किए। कबीर लोदी वंश की उपज थे। उन्होंने सिकन्दर लोदी (सन 1488—1451) तथा बाबर सन (1483—1539) के अत्याचारों को भोगा था। सिकन्दर लोदी अत्यन्त अदूरदर्शी तथा स्वेच्छाचारी शासक था। इस्लाम धर्म के प्रचार में उसका उत्साह इतना अधिक था कि उसने एक एक दिन में पंद्रह-पंद्रह सौ हिन्दुओं का वध करवाया था।² डा आर०एस० शर्मा का कथन है कि हिन्दुओं के मन्दिरों को तोड़कर मस्जिदों का निर्माण कराना उसके लिए एक सामान्य बात थी। इस नृशंस सुल्तान की मृत्यु के बाद बाबर का आक्रमण हुआ — 11 फरवरी सन 1527 को उसने हिन्दुओं के विरुद्ध जेहाद की घोषणा की। पानीपत में युद्ध हुआ लगभग 16,000 सैनिक तथा 50,000 निरीह प्रजा जन युद्ध में मारे गए। लूटमार में उसने हद कर दी। इस सन्दर्भ में विस्तार देते हुए डा० आर०एस० शर्मा का मानना है कि मुसलमानों के आगमन से पूर्व राजा अपनी प्रजा के साथ ऐसा उपेक्षित व्यवहार नहीं करते थे। युद्ध के समय भी ग्रामीणों को किसी प्रकार से सताया नहीं जाता था किन्तु मुसलमान आक्रमण कारियों ने इस नियम का पालन नहीं किया। राजनीति में शक्ति तथा वैभव प्राप्त करने के लिए अपने निकटतम सम्बन्धियों की हत्या करना भी बुरा नहीं समझते थे उनसे काफिर जनता को छोड़ देने की आशा नहीं की जा सकती थी। वे अवस्था, लिंग का भी ध्यान नहीं रखते थे और पुरुषों, स्त्रियों तथा बच्चों का सामान रूप से संहार करते

1. डॉ० आर्याप्रसाद त्रिपाठी, कबीर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 54

2. डॉ० गोविन्द लाल छाबड़ा, क्रान्तिकारी कबीर, पृ० 11

उन्हें दास बनाते और इस्लाम अंगीकार करने पर बाध्य करते।¹ कुरान में यद्यपि लिखा है कि विश्वास लाने के लिए किसी को मजबूर नहीं किया जा सकता। फिर भी अपने धर्म के प्रसार व प्रचार के लिए मुसलमानों ने तलवार का सहारा लिया। इतिहासकार अलबरूनी ने लिखा है मुस्लिम शासकों ने भारत के वैभव को सम्पूर्ण रूप से मिटा दिया था। साथ ही उसने आश्चर्य के वे कारनामे दिखाए कि हिन्दू धूल के कणमात्र रह गए।² स्मिथ लिखता है कि प्राचीन सभ्यता के कई अन्यतम नमूने मुसलमानों के प्राथमिक आक्रमणों के युग में ही समाप्त हो गए। मथुरा के कलात्मक मंदिर सरस्वती केन्द्र, विनाश की गर्त में समा गए। शिल्प कलाएं अन्तर्वेद से हटकर दूर उन स्थानों पर पहुँच गई जहाँ मुसलमानी आक्रमणों का भय न था।³ इससे पहले भी यही स्थिति हुई थी जब

राजस्थान के मरू पर्वतीय तथा जंगल प्रदेश ने समय-समय पर बाहरी आक्रमणों से भारतीय राजवंशों भाषा साहित्य तथा धर्म की रक्षा की वह उन्हें प्रोत्साहन दिया। मरूभूमि को आधार बनाकर इन्होंने विदेशियों का अप्रतिम प्रतिरोध और सामना किया। इनके शौर्य व आत्म-बलिदान पर आधारित काव्यों से ही हिंदी साहित्य के 'आदि काल' का निर्माण हुआ।⁴

'भक्ति काल' का आरम्भ भी ऐसे ही राजनैतिक परिस्थितियों के फलस्वरूप हुआ जब कि उत्तरी भारत अनेक स्वतंत्र राज्यों में विघटित हो चुका था, जिनकी परस्पर ईर्ष्या ने उस आपत्ति के प्रति सजग नहीं रखा, जिसने सबको शत्रु की निरंतर बढ़ती हुई शक्ति से भयभीत किए रखा था।⁵ फिर भी अपनी आंतरिक दुर्बलताओं से इस युग के अधिकांश भारतीय राज्य विदेशी आक्रमणकारियों के सामने पराजित हुए तथापि विदेशियों के प्रति संघर्ष, युद्ध एवं प्रतिरोध कभी समाप्त नहीं हुआ न ही हारकर पुनः खड़े होने की प्रवृत्ति ही विलुप्त हो सकी।

1 डॉ० आर०एस० शर्मा, भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास, पृ० 162-63, 205

2 अल-बरूनीज़ इंडिया (एडवर्ड सवारू), पृ० 1917

3 बी० विसेट स्मिथ, ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 229, 292

4 डॉ० सुदर्शन सिंह मजीठिया संत साहित्य, पृ० 192

5 हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग-1, पृ० 10

भारतीय तप व त्याग की परंपरा के कारण कर्तव्यनिष्ठ व स्वाभिमान का तेज धूमिल न हो सका। अतः भारत ही ऐसा देश था जहाँ इस्लाम को सतत् संघर्ष का सामना करना पड़ा और एक हजार वर्ष के शासन के बाद भी उसे भारत की विजय व धर्म परिवर्तन में आंशिक सफलता ही मिली।¹

दक्षिण में विजय नगर हिंदू राज्य का उदय हुआ व बहमनी सल्तनत कायम हुई। उत्तर में कश्मीर अलग हो गया। पूर्व में मद्रास, बंगाल व उड़ीसा स्वतंत्र हुए तो पश्चिम में गुजरात। मेवाड़ ने भी राणा हम्मीर के नेतृत्व ई० सन 1326 में स्वयं को स्वतंत्र घोषित किया। इसके पूर्व ई० सन 1303 में अलाउद्दीन के सारे साम्राज्य की शक्ति को झोंक देने के समय तक तो चित्तौड़ स्वतंत्र ही रहा था। उसके बाद चित्तौड़ स्वतंत्र न रह सका था, जब तक कि अकबर ने सन 1568 ई० में उसे अपने अधिकार में न कर लिया फिर भी राजपूतों ने मुगल साम्राज्य के अंतिम दिनों तक संघर्ष को जारी रखा जिसमें महाराणा कुंभा तो मध्यकालीन भारत के महान नरेशों में से थे।² और इसी राणा सांगा ने भी मुस्लिम शासकों की आपसी फूट से स्वाहित लाभ प्राप्त करने के लिए 'बाबर' को आमन्त्रित किया, जिससे कि वह तैमूर आदि की भांति आए और दुर्बल दिल्ली को और दुर्बल करके चला जाए। बाबर के लिए उसके श्रद्धालु व अनुयायियों का यह मत था कि बाबर को तैमूर का अनुकरण करना चाहिए तथा वह भारत छोड़ दे।

किन्तु बाबर जो दिल्ली का सम्राट हो चुका था और वही बाबर जो काबुल से आक्रमणों का नेतृत्व कर रहा था। एक ही व्यक्ति के दो अलग-अलग व्यक्तित्व थे। अतः उसने इस सुझाव को अस्वीकृत कर दिया। यह देखकर राणा सांगा ने अब उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी, जिसके परिणाम स्वरूप प्रथम बार बाबर ने एक मूर्तिपूजन के विरुद्ध स्वयं

3. डॉ० कृष्णदेव वल्लभ दवे, सत कवि दादू, पृ० 92

4. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग-1, पृ० 42

को जिहाद में पाया। इस युद्ध का निर्णय महत्वपूर्ण था, जिसके द्वारा आगे चलकर देश का शासन राजपूतों के हाथों से निकल कर मुगलों के अधीन हो गया।¹ राणा प्रताप का उदय मेवाड़ के लिए सूर्योदय के समान नवीन आकांक्षाओं व आशाओं को लिए हुए था उधर दिल्ली में बाबर के बाद हुमायु का जीवन अस्त-व्यस्त हो ही चुका था। हुमायु का दुर्भाग्यपूर्ण शासन अकबर के लिए एक चेतावनी थी जिसे चारों ओर की विपत्तियों ने भयभीत कर रखा था।² अकबर इस्लाम धर्म का एक सच्चा पुनरोद्धारक था जो निज को मुसलिम शास्त्रों में अपने समय के वैज्ञानिक ज्ञान प्रकाश में हस्तक्षेप करने का अधिकारी मानता था।³ अकबर ने जीवन भर हिंदू व मुस्लिम नरेशों पर आक्रमण कर अपने राज्य का विस्तार किया और विस्तृत राज्य की सुरक्षा के लिए ही उसने हिंदुओं से वैवाहिक संबंध स्थापित किए। लगभग इसी समय से आम्बेर के कछवाहा राजघराने का भाग्य सितारा चमक उठा और कुछ ही दिनों में भारमल के वंशज केवल राजस्थान में ही नहीं परंतु मुगल साम्राज्य के साथ ही समूचे भारत में भी अत्यधिक महत्वपूर्ण तथा शक्तिशाली व्यक्ति बन गए। मुगल साम्राज्य के प्रमुख सेनानायक एवं विश्वस्त उच्चाधिकारी बनकर आम्बेर के राजाओं ने उस साम्राज्य की वृद्धि, उन्नति व समृद्धि में पूर्ण सहयोग दिया।⁴

इस तरह मुगलों को अत्यावश्यक व विश्वास पात्र अधिकारी सुयोग्य शासक, विश्वस्त सलाहकार और वीर साहसी सेनानायक प्राप्त हुए। किंतु राणा प्रताप (1562) के आते ही राजस्थान के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्फूर्तिपूर्ण अध्याय का प्रारंभ हुआ जो कठोर पराधीनता के निराशापूर्ण दुःखमय दिनों में राजस्थान के साथ ही समूचे भारत तक को स्वाधीनता के लिए सर्वस्व बलिदान कर उसको निरन्तर अडिग साधना का पाठ पढ़ाता रहा।

1 अकबर, जे0एम0 शैलेट, पृ0 254

2 डॉ0 कृष्णदेव वल्लभ दवे, सत कवि दादू, पृ0 6

3 आइने अकबरी, अनुवाद कर्नल जैरेट, पृ0 493

4 डॉ0 कृष्णदेव वल्लभ दवे, सत कवि दादू, पृ0 8

इसके पूर्व 1562 में नागौर, जोधपुर, जैतारण, अजमेर व आम्बेर के उत्तर-पूर्व के सारे प्रदेश अकबर के अधीन थे। अतः समूचे राजस्थान में एकमात्र स्वाधीन शक्ति-शाली शासक राणा उदयसिंह ही रह गए। सिरोही और बूंदी नरेश उदयसिंह के साथ थे। फिर राणा ने मालवा के सुल्तान बाज बहादुर को भी शरण दे रखी थी। अतः 23 अक्टूबर 1567 में अकबर ने चढाई की, जिसके परिणामस्वरूप ही 30,000 निरीह जनता का अंत कल्लेआम के आदेश से परिपूर्ण हुआ। और 8000 राजपूत भी इस युद्ध में काम आए। अतः 1562 ई० में राणा प्रताप ने राज्यरूढ होते ही स्पष्टतया मुगल विरोधी नीति अपनायी। राजा भगवानदास व मानसिंह के महाराणा को अकबर की अधीनता स्वीकार करवाने के सारे प्रयत्न विफल रहे।

अतः 1576 में मानसिंह के नेतृत्व में हल्दीघाटी का प्रसिद्ध युद्ध हुआ।¹

इस युद्ध में हारकर भी राणा का व्यक्तित्व अत्यधिक प्रसिद्धी से समुज्ज्वल हुआ। प्रताप के हारने पर भी पश्चिमी मेवाड़ एवम् उसके अन्य पड़ोसी देशों पर राणा का प्रभाव अक्षुण्य रहा। प्रताप का गुजरात की ओर राज्य बढ़ाने की संभावना थी, अतः अकबर ने फिर आक्रमण की ठानी और अक्टूबर 1576 में पहले राजा भगवानदास व मानसिंह को भेजा और फिर स्वयं भी चल पड़ा किन्तु अब भी राणा प्रताप न पकड़े गए और इसके बाद भी अनेक प्रयत्नों पर वह नहीं पकड़े जा सके और सुअवसर पाकर उन्होंने अपने राज्य व गढ़ वापस ले लिए। और मृत्यु से पहले उसने अपने बहुते क्षेत्र वापस ले लिए। प्रताप के बाद अकबर ने फिर से सलीम व मानसिंह के साथ मेवाड़ को पूर्णतः विजय प्राप्त करने सेना को भेजा परन्तु पराजित हुआ।²

इस तरह स्वाधीनता का संघर्ष निरन्तर चलता रहा। भारत कभी भी पूर्णतः नतमस्तक नहीं हुआ। इसमें कोई संदेह नहीं कि उनके सामने देव मंदिर गिराए जाते देख देव मूर्तियाँ तोड़ी जाती पूज्य पुरुषों का अपमान भी होता एवं सामंत शाही पारस्परिक जातीय

1. अकबर जे०एम० शैलेट, पृ० 107

2. संत डॉ० कृष्णदेव वल्लभ दवे, संत कवि दादू, पृ० 8,9

प्रतिस्पर्धा, परंपरागत विरोध, जन साधारण की राजनीति में उदासीनता और अनेक छोटे-छोटे राज्यों की उलझने आदि रहने पर भी यहाँ संघर्ष करने की प्रवृत्ति लुप्त न हो सकी।

2.3.1.2 सामाजिक पृष्ठभूमि एवं परिपाश्वर्य

मध्यकाल में समाज में एक उद्दाम लू चल रही थी, जिसका दाह भयंकर एवं व्यापक था। उस दाह से सारी जनता, अमीर-गरीब सब पीड़ित थे। कड़ी मेहनत करने के बावजूद साधारण जनता का जीवन असुरक्षित था और वे नृशंसता का शिकार बन रहे थे। विभिन्न प्रकार के कर से सामाजिक एकता विक्षुब्ध हो रही थी।¹

समाज सामन्तवादी संस्था के समान दीखता था, जिसकी चोटी पर बादशाह था उसके नीचे पदाधिकारी सरदार इन्हें विशेष सम्मान व अधिकार प्राप्त थे इसके विपरीत साधारण जनता की किस्मत में ये कभी नहीं पड़ते थे। फ्रांसिस्को पेलसर्ट सात वर्षों के अनुभव के आधार पर लिखते हैं कि तीन श्रेणियों के लोग हैं जो कहने को तो स्वतंत्र हैं परन्तु उनकी स्थिति और ऐच्छिक दासता में बहुत कम अन्तर है।²

सामाजिक संरचना को विस्तृत रूप से इस प्रकार व्याख्यायित किया जा सकता है।

मध्यकाल की सामाजिक संरचना में जहाँ एक ओर भूमि से वंशानुगत सम्बन्ध, वीरता, परंपरागत विद्या की पृष्ठभूमि आदि से युक्त सामंत वर्ग था, दूसरी ओर इन लक्षणों से रहित शोषित, पीड़ित जनता का विशाल समुदाय जिसमें किसान, दस्तकार, मजदूर आदि इसके विभिन्न स्तर थे।

समाज का विभाजन प्रायः सामन्त एवं सर्वहारा वर्ग तथा राजा और रंक में होता था। तत्कालीन समाज तीन वर्गों में विभक्त था —

1 कबीर एक विवेचन, डॉ० सरनाम सिंह शर्मा, पृ० 109

2 मजूमदार राय चौधरी, भारत का वृहत् इतिहास, पृ० 278

क शासक वर्ग

ख मध्यम वर्ग

ग सर्वसाधारण वर्ग

शासक वर्ग

मध्ययुग में शासक वर्ग सबसे महत्वपूर्ण वर्ग था, जिसके हाथ में सम्पूर्ण शासन की बागडोर थी। सल्तनत काल में सुल्तान राज्य का सर्वोच्च और निरंकुश पदाधिकारी था। सार्वभौम शासक की सारी प्रभुसत्ता उसमें निहित थी। बादशाह, सामन्त आदि भोग विलास, महापान आदि में डूबे रहते थे। इन सबका शान-शौकत से रहना जीवन का आवश्यक अंग बन गया था। प्रो० हरफूल आर्य ने लूनिया के शब्दों में इसे स्पष्ट किया है कि “भोग विलास से परिपूर्ण जीवन मुगल राज दरबार और मुगल युग के लिए आवश्यक वस्तु थी। उच्च वर्गों के वस्त्र, भोजन और जीवन निर्वाह एवं रहन-सहन में विलासिता की आभा झलकती थी।¹ जरी के बेलबूटेदार कपड़े छपे हुए रेशमी एवं कीमती मलमल के महीन वस्त्र, सामन्तों की साधारण वेषभूषा थी। बादशाह राजदरबारी बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहनते थे। इस वर्ग का भोजन अमितव्ययी विशिष्ट तथा स्वादिष्ट होता था। दुर्लभ फल, रहस्यपूर्ण उबाले हुए पदार्थ, पाकशास्त्रीय सूक्ष्म कला प्रदर्शित ईरानी पकवानों का प्रचार हिन्दू अमीरों के यहाँ भी था। फल प्रायः बुखारा और समरकन्द से मंगाए जाते थे। माँस भोजन का आवश्यक खाद्य अंग था। वर्ष में बारहों मास उच्च वर्ग द्वारा बर्फ का प्रयोग किया जाता था। महापान का व्यसन जोरों पर था। विदेशों से कीमती मदिरा मंगाई जाती थी।²

बादशाह के बाद दूसरा पद अमीरों का था। ‘अमीर’ नाम सैनिक और असैनिक दोनों प्रकार के अधिकारियों के लिए प्रयुक्त होता था। अमीरों का जीवन अत्याधिक विलासिता का

1 प्रो० हरफूल सिंह आर्य, मध्यकालीन समाज धर्म कला एवं वास्तुकला, पृ० 1

2 डॉ० केशनी कुमार चौरसिया, मध्यकालीन हिन्दी सन्त साहित्य की पृष्ठभूमि, पृ० 18

जीवन था। ये साधारण जनता पर मनमाने अत्याचार करते थे एवं पहले की तुलना में धनवान ही होते जाते थे। एक विद्वान ने मुगलकाल के बारे में लिखा है कि “इस युग में अमीरों तथा गरीबों का पारस्परिक भेद पहले से अधिक बढ़ गया। इस समय के धनी पहले से अधिक निधनि हो गए और साधारणतः उनकी स्थिति अधिक असहाय हो गई।”¹ शासक वर्ग की विलासिता के सन्दर्भ में एक ईरानी राजदूत का वक्तव्य देते हुए एस०आर० शर्मा का कथन है कि “संध्या के समय दरबार में मैं उपस्थित हुआ और पाँच सुन्दर घोड़े तथा दो थाल जिनमें दो-दो साटन और बूटेदार कपड़े के थे भेंट दिए। राजा चालीस खम्भा मण्डप में सजधज के साथ बैठा हुआ था और बाई-दाई ओर ब्राह्मणों तथा अन्य लोगों की बड़ी भीड़ खड़ी हुई थी। वह साटन के वस्त्र धारण किए हुए था और कंठ में शुद्ध तथा सर्वोत्कृष्ट मोतियों की माला पहने था जिसका मूल्य आंकना एक जौहरी के लिए भी कठिन होता।.... उसके लिए जो भोजन सामग्री आती थी उसमें भी दो भेड़े, आठ मुर्गियों, पाँच मन चावल, एक मन मक्खन, एक मन शकर तथा बरह सोना सम्मिलित रहता था।

मध्यकाल में बादशाहों व सुल्तानों का जीवन अत्यन्त शान-शौकत का जीवन था।.... स्नान के पश्चात सुगंधित चूर्ण गुलाबजल में डालकर उसका अवलेपन करते थे, अपनी उंगलियों में सुनहली अंगूठियाँ पहनते थे जिनपर बहुमूल्य पत्थर जड़े रहते थे तथा वे मोतियों के कुंडल भी धारण किया करते थे। छत्र युक्त रत्नजडित सिंहासन पर बैठते थे। छत्र, दूरबाश सायबान उसके राज चिन्ह थे। राजा के सिंहासन पर बैठने पर सोने चांदी की बौछार की जाती थी। बादशाह के मनोरंजन के लिए अनेक कलाकार, कलाबाज, नादिम, भाड, संगीतज्ञ और विदूषक आदि रहते थे दास दासियों की भीड़ सी लगी रहती थी।² इस सन्दर्भ में एक विद्वान का कथन है कि राजवंश, सामन्त और उच्च वर्ग के जीवन का प्रमुख उद्देश्य अधिक से अधिक सुख-विलास व ऐश्वर्य का जीवन-यापन करना था, यद्यपि उनमें

1 मध्यकालीन समाज, धर्म, कला एवं वास्तुकला, प्रो० हरफूल सिंह आर्य, पृ० 5

2 भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास, एल०आर० शर्मा, पृ० 151, 212, 183, 186

दानशीलता, वीरता, विद्या, प्रेम आदि गुण थे। उनमें गर्व व आत्म सम्मान कूट-कूट कर भरा था।¹ शासको के जीवन के दो पहलू थे – राजकीय तथा व्यक्तिगत। व्यक्तिगत जीवन उसके राजकीय जीवन से भिन्न होता था। दरबार में उनकी छवि गौरव मयी शासक, न्यायिक प्रशासक एवं वीर योद्धा के रूप में होती थी। इसके बिल्कुल विपरीत व्यक्तिगत जीवन में उन्हें अपनी रुचि के अनुसार जीवन व्यतीत करते की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। अधिकतर मुगल शासक मदिरापान करते थे और हरम में विलासमयी जीवन व्यतीत करते थे। वे शिकार संगीत नृत्य, काव्य पाठ, शतरंज, गजीका तथा नौकाविहार द्वारा अपना मनोरंजन करते थे। उनकी जीवनचर्या पर यदि कोई प्रतिबंध थे तो सांसारिक मान्यताएँ, सामाजिक चलन, पारिवारिक परम्पराएँ तथा शासक की गरिमा बनाए रखने की भावना। उनका खान-पान, रहन-सहन, वेष-भूषा प्रत्येक क्षण उनकी मर्यादा एवं व्यक्तित्व की ओर उनका ध्यान दिलाती।²

परन्तु ये शान शौकत अन्य व्यक्तियों के शोषण पर ही निर्भर करती थी इसमें सन्देह नहीं इस सन्दर्भ में बर्नियर का मत उद्धृत किया जा सकता है कि “कृषि की दशा अवनत थी व शिल्पकार दरिद्र थे व प्रान्तीय शासक प्रजा को कष्ट देते थे।”

शासक वर्ग के पश्चात कबीर के युग में मध्यम वर्ग की दशा प्रस्तुत है जो कबीर के काव्य में प्रेरणा स्रोत के रूप में ली गई है –

मध्यम वर्ग

शासक वर्ग के बाद मध्यम वर्गीय समाज ही ऐसा समाज था जिसकी आर्थिक स्थिति अच्छी थी। व उनका मान भी कम नहीं था। यह वर्ग शासक वर्ग और जनसाधारण के बीच एक कड़ी के रूप में था, बहुत से अमीर भी इनक तुलना में परेशान से रहते थे। कारण यह था कि एक तो उन्हें अपने जीवन स्तर को बनाए रखने, विलासितापूर्ण जीवन निर्वाह में ही काफी खर्च करना पड़ता था एवं दूसरे उन्हें शासक वर्ग के लिए समय-समय पर मूल्यवान

1 B.N. Lunice, Evolution of Indian Culture, p. 496

2 लईक अहमद, मुगल कालीन भारत, पृ० 422

उपहार देने की औपचारिकता का निर्वाह करना पड़ता था जिससे वह ऋणग्रस्त हो जाते थे। इसी सन्दर्भ में डॉ० आर्य ने बर्नियर का मत दिया है कि “बहुत थोड़े ही धनवान अमीरों से मेरी जान-पहचान थी, इसके विपरीत उनमें से अधिकांशतया ऋणग्रस्त थे, बादशाहों के मूल्यवान उपहारों व अपने कर्मचारियों के कारण विनाश को पहुँच गए।”¹

मध्यम वर्ग का जीवन स्तर शासक वर्ग से नीचा था व यह वर्ग शासक वर्ग से मुकाबला नहीं कर सकता था।

डॉ० केसरी प्रसाद चौरसिया व डॉ० लईक अहमद ने हकीम, शिक्षक, लेखक, लिपिक, व्यापारी, ज्योतिषी, वेतन प्राप्त करने वाले लोगों को मध्यम वर्ग के अन्तर्गत बताया है जिनका जीवन अत्यन्त साधारण था। डॉ० आर्य के शब्दों में मध्यम वर्ग की स्थिति और स्पष्ट होती है कि मध्य वर्ग के लोग सरकारी कर्मचारियों के भय के कारण अधिक शान-शौकत से नहीं रह पाते थे, उनको डर रहता था कि गर्वनर आदि उनका धन न छीन लें। ये जितने धनवान होते थे उतने प्रतीत नहीं होते थे। मध्यम वर्गीय जनता भोजन में चावल, चपाती और विभिन्न प्रकार की सब्जियाँ लेती थीं, और दूध आर्थिक स्थिति के अनुसार प्रयोग किया जाता था। मुसलमान लोग माँस का उपयोग करते थे। परन्तु हिन्दू में मुख्यतः राजपूत लोग ही माँस का उपयोग करते थे। मध्यमवर्गीय लोगों में बहुत से व्यक्ति शराब का सेवन भी करते थे।²

सार रूप में मध्यम वर्ग भी पथभ्रष्ट था जनता विलासिता में डूबी हुई थी। मध्यकाल में मध्यम वर्ग बहुत कुछ आज के मध्यम वर्ग के समान थी।

मध्यम वर्ग के पश्चात् सामान्य वर्ग या सर्वसाधारण वर्ग आता है जिसमें कबीर जैसा युगद्रष्टा भी जन्म ले चुका था—

1 डॉ० हरफूल आर्य, मध्यकालीन समाज, धर्म कला एवं वास्तुकला, पृ० 24

1 डॉ० केसरी कुमार चौरसिया, मध्यकालीन हिन्दी सन्त-विचार और साधना, पृ० 19

सामान्य वर्ग या सर्वसाधारण जनता

इस वर्ग में हीन, ग्रामीण कृषक, कर्मकर, शिल्पी श्रमजीवी एवं नौकर चाकर आते हैं।¹ मध्यकाल का यह बड़ा भाग अपनी निर्धनता के कारण दरिद्रता का जीवन व्यतीत करता था। भूमिहीन जनता ग्रामीण लोगों के अन्य वर्गों पर पूर्णतः आश्रित रहकर अपना जीवन यापन करती रही।²

डॉ० यादव ने एक लेख में इस वर्ग के लोगों के सन्दर्भ में लिखा है कि शुद्र को आध्यात्मिक मुक्ति के अधिकार की मनाही को उसकी सांसारिक दासता का प्रतिबिंब माना जा सकता है।³ डॉ० आर्य ने भी इनकी स्थिति अत्यन्त दयनीय बतायी है। भारतीय पाश्चात्य विद्वानों के उन मतों द्वारा पुष्टि की है जिसमें इस वर्ग की दुर्दशा का चित्रण है कि कृषक व श्रमिक लोग प्रायः छप्पर की झोपड़ियों में रहते थे।....उनके मकान मिट्टी के बने हैं व कुछ मिट्टी के घड़ो, पकाने के बर्तनों और दो चारपाइयों के अतिरिक्त उनके घरों में साज-सज्जा की सामग्री या तो बहुत कम है या बिल्कुल नहीं। उनके बिछौने बहुत कम हैं केवल एक या दो, संभवत दो चादरें हैं जिनमें से एक बिछाने और दूसरी ओढ़ने के काम आती है। ग्रीष्म ऋतु के लिए तो ये काफी है परन्तु जाड़ों की रातें वस्तुतः दयनीय होती है।

सामान्य वर्ग कृषक और शिल्पी की दशा सर्वाधिक जर्जर थी। डॉ० यादव ने अपने लेख में किसानों की दशा के सन्दर्भ में लिखा है कि किसान को उनके नामों के सामने दर्ज भूमि में किसी भी हिरस्से को अनुपजा छोड़ने पर दंड पाने व स्थानीय रीतियों के अनुसार कर सेवाएं देने के लिए कहा गया जिसमें स्थानीय अधिकारियों ग्राम दस्तकारों आदि को उपज का एक भाग अदा करना भी शामिल है। इसमें खलिहान से धान, गेहूँ, जौ, सन और लता के बीज उपलब्ध कराने के व्यवस्था है। बाकी बीजों का प्रबन्ध किसानों की जिम्मेदारी है। किसानों

1 डॉ० केसनी कुमार चौरसिया, मध्यकालीन हिन्दी सन्त-विचार और साधना, पृ० 19

2 डॉ० लईक अहमद, मुगल कालीन भारत, पृ० 423

3 डॉ० हरफूल आर्य, मध्यकालीन भारत : समाज धर्म एवं वास्तुकला, पृ० 24

का अनाज का दो तिहाई सरदार के हिस्से के रूप में उसके कोठार में डालने के लिए कहा गया है। बाकी बचा उनके खुद के लिए है। यह भी कहा गया है कि अनाज की चोरी पकड़ी जाने पर एक बार चेतावनी के बाद उसे गाँव छोड़ना पड़ेगा किसानों की शिकायतें व्यक्तिगत तौर पर नहीं सुनी जाएंगी बल्कि तभी सुनी जाएंगी जब चार किसान इकट्ठे होकर गुणपत्र के साथ जाएंगे। गाँव छोड़कर कहीं जाने पर किसान के खेत, अनाज पशु संपत्ति सरदार या शासक द्वारा हस्तगत कर ली जाएगी।

उपरोक्त विवरण किसान दासता का जीता जागता चित्र उपस्थित करता है कि जहाँ एक ओर शासक वर्ग आवश्यकता से अधिक धन पानी की तरह बहा रहा था वहीं दूसरी ओर निम्न वर्ग अत्यन्त दयनीय जीवन व्यतीत कर रहा था।¹ डॉ० आर्य ने जन साधारण के जीवन के सन्दर्भ में लिखा है कि जनसाधारण उच्च या मध्यम वर्ग की भांति उत्तम कोटि का भोजन नहीं कर पाते थे। जैसे तैसे अपना जीवन निर्वाह करना ही उनका अभीप्सित था।

गरीब व्यक्ति प्रायः भुने और पिसे बाजरे के सत्तू खाते थे और बहुत से लोग खिचड़ी खाते थे। सामान्य वर्ग के लोग खाने, कपड़े, मकान जैसी आधारभूत आवश्यकताओं से वंचित थे। डॉ० आर्य ने विभिन्न विद्वानों के मतों द्वारा बताया है कि मजदूर, कलाकार, कुम्हार आदि सूती लंगोट पहनते थे जो कमर से घुटनों तक जाता था।² डॉ० लईक अहमद भी इस वर्ग के सन्दर्भ में बताते हैं कि इस वर्ग की स्थिति उनके स्वामियों के उदार तथा कठोर दृष्टिकोण पर ही निर्भर करती थी। निम्न वर्ग के निःसहाय व निर्धन लोग कम से कम वस्त्र पहनकर आग के पास बैठकर अपनी शीतकालीन रातें बिताया करते थे।³

निम्न वर्ग के लोगों के पास जीवनोपयोगी वस्तुएं न के बराबर थीं, उन्हें बेगार भी देना पड़ता था और इसके लिए कठोर परिश्रम करना पड़ता था। बहुत से व्यक्तियों को जीवित

1 मध्यकालीन भारत भाग-1, डॉ० बी०एन०एस० यादव, पृ० 13

2 डॉ० हरफूल आर्य, मध्यकालीन समाज, धर्म कला एवं वास्तुकला

3 डॉ० लईक अहमद, मुगलकालीन भारत, पृ० 423

रहने भर के लिए भोजन सामग्री उपलब्ध हो पाती थी, और बहुतों के पास शरीर ढकने के लिए पर्याप्त वस्त्र नहीं होते थे। कबीर के युग में एक ओर शासक वर्ग का वैभव और दूसरी ओर निम्न वर्ग का दारुण चित्र दोनों ही उपस्थित थे और कबीर स्वयं निम्न वर्ग में पालित-पोषित थे। सामाजिक विरोधाभास को कवि जितनी सूक्ष्मता से ग्रहण करता है साधारण व्यक्ति नहीं कर सकता। कबीर और दादू ने अपनी काव्य संरचना में संवेदनशील साहित्यकार का दायित्व पूरा किया। उनके रूपकों की संरचना में मध्ययुगीन परिपार्श्व पूरी तरह प्रतिबिम्बित हुआ है।

इस सन्दर्भ में डॉ० धर्मवीर भारती का कथन द्रष्टव्य है जिसमें उन्होंने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनेक मतों का खण्डन करते हुए यह बताया है कि डॉ० द्विवेदी ने कबीर के सारे लौकिक अभिमान को नष्ट कर दिया है।

जब कि एक ओर जहाँ कबीर की चिन्ता का मुख्य विषय अध्यात्म है वहीं दूसरी ओर वे समाज में व्याप्त वैषम्य से भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाए हैं। इसके लिए रूपक विधान के माध्यम से जहाँ वे एक ओर अध्यात्म की ओर बढ़ते हैं वहीं दूसरी ओर संसार को भी विमुख नहीं करते।¹

2.3.1.3 आर्थिक पृष्ठभूमि एवं परिवेश

प्रत्येक समाज का एक आर्थिक आधार होता है। आर्थिक व्यवस्था के अभाव में किसी समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। कबीर के काल में भी आर्थिक व्यवस्था के विभिन्न पहलू थे — जिसे हम विभिन्न वर्गों के अन्तर्गत देख सकते हैं।

शासक वर्ग या उच्च वर्ग

शासक वर्ग ऐश्वर्य तथा भोग विलास का जीवन व्यतीत किया करता था। उनके खर्च बहुत बड़े हुए थे। शाही प्रयोग की वस्तुएँ प्रायः सोने चाँदी से बनी होती थी। वस्त्र मखमल

1 डॉ० धर्मवीर भारती, कबीर नई सदी में तीन—बाज भी, कपोत भी, पपीहा भी

व जरी के होते थे। श्रेष्ठमाल को ऊँची से ऊँची कीमत देकर खरीदा जाता था। एक जोड़ी जूतों की कीमत के रूप में सत्तर हजार टका अदा की जाती थी व शाही ध्वजा और उसकी सजावट तथा देखभाल पर अस्सी हजार टंक, दरी व कालीनों पर दो लाख टंक तक खर्च किए जाते थे। शाही घुड़साल में केवल भूसे पर वर्ष में साठ हजार से लेकर एक लाख तक व्यय किया जाता था।¹

साम्राज्य की आय के प्रमुख श्रोत थे — भूमि, राजस्व, अधीनस्थ राजाओं से कर, मंसबदारों के वेतन से कटौती, युद्ध में लूट से प्राप्त धन, शुल्क जुर्माने, व्यापार, टकसाल, जंगल, नजर या भेंट, नमककर, कारखाने और सार्वजनिक कार्यों पर कर आदि। इनमें से भू-राजस्व आय का प्रधान स्रोत होता था।

अधीनस्थ राजाओं से साल में कई अवसरों पर पेशकश स्वीकार की जाती थी। इसके लिए अलग कोषागार था, नजर पेशकश से भिन्न होती थी। यह उस समय अधीनस्थ राजाओं और अमीरों और सामान्य जनता द्वारा सम्राट को प्रस्तुत की जाती थी। मंसबदारों के वेतन में से 10 प्रतिशत की जाने वाली कटौती भी आय का महत्वपूर्ण साधन थी। लूट से प्राप्त धन का पाँचवा भाग राज्य का होता था। पराजित राजाओं से बड़ी मात्रा में युद्ध की क्षतिपूर्ति व भेंट मिलती थी। प्रशासन भी शासकों के व्यय की महत्वपूर्ण मद थी। प्रशासन का सारा व्यय राज्य की आय पर लगभग चालीस प्रतिशत था। जनता द्वारा दी जाने वाली राशि तथा कोषागार में जमा की जाने वाली राशि में अन्तर होता था कई कर्मचारी ऐसी वसूली कर लेते थे जो राज्य के कोषागार में जमा ही नहीं की जाती थी।²

इस प्रकार की व्यक्तिगत समृद्धि को रोकने के लिए सुल्तानों ने लोगों की सम्पत्ति को अपहरण करने की नीति अपनायी और उनके पास राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से जितना

1 मध्यकालीन समाज, धर्म, कला एवं वास्तुकला, प्रो० हरफूल सिंह आर्य, पृ० 134

2 डॉ० सुरेश मिश्र, अकबर, पृ० 120, 121

उचित था उससे अधिक नहीं छोड़ा। बरनी का कथन है कि — 'सुल्तान ने आज्ञा जारी भी की जहाँ जहाँ किसी गाँव में लोगों के पास मिल्क (स्वामित्व अधिकार) इनाम वक्फ (धर्मस्थ) आदि के रूप में भूमि हो उसे एक कलम से राज्य के अधिकार में कर लिया जाए। जब्त करने की नीति इतनी कठोरता से बरती गई की कुछ हजार टंका का छोड़कर सब पेंशन, माफी की भूमि और धर्मस्थ हड़प लिए गए।'¹

मोरलैण्ड के शब्दों में आर्थिक व्यवस्था का सारांश इस प्रकार दिया जा सकता है कि— (1) आवश्यकता की वस्तुओं का नियन्त्रण (2) यातायात पर नियन्त्रण (3) आवश्यकता पड़ने पर उपयोग की वस्तुओं की खुराक बन्दी (राशन) सम्पूर्ण व्यवस्था दो चीजों पर निर्भर थी (क) सुसंगठित गुप्तचर विभाग तथा (ख) नियम भंग करने वालों को कठोर दण्ड।²

उपरोक्त सभी शासक वर्ग आर्थिक ढाँचे के आधार थे, जिन पर शासक वर्ग फल फूल रहा था। शासक वर्ग विलासिता व भोग-विलास पर अत्याधिक धन व्यय करता था। श्री लूनिया के अनुसार "राजवंश, सामन्त और उच्चवर्ग के लोगों का प्रमुख उद्देश्य अधिक से अधिक सुख विलास व ऐश्वर्य का जीवन यापन करना था, वे पोषक थे और श्रमिकों व निम्न श्रेणी के लोगों द्वारा उत्पन्न धन का अपव्यय करते थे।"³

शासक वर्ग के आर्थिक दशा के उपरान्त मध्यम वर्ग की आर्थिक दशा द्रष्टव्य है —
मध्यम वर्ग

इसके अन्तर्गत व्यापारी, व्यवसायी, सरकारी कर्मचारी और लेखक वर्ग को सम्मिलित किया गया है।⁴ इतिहासकार मोरलैण्ड के अनुसार इस वर्ग के लोगों का जीवन अपेक्षाकृत सुख का जीवन था व्यापारी लोग सुख का जीवन व्यतीत करते थे क्योंकि इनको स्थानीय अधिकारियों का भय लगा रहता था कि वे कहीं धन का अपहरण न कर लें।⁵

1 डॉ० आर०एस० शर्मा, भारत मे मुस्लिम शासन का इतिहास, पृ० 111

2 डॉ० आर०एस० शर्मा, भारत मे मुस्लिम शासन का इतिहास, पृ० 113

3 डॉ० हरफूल आर्य, मध्यकालीन समाज, धर्म, कला एवं वास्तुकला, पृ० 137, 138

4 वही, पृ० 143

5 डॉ० कंसनी प्रसाद चौरसिया, मध्यकालीन हिन्दी सन्त विचार व साधना, पृ० 19

मध्यम वर्ग में प्रायः लोग गर्व व वाह्याडम्बर में अधिक व्यय नहीं करते थे। मध्यम वर्ग की आर्थिक दशा अच्छी थी धनवान होने बाबजूद भी वह धन का दुरुपयोग उच्चवर्ग की भांति नहीं करते थे। यह वर्ग अपने व्यवसाय के अनुकूल व स्तर के अनुसार रहता था। इस वर्ग के लोगों में व्यर्थ का दिखावा व वाह्याडम्बर नहीं था। उन्हें इस बात का भय बना रहता था कि प्रान्तीय गर्वनर उनकी सम्पत्ति छीन न लें।¹

मध्यम वर्ग के उपरोक्त वर्गों के अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण वर्ग जमींदारों का है जिसका शाब्दिक अर्थ है भूमि पर अधिकार करने वाला। मध्यकाल में जमींदारी वंशानुगत थी। मध्यकाल में 14वीं सदी में बर्नी और अफीक ने जमींदारों का वर्णन किया है जो कि गाँव व खेत से सम्बन्धित न होकर ग्रामीण वर्ग से सम्बन्धित थे। जमींदार अपने गाँव या तालुका की आय जिसे बॉट कहते थे, अपने पास रख लेता था। जमींदार का अपनी स्वेच्छा से जिसे चाहे खेती के लिए दे सकता था। जमींदार की निर्धारित आय और उसकी अतिरिक्त आमदनी का ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। क्यों कि वे अपने क्षेत्र के किसानों से तरह-तरह के कर वसूल करते थे, जैसे — 'दस्तार शुमोर' (पगडियों का गिनना) विवाह और मृत्यु कर, गृह कर (खाना शुमारी) आदि। जमींदार कुछ वर्गों से बेगार लेता था। जमींदारी जमींदार की व्यक्तिगत सम्पत्ति की तरह थी। उसके उत्तराधिकारी उसे ग्रहण कर सकते थे परन्तु भूमि जमींदार की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं थी। इसके विभाजन में कभी दावेदार को गाँव की भूमि का केवल एक छोटा भाग ही मिल पाता था, जिसको वह किसानों को एक निश्चित समय के लिए पट्टे पर देते थे। पट्टेदारों को लगान वसूल करने का पूरा अधिकार था। जमींदारी अधिकार का उद्देश्य भूमि रखने वालों को आय का एक स्रोत प्रदान करना था।²

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि मध्यम वर्ग की आर्थिक स्थिति उन्नत अवस्था में थी। जनता के पास पर्याप्त मात्रा में खर्च करने के लिए धन था और धन वे भय से छिपा कर भी

1 डॉ० हरफूल आर्य, मध्यकालीन समाज, धर्म, कला एवं वास्तुकला, पृष्ठ 143

2 डॉ० हरफूल आर्य, मध्यकालीन समाज, धर्म कला एवं वास्तुकला, पृष्ठ 140, 141

रखते थे। मध्यम वर्ग के पश्चात् निम्न वर्ग की आर्थिक स्थिति प्रस्तुत है जिसमें तत्कालीन कृषि व्यवस्था व उद्योग धन्धों से जुड़े व्यक्ति आते हैं जो किसी प्रकार अपना जीवन यापन कर रहे थे। कबीर व दादू इस वर्ग से जुड़े थे और उनके परिवेश की आर्थिक स्थिति क्या थी इस स्पष्ट किया जा रहा है –

निम्न वर्ग की आर्थिक स्थिति

इस वर्ग में हीन वर्ग, ग्रामीण कृषक, कर्मकर, शिल्पी, श्रमजीवी एवं नौकर चाकर आते हैं। इनका जीवन अत्यन्त दुःखी एवं रहन-सहन का स्तर बहुत नीचा था। ये आवश्यकताओं की पूर्ति भी सही से नहीं कर पाता था। इनका जीवन विलासी उच्चवर्ग की सेवा में व्यतीत होता था, इनसे अधिकतम काम लिया जाता था और निम्नतम परिश्रमिक दिया जाता था।¹ निम्नवर्ग का जीवन अत्यन्त कठिन व संघर्षमय था। विद्वानों के कथनों से स्पष्ट है कि ये वर्ग सदा शोषण व अत्याचार का शिकार रहा है। डॉ० यूसूफ हुसैन के शब्दों में “निम्न श्रेणी के लोगों की ऐसी ही स्थिति थी जैसी कि आधुनिक समय में है। जहाँ तक उनके निवास भवनों का सम्बन्ध है अधिकतर विदेशी यात्री उनकी दुर्दशा का ही चित्रण करते हैं। कृषक और श्रमिक वर्ग के लोग प्रायः छप्पर की झोपड़ियों में रहते थे। फानसिस्को पालसोर्ट के अनुसार निम्न वर्ग के श्रमजीवियों का वेतन कम था उनके लिए खाद्य सामग्री तथा गृहों का अभाव रहता था। वे केन्द्रीय सरकार की दमन नीति का शिकार होते थे।²

श्री शर्मा ने निम्न वर्ग की दशा का वर्णन किया है कि उनके पास इतना धन नहीं छोड़ा जाता था कि वे घोड़े पर चढ़ सकते, हथियार बांध सकते, बढ़िया वस्त्र पहन सकते अथवा जीवन की किसी अन्य विलासमय वस्तु का प्रयोग कर सकते।³

1 डॉ० केसनी कुमार चौरसिया, मध्यकालीन हिन्दी सन्त : विचार और साधना, पृ० 19

2 डॉ० हरफूल आर्य, मध्यकालीन समाज, धर्म, कला व वास्तुकला, पृ० 144

3 एस०आर० शर्मा, भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास, पृ० 186

मरीक्य ने निम्न वर्ग के लोगों की आर्थिक स्थिति पर विचार करते हुए बताया कि घरेलू सामान जो कि प्रयोग में लाया जाता था तिनकों की बनी चटाई, सूती बिस्तरे तथा खाना पकाने की हंडिया ही थी। डॉ० अशरफ ने निम्नवर्ग की वेषभूषा के सन्दर्भ में लिखा है कि ये लोग एक धोती या कमर के ऊपर वस्त्रहीन रहते थे और शरीर पर जनेऊ डाले रहते थे। इसी प्रकार अबुल फजल, गिरदानो सिरगिस एवं मूरलैण्ड आदि विद्वानों ने निम्न वर्गीय भारतीयों की गरीबी का जो वास्तविक चित्र प्रस्तुत किया है उनमें भारतीयों की वस्त्रहीनता पर बल दिया है। आर्थिक विषमता के कारण साधारण जनता का आम भोजन खिचड़ी था व दूसरी वस्तु चपाती थी इसके विपरीत शासकों के भोजन में देशी विदेशी असंख्य वस्तुएँ होती थी।¹

अमीर खुसरो के कथनानुसार दरिद्र किसानों की आँखों में उमड़ने वाले रक्तिम आँसुओं की बूँद राजकीय मुकुट की मणियां थी।²

श्री शर्मा के शब्दों में अपनी ही देश में जहाँ दूध और दही की नदियां बहती थी वही उनकी स्थिति लकड़हारों व भिषितियों की सी थी।³

निम्न वर्ग का आर्थिक ढांचा कृषि व उद्योग धन्धों पर आधारित था। जिसका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है जो कबीर युगीन परिवेश का महत्वपूर्ण पक्ष है।

कृषि व्यवस्था

भारत एक कृषि प्रधान देश था तथा यहाँ की 90 प्रतिशत जनता गाँवों में निवास करती थी जिनका प्रमुख व्यवसाय कृषि था। देश की जलवायु, भूमि की उर्वरता तथा सिंचाई के साधन समान थे। अतः कृषि उत्पादन में अनेक विषमताएँ थी। वास्तव में भूमि की श्रेणी उसकी उर्वरता तथा अमुक प्रदेश की जलवायु वहाँ के कृषि उत्पादन की प्रकृति का निर्धारण करती

1 डॉ० हरफूल आर्य, मध्यकालीन समाज, धर्म, कला एवं वास्तुकला, पृ० 145, 146

2 डॉ० केसनी कुमार चौरसिया, मध्यकालीन हिन्दी सन्त विचार और साधना, पृ० 19

3 एस०आर० शर्मा, भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास, पृ० 213

थीं। साधारण कृषक पुराने साधनों हल बैल से खेती किया करते थे। खेती के लिए कृषक मुख्यतः प्रकृति पर ही निर्भर रहता था।¹

कृषकों को कर, लगान आदि देना पड़ता था और लगान निर्धारण करने के लिए भूमि को चार वर्गों में रखा गया था पोलज, परती, चाचर और बंजर। यह वर्गीकरण भूमि में लगातार जितने समय तक फसल ली जाती है, उसके आधार पर किया गया था। पोलज वह भूमि थी जिससे प्रतिवर्ष फसल ली जाती थी। परती भूमि एक फसल के बाद एक साल के लिए परती छोड़ी जाती थी, चाचर भूमि प्रति फसल के बाद तीन या चार साल के लिए और बंजर भूमि पाँच या अधिक वर्षों के लिए परती छोड़ी जाती थी। श्रेष्ठता के अनुसार पोलज व परती भूमि की तीन श्रेणियाँ थी उत्तम, मध्यम और निकृष्ट। इन श्रेणियों की भूमि की प्रति बीघा फसल का अलग-अलग औसत निकालकर पोलज या परती भूमि की प्रति बीघा फसल का अनुमान लगाया जाता था। जैसे यदि पोलज भूमि की उत्तम प्रकार की भूमि में प्रति बीघा 30 मन फसल, मध्यम प्रकार की भूमि में 25 मन और निकृष्ट भूमि 20 मन फसल होती थी पोलज भूमि की औसत प्रति बीघा फसल $75 \div 3 = 25$ मन मानी जाती थी। परती की प्रति बीघा फसल का अनुमान भी इसी प्रकार लगाया जाता था। इस औसत फसल का एक तिहाई भू-राजस्व के रूप में लिया जाता था। चाचर भूमि पर पहले वर्ष राज्य के भाग का $1/5$ दूसरे वर्ष $3/5$, तीसरे और चौथे वर्ष $4/5$ और पांचवे वर्ष पूरा लगान लिया जाता था। बंजर भूमि पर भी इसी प्रकार पहले कम और फिर क्रमशः अधिक लगान लिया जाता था। पाँचवे वर्ष पूरी फसल लगान के रूप में ली जाती थी।²

भारत में कृषक ही खेती के लिए भूमि का प्रयोग करते रहे हैं परन्तु उस भूमि पर उनके स्वामित्व का प्रश्न सदैव विवादग्रस्त रहा है। उपरोक्त तथ्यों के आधार पर स्पष्ट है कि उच्चवर्ग ने लगान व कर की अनेक सीमाएं बना दी थी और उस सीमा तक कृषकों का

1 डॉ० लईक अहमद, मुगल कालीन भारत, पृ० 435

1 डॉ० सुरेश मिश्र, अकबर, पृ० 124-125

शोषण करते थे जिससे वह खेत छोड़कर कहीं और न जाए। डॉ० लईक ने भी इसका उल्लेख किया है कि कृषको के पास केवल उतना ही खाद्यान्न एवं धन रहने दिया जाए जिससे वह साधारण जीवन निर्वाह कर सकें। कृषको की दशा उनके तथा राजस्व अधिकारियों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों पर निर्भर करती थी। कृषक पूर्णतः न केवल अधिकारियों तथा मध्यस्थ जमींदारों पर निर्भर करते थे वरन् वे अपने ग्राम के सर्राफ महाजन एवं साहूकारों पर भी धन के लिए निर्भर रहते थे। यह सभी किसी न किसी प्रकार उसकी स्थिति एवं अज्ञानता का लाभ उठाते हुए उसका शोषण करते रहते थे।¹

आर्थिक दृष्टि से कृषि आम तौर पर शूद्रों का व्यवसाय था। इन किसानों को दो वर्गों में बांटा गया था स्वतंत्र किसान और वे किसान जो बटाई पर कार्य करते थे उन्हें उपज का $1/3$ या $1/4$ भाग मिलता था और किसान मजदूरों को उपज का $1/10$ से $1/4$ भाग तक मिलता था।² बी०एस०एन० यादव का भी यही मानना है कि किसानों में शूद्रों को ही लिया जाता था जिनमें से कुछ औद्योगिक कलाओं से और शिल्पों के साथ अन्य धन्धों में भी संलग्न थे।³

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि कृषि व्यवस्था निम्न वर्ग के लोगों की आर्थिक व्यवस्था का प्रमुख आधार थी। इसके पश्चात् कुछ महत्वपूर्ण शिल्प के सन्दर्भ में तथ्य प्रस्तुत हैं जिससे कबीर के युगीन परिवेश को अधिक भलिभांति समझने में सहायता मिलेगी।

उद्योग धन्धे

किसी भी देश का सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास उसकी अर्थ व्यवस्था पर निर्भर करता है। मध्यकाल में दो प्रकार के उद्योग थे। कृषि पर आधारित तथा गैर कृषि पर आधारित उद्योग। भारतीय कृषक सदियों से कृषि उत्पादन में लगा रहा है। कृषि कार्यों के

1 डॉ० लईक, मुगल कालीन भारत, पृ० 436

2 डॉ० द्विजेन्द्र झा, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० 376

3 बी०एस०एन० यादव, प्रारम्भिक मध्यकालीन व्यवस्था में भारतीय किसान वर्ग की अगतिशीलता और दासता, मध्यकालीन भारत भाग-2

पश्चात् जब भी उसे समय मिलता वह अपने परिवार के सदस्यों के साथ मिलकर किसी न किसी उद्योग में कार्यरत हो जाता था। इस प्रकार के उद्योग लघु उद्योग की श्रेणी में आते थे, जिनमें कृषक तथा उनके परिवार की प्रमुख भूमिका होती थी। कृषि पर आधारित उद्योगों में धान कुटाई, तेल पेराई, रस्सी बटाई, डलिया बनाने, रेशम के कीड़े पालकर उससे रेशम निकालने कपड़ा चुनकर उसमें से बिनौला निकालने, गुड़ या शक्कर बनाने, रेशम की कताई करने जैसे अनेक उद्योग थे, जिनका सम्बन्ध ग्रामीण समाज से था। यह कृषक अपने श्रम से उन सभी वस्तुओं का उत्पादन करते थे, जिनकी आवश्यकता शहरी लोगों को होती थी। गैर कृषि उत्पाद उद्योगों में विभिन्न धातुएं, लोहा सोना, चाँदी, तौबा, कास्य, चमड़ा, कागज, काष्ठ की वस्तुएं, मिट्टी के बर्तन इन सभी वस्तुओं एवं पदार्थों से सम्बद्ध पृथक-पृथक उद्योग थे।¹

उद्योग धन्धों में वस्त्र उद्योग सर्वप्रथम था। जो चरखे तकले और पहिए से बनाया जाता था इसका वर्णन करते हुए इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका ने चरखे को एक ऐसा उपकरण माना है जो केवल कातने की गति बढ़ाता है कोई गुणात्मक सुधार नहीं लाता। सबसे महीन सूत आदिम हाथ से घुमाए जाने वाले तकले और पहिए पर बेहतर ढंग से काता जाता था। चरखा केवल मोटा सूती कपड़ा तैयार करने के लिए प्रयुक्त होता था। परिमाण में बहुत अधिक मात्रा चरखे की देन थी जिसने उत्पादकता में छः गुना वृद्धि की।²

धीरे-धीरे प्रगति के पथ पर अग्रसर वस्त्र उद्योग में बुनकरों की वृद्धि हुई जिसे दो जातियों जुलाहा व कोरी माना गया इस प्रकार बुनकरों के वर्ग का एक जातिगत ढांचा तैयार हुआ जिसमें अन्य जातियों के लोगों का तेजी से विलय हुआ।³

यद्यपि राज्य शिल्प कर्म को प्रोत्साहन देता था, तथापि अधिकतर जुलाहों को सीधे मध्यस्थ लोगो से आर्थिक सहायता मिलती थी, जो अवश्य ही उनका बहुत शोषण करते थे

1 डॉ० लईक अहमद, मुगलकालीन भारत, पृ० 436

2 प्रो० इरफान हबीब, प्रौद्योगिकीय परिवर्तन और समाज, मध्यकालीन भारत, पृ० 25-26

3 वही, पृ० 22

जैसा कि वर्नियर तथा पैलसर्ट के कथन से स्पष्ट है सरदार तथा अफसर उनके प्रति कठोर व्यवहार कर उन्हें पीडा देते थे, उन्हें माल कम दामों पर देने को विवश करते और उनसे निषिद्ध असबाब वसूलते थे। इससे बुनकर और शिल्पी अपने धंधों में आर्थिक मुनाफे से वंचित हो गए।¹

इस प्रकार आर्थिक असमानता से अनेक विवाद समाज में खड़े हो गए थे।

आर्थिक पृष्ठभूमि के तीनों वर्गों का विस्तार से विचार करने के पश्चात् समग्रतः यही कहा जा सकता है कि “मुस्लिम शासन का हिन्दुओं पर जुल्म और अत्याचार था। शासक वर्ग शासित वर्गों को कर द्वारा लूट रहा था। समाज में आर्थिक असमानता के विविध स्तर बन चुके थे अपने देश में हिन्दू समाज भूखा रहता था। अर्थ-विभाजन असमान हो गया था। सामाजिक व्यवस्था पर उसका बुरा परिणाम हो गया था। अमीर धन संचय करते व गरीब भूखे पेट सोते थे। जुलाहे कपडा बुनते, कुम्हार मिट्टी के बर्तन बनाकर जीविका चला रहे थे। धोबी लोगों के कपड़े धोकर चमार जूती बनाकर तेली कोल्हू से तेल निकालकर अपनी जीविका चला रहे थे।² इसके विपरीत शासक व उच्च वर्ग की स्थिति अत्यन्त मजबूत थी। निम्न वर्ग या सर्वसाधारण अत्यन्त हीन भोजन वस्त्र, मकान जैसी आधार भूत आवश्यकताओं के लिए तरसता रहता था, और उच्च वर्ग द्वारा शोषित किया जाता था जब कि समाज को विकसित करने में सबसे बड़ा वर्ग इन्हीं लोगों का था।

मध्यकाल की आर्थिक पृष्ठभूमि से स्पष्ट है कि धन का वितरण असमान था। भ्रष्टाचार द्वारा अधिकाधिक धन संग्रह की प्रवृत्ति थी। यह प्रवृत्ति अत्यन्त दोषपूर्ण व हानिकारक है। इसका एक भयंकर परिणाम यह होता है कि आपसी झगड़े फूट-वैमनस्य की भावना लोगों में फैलने लगती है। “साधारणतः लोगों की धारणा है कि अधिक धन-दौलत से सुख शान्ति

1 डॉ० मजूमदार राय चौधरी, भारत का वृहत् इतिहास, पृ० 285

2 डॉ० वी०डी० नुले, कबीर और तुकाराम के काव्यों में सामाजिकता तुलनात्मक अध्ययन, पृ० 90-91

की प्राप्ति होती है परन्तु ऐसा नहीं है। वैभव सामग्री बाजार में खरीदी जा सकती है लेकिन सुख-शान्ती आनंद नहीं खरीदे जा सकते। और ये नैतिक मूल्यों के विकास से ही संभव है।¹

इस आर्थिक दुरावस्था का विश्लेषण करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तत्कालीन अर्थव्यवस्था के मूल में भ्रष्टाचार का व्यापक प्रसार था। मूलभूत समस्या नैतिक सुधार की है। मानसिकता में परिवर्तन होने पर ही स्थिति में परिवर्तन लाया जाता है।

कबीर दास व दादू दयाल ने इस मर्म को निकट से देखा व भोगा है और अपने काव्य में निम्न वर्ग की दयनीय दशा की अभिव्यक्ति रूपकों के माध्यम से की है।

2.3.1.4 सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एवं परिपार्श्व

सृजनशीलता मानवीय चेतना का केन्द्रीय तत्त्व है, परिस्थितियों की प्रतिकूलताएँ मानव की सृजनेच्छा को अवरुद्ध नहीं कर पाती हैं। अपनी इस इच्छा के बल पर ही मानव नाना वस्तुओं तथ्यों का आविष्कार करता रहता है। इतना ही नहीं वह अपनी अन्तश्चेतना से प्रेरित होकर सांस्कृतिक मूल्यों की रचना के साथ उसका अनुपालन भी करता है। वस्तुतः मनुष्य की यह प्रकाशमयी प्रवृत्ति उसे मानव की संज्ञा प्रदान करती है। संस्कृति से मनुष्य सज संवरकर आप्त आनन्दित होकर दूसरे को प्रसन्न प्रमुदित कर उदात्त मानवीय पथ पर अग्रसर होता है। जिन तत्वों से मनुष्य अपना मानसिक और शारीरिक परिष्कार करता है, और परिष्कार के उपरान्त अपनी उज्ज्वल वृत्तियों समाजोन्नयन तथा राष्ट्रीय उत्थान करता है, संस्कृति है।²

संस्कृति एक ऐसा व्यापक तत्व है, जो मानव के प्रत्येक कार्य, व्यापारों, व्यवहारों, अनुभवों से अनुप्राणित है। संस्कृति मानवीय ज्ञान सदगुण और उत्कर्ष का समष्टिगत पुंज है

1. डॉ० श्रीमती सुशीला सिन्हा, लौह पुरुष कबीर, पृ० 77, 76

2. डॉ० रामसजन पाण्डेय, सन्तो की सांस्कृतिक संसृति, पृ० 1

और साहित्य मानवीय भावनाओं और ज्ञान का श्रेष्ठ संग्रह है। जब से मनुष्य को आत्मबोध हुआ होगा और आत्मोन्नयन की आकांक्षा जागी तभी से संस्कृति और साहित्य की सर्जना प्रारंभ हो गई होगी। कर्म का संकल्प लेकर आगे बढ़ने की चेतना के साथ संस्कृति के तत्व बनने लगे होंगे और भावना के साथ संस्कृति के तत्व अर्जित होने लगे होंगे। इस प्रकार संस्कृति और साहित्य का इतिहास मानव-विकास के इतिहास से जुड़ा हुआ है। संसार के सभी मनुष्यों में अपने विचारों भावों और अपनी मान्यताओं की अभिव्यक्ति करने की भावना रहती है यही 'भावना' और लगन साहित्य और संस्कृति द्वारा पल्लिवत तथा पुष्पित होते रहते हैं।¹

संस्कृति साहित्य की एक विशिष्ट आत्मा है। यही उसका बीज स्वरूप है। बीज अनश्वर है, अर्थात् प्रवाह रूप में नित्य है। वृक्ष शुष्क हो जाने पर भी जैसे उसका बीज रह जाता है, संस्कृति साहित्य का बीज भी ऐसा ही होता है, जाति में वैशिष्ट्य संरक्षित रहे तो जाति जीवित रहती है। जाति का लोप हो जाने पर भी उसके बीज का नाश नहीं होता क्यों कि साहित्य जीवन की धरती का उगा हुआ पौधा है जिसके भाव पुष्पों की सुरभि गगन और जगत को समान रूप से आप्लवित करती है। राष्ट्र की संस्कृति को अनुभूति की अग्नि में पचाकर अपनी वाणी में बसा लेना, मंथन करना और सोये समाज में चेतना का शंख फूंकना साहित्यकारों का धर्म है।²

भारतीय संस्कृति की कहानी अविच्छिन्नता, संश्लेषण और समृद्धि की कहानी है। भारत में इस्लाम के अभ्युदय से फिर कही संघर्ष और संश्लेषण की प्रक्रिया सम्पन्न हुई पर पहले से हजार गुने वेग से। ज्ञात इतिहास में पहली बार ऐसा मौका आया कि भारतीय धार्मिक और सामाजिक पद्धतियों का सामना एक ऐसी पद्धति से हुआ जो उतनी ही सुनिश्चित और सुसम्बद्ध थी। उनकी मनोदृष्टियों में विषमता थी – इससे द्वन्द्व और प्रखर हो गया। हिन्दू धर्म में एक स्वर निवृत्ति और पार लौकिकता का परब्रह्म पर अपना ध्यान केन्द्रित करके वह

1. डॉ० आर्या प्रसाद त्रिपाठी, कबीर साहित्य की सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 18

2. डॉ० आर्या प्रसाद त्रिपाठी, कबीर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 21

सांसारिक मामलो को महत्वहीन मानने लगा। जब भारतीय रगमंच पर इस्लाम का पदार्पण होने लगा, उस समय हिन्दू धर्म में यही स्वर प्रबल था दुनिया के प्रति उसकी दृष्टि भिन्न थी।¹ भारतीय दर्शन ने अपने आपको कभी भी केवल बुद्धि तक सीमित नहीं रखा है बल्कि अपने घेरे में नयी जीवन पद्धति के सन्धान को भी हमेशा शामिल रखा है। अतः भारतीय दर्शन का स्वरूप मूलतः व्यावहारिक है। उसकी प्रवृत्ति न तो एकदम ऐहिक है और न एकान्त रूप से परलोकोन्मुख उसने दोनों का ही पोषण किया है और इस प्रकार मन की संश्लेषण वृत्ति को बढ़ाया है और उसके औचित्य की प्रतिष्ठा की है। संसार की कल्पना इस रूप में की गई है कि वह एक यथार्थ की अनेक रूप अभिव्यक्ति है। यथार्थ और सत्य दोनों को विभेद में अभेद के सर्वव्यापी सिद्धान्त की ही अभिव्यक्ति माना गया। प्राचीन भारतीय चिन्तन धारा की इस सहिष्णुता, संश्लेषण और व्यापकता की भावना ने भारतीय संस्कृति को ऐसा लचीलापन, सहनशीलता और नम्रता प्रदान की कि वह जन-जन के अंतर में रच-बस सकी और प्राचीन परम्परा के जीवन तथा अविच्छिन्नता को भंग करने के सब प्रयत्नों को विफल कर सकी।² इस प्रकार भारतीय संस्कृति में धार्मिक दृष्टिकोण की जो एकता है उसका आधार दार्शनिक भावना है जो देह और आत्मा, बाहरी कर्मकाण्ड और भीतरी सार तत्त्व दोनों का मूल्य स्वीकार करती है। वेदों में भी आर्यों ने धार्मिक अनुभूतियों में मनुष्य की तीव्रतम उत्कटा का परितोष प्रकृति की शक्ति के साथ उसके आध्यात्मिक संसर्ग से माना जाता था।³ अतः भारतीय धार्मिक अनुभव और इतिहास में देह और आत्मा, बाहरी कर्मकांड और भीतरी सारतत्त्व दोनों की महत्ता को स्वीकार किया गया है। जीवन के चार आश्रमों में विभाजित होने की धारणा एक तरह से विशुद्ध भारतीय धारणा है। इसके द्वारा भौतिकता और आध्यात्मिकता, लौकिक सफलता और आध्यात्मिक उत्कर्ष के समन्वय का प्रयत्न किया गया। हर व्यक्ति को जीवन के इन चार स्तरों से गुजरना पड़ता है — ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास।

1 हुमायूँ कबीर, भारतीय परम्परा, पृ० 52

2 हुमायूँ कबीर, भारतीय परम्परा, पृ० 50

3 हुमायूँ कबीर, भारतीय परम्परा, पृ० 48

मनुष्य की इच्छा और कर्म के किसी भी पहलू की उपेक्षा नहीं की गई। जिस उत्कर्ष की कामना की जाती है, उसकी सिद्धि वैयक्तिक और सामाजिक दोनों प्रकार के प्रयत्नों से करनी होती है। जिन मूल्यों की सिद्धि का प्रयत्न व्यक्ति को करना होता है उनकी धारणा में भी यही बात देखी जा सकती है। मनुष्य केवल आत्मान्वेषण के द्वारा पूर्णता नहीं पा लेता – उसे ऐहिक और आध्यात्मिक दोनों ही मूल्यों की सिद्धि करनी होती है। भारतीय चिन्तनधारा में काम अर्थ धर्म और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की कल्पना की गई है। यह चतुर्विध विभाजन ही इस बात का सबूत है कि मानव चरित्र के आर्थिक और राजनीतिक तथा सुखवादी पहलुओं के बराबर स्वीकृति दी गई है। जीव के सभी प्रकार की आवश्यकताओं की व्यापक स्वीकृति से भारतीय धार्मिक दृष्टिकोण में अपार शक्ति आई। इसी प्राण शक्ति का प्रताप है कि वह काल और परिवर्तनों के अघातों को झेलता हुआ और नयी चिंतन पद्धतियों की चुनौती का जबाब देता हुआ आज भी जीवित है।¹

मध्यकाल में हमारी संस्कृति उस समय छिन्न-भिन्न होने लगी जब विदेशी आक्रमण प्रारम्भ हुए। भारत में इस्लाम धर्म के प्रवेश के साथ दो संस्कृतियों में द्वन्द्व प्रारम्भ हुआ। नवागत इस्लाम धर्मी समाज के प्रवेश ने समाज, धर्म, साहित्य सभी पर अपना दुष्प्रभाव छोड़ा। और समाज के लोगों ने इसका मुँह तोड़ जबाब इसलिए नहीं दिया क्योंकि वह भारतीय संस्कृति व दर्शन से अभिभूत थे कि – “मनुष्य ब्रह्म का प्रतिरूप है ब्रह्म परम सत्ता है वह देश काल और आकार से परे है और भौतिक जीवन में जो अपने अपमान सहने पड़ते हैं उनकी उपेक्षा की जा सकती। उन्हें माया समझा जा सकता है और इस जीवन का अन्त होने पर माया का जाल छिन्न-भिन्न हो जाएगा।² परमसत्ता के प्रति इस आग्रह का ही परिणाम था कि भारतीय समाज ने अत्याचार और अन्याय के विरुद्ध विद्रोह नहीं किया और दूसरी संस्कृतियाँ हमारे देश में गहरे तक अपना असर डालती रहीं। इस्लाम धर्म का आगमन इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण भूमिका कही जाएगी।

1. हुमायूँ कबीर, भारतीय परंपरा, पृ० 49

2. हुमायूँ कबीर, भारतीय परंपरा, पृ० 71

विश्व की दो महान संस्कृतियों – हिन्दुत्व एवं इस्लाम का सम्पर्क एक अभूतपूर्व घटना रही है। इसका कारण यह है कि इस्लाम संस्कृति भारत के लिए आगत विदेशी संस्कृति थी। यह ऐसी संस्कृति थी जो जोर जबरदस्ती के बल पर संसार के अनेकानेक देशों में फैलना चाहती थी, जहाँ कहीं भी इस्लाम गया वहाँ उन देशों की सम्पूर्ण जनता को मुस्लिम बना दिया।¹ परन्तु भारतीय हिन्दुओं में अपनी जाति, देश, समाज पर गहरी श्रद्धा थी।¹ अतः भारतीय जनता को शताब्दियों के सम्पर्क में आकर भी मुसलमान नहीं बना पाए। इसी प्रकार आश्चर्य का एक कारण यह भी रहा कि भारत में आकर भी मुसलमान भारत की जनता में घुलमिल न सके जब कि उनसे पहले की यवन, शक, कुषाण-हुण जातियाँ हिन्दू संस्कृति में घुलमिल गईं। इस्लाम आगत संस्कृति होकर यहाँ अपना अलग निजी अस्तित्व बनाए रख सका और भारत जैसा विशाल देश अपनी सम्पन्न अति प्राचीन संस्कृति के बावजूद भी अन्य संस्कृतियों की तरह मुस्लिम संस्कृति को आत्मसात नहीं कर पाया। इस प्रकार दोनों संस्कृतियों का मिलन अदभुत प्रकार का मिलन बनकर रह गया।²

मेवाड और मुगल संघर्ष इसी का परिणाम है। अतः यह काल दो संस्कृतियों के बीच संघर्ष का युग था। एक धर्म दूसरे धर्म को, एक जाति दूसरी जाति को, एक सभ्यता दूसरी सभ्यता को समाप्त करने के लिए तत्पर थी तो दूसरी सभ्यता संस्कृति एवं धर्म आत्मरक्षा में अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए कृत संकल्प तथा दृढ़ ही थी।³

जहाँ एक ओर इस्लाम में कट्टरता थी वहीं हिन्दुत्व में अपने आपको सर्वश्रेष्ठ मानने का अहं। जब कभी दोनों जातियों व संस्कृतियों को मिलाने का प्रयत्न किया गया तो कुछ समय बाद किसी न किसी ने इस प्रयत्न को विफल करने का प्रयत्न कर किए कराए पर पानी फेर दिया। फलतः दोनों संस्कृतियाँ निकट नहीं आ सकीं।⁴ श्री रामधारी सिंह दिनकर

1 डॉ० हरफूल आर्य, मध्यकालीन समाज धर्म, कला एवं वास्तुकला, पृ० 257

2 डॉ० पीताम्बर दत्त बडधवाल, हिन्दू काव्य में निगुर्ण सम्प्रदाय, पृ० 60

3 डॉ० हरफूल आर्य, पृ० 257

4 डॉ० किशनाराम बिश्नोई, युगीन परिवेश और दादू के सरोकार, पृ० 91

ने बड़ा सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत किया है कि इन दोनों धर्मों को एक भूमि पर और एक आकाश के नीचे रहते प्रायः आठ सौ वर्ष हो चुके हैं, किन्तु आठ शताब्दियों की संगति के बाद भी वह नहीं हो सका। एकता का एक आन्दोलन अकबर ने चलाया था, हिन्दू-हिन्दू और मुसलमान-मुसलमान रह गए। दोनों के बीच जो मिश्रण होना चाहिए था उसे औरंगजेब ने काट दिया। दूसरा आन्दोलन महात्माजी ने चलाया उसे जिन्ना ने काट दिया। इस्लाम प्रभावित होने से डरता है, क्यों कि संशोधित, प्रभावित अथवा सुधरा हुआ इस्लाम 'इस्लाम' नहीं है। उधर हिन्दुत्व हमेशा इस बात का अभिमानी रहा है कि हिन्दुत्व के भीतर चाहे 'पतित' ही समझा जाए, वह इसमें जन्मा संसार को अन्य लोगों से श्रेष्ठ हैं। इस्लाम की कट्टरता कि हमारा वही रूप ठीक है जिसे नबी ने परिवर्तित किया था और हिन्दुत्व का यह आग्रह कि धर्म के मामले में हमें किसी से कुछ सीखना ही नहीं है ये दोनों बाते दीवार बनकर इस्लाम और हिन्दुत्व के बीच खड़ी हो रही है।¹

परन्तु वास्तविकता यही है कि जब भी किसी नई संस्कृति का आगमन होता है तब उससे प्रभाव ग्रहण करना स्वाभाविक प्रक्रिया है। हिन्दु धर्म की यह विशेषता ही कही जाएगी कि वह बाहर से आयी हुई संस्कृतियों से मिलकर जाग्रत और नवीन हो जाता है। इस्लाम से हिन्दुत्व का मिलन अनेक अंशों में मंगलकारी भी हुआ। हमारी सभी देश भाषाएं इसी काल में उठकर खड़ी हुई एवं जिस प्राचीन साहित्य का अभिमान ये भाषाएं करती हैं, उसका अधिकांश भाग इस काल में लिखा गया। भारत की मृतपायः कला इसी युग में आकर पुनरुज्जीवित हुई।²

हिन्दु संस्कृति के दयालुता, सुशीलता, उदारता, सहिष्णुता ने अपने सम्पर्क द्वारा मुस्लिम जीवन की बर्बरता को क्रमशः कम कर दिया था।³ हिन्दुओं के बीच अंधविश्वास और

1 डॉ० हरफूल आर्य, मध्यकालीन समाज, धर्म तथा वास्तुकला, पृ० 258

2 रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 398

3 मदनगोपाल गुप्त, मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय संस्कृति, पृ० 151

रुढ़िया बहुत अधिक प्रचलित थी। इनके प्रभाव में मुस्लिम समाज में भी कुछ रुढ़िया उत्पन्न हुई और हिन्दुओं की देखा-देखी मुसलमान जनता की गजनी मियाँ पाँच पीर, पीर बदर, ख्वाजा खिज़्र आदि कल्पित देवताओं की पूजा करने लगी। मुसलमानों के पीर ग्राम देवता बन बैठे और हिन्दु-मुस्लिम सब दरगाह पर माथा टेकने लगे। हिन्दु मुसलमान का छुआ नहीं खाते थे, फिर भी दोनों जातियों के लोग भोज-भात में भी सम्मिलित होने लगे और एक दूसरे के घर में मिठाईयाँ भी उपहार में भेजी जाने लगी।¹ इस प्रकार भारतीय संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति के समन्वय द्वारा मध्यकाल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तैयार हुई। जैसा कि डॉ सावित्री शुक्ला ने भी लिखा है कि मध्यकाल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में भारतीय दर्शन की चिन्तन धारा स्थल-स्थल पर दृष्टिगत होती है। भारत की अनादि काल ने जिस शाश्वत सत्य एवं परमानन्द की अनुभूति की प्राप्ति में दर्शन ग्रन्थों की रचना ज्ञानानुरागियों से कराई उन सभी कृतियों में विचार प्रदर्शनी में चाहे जितनी विभिन्नता रही हो पर सबका उद्देश्य अंत में सभी विभिन्नताओं को एक ही सूत्र में ले आया, जो भारतीय चिन्तन धारा का अजस्र स्रोत बनकर केवल एक ही समस्या के समाधान में रत रही है। हम कौन हैं ? कहाँ से आए हैं ? किसने हमें भेजा है ? कौन लौटाता है ? दुःख क्या है ? दुःख सुख में क्या भेद है ? आत्मा परमात्मा का क्या सम्बन्ध है ? दृश्यमान जगत का वास्तविक स्वरूप क्या है ? सृष्टि निर्माण कर्ता चेतन है अथवा अचेतन ? ईश्वर है अथवा नहीं है ? ये सभी समस्याएं समय-समय पर विभिन्न रूपों में विभिन्न ज्ञानानुरागियों की चिन्तन क्रिया में मंथन स्वरूप विभिन्न वादों, रूपों एवं कलेवरों में आती रही, परन्तु उन सबों में भावों की एक रूपता लौकिक एवं पारलौकिक चिन्तन और तथाकथित दुःख, पीडा एवं अवसाद पर विजय पाकर जीवन जगत में सब सुन्दर है, सब श्रेष्ठ है और अन्त में परमानन्द से साक्षात्कार की भावना को ही प्रतिपादित किए रही।²

मध्यकाल में “सांस्कृतिक चेतना” की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति सार्वभौम सत्य के आधार पर प्रतिष्ठित धार्मिक भावना और दार्शनिक चिन्तन धारा के माध्यम से हुई है।

1 रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 393

2 डॉ० सावित्री शुक्ल, सत साहित्य की सामाजिक व सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ० 116

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में “भारतीय जीवन में समय-समय पर विदेशी और विजातीय तत्वों की आते रहने के कारण परस्पर संघात होते रहे हैं परन्तु इन्हीं से जीवनी शक्ति का भी संचार होता रहा है कि हम डूबते-डूबते भी उबरते चले आए हैं, निस्तेज या निष्प्रभ न होकर नव-जीवन की अरुणिमा से महिमा मंडित होते रहे हैं। इन सबके मूल में हमारी समन्वय साधना की प्रवृत्ति उजागर रही है जो ब्राह्मण युग (ई० पू० 800 से ई० पू० 600 तक) से ही उत्तर-भारत में व्याप्त हो चुकी थी। दक्षिण भारत में यह प्रवृत्ति बाद में उभरी। वैदिक देवी-देवताओं के वाह्य विधानों से बिदककर श्रमण संस्कृति के उन्नायकों ने जीवन का नया पथ खोज निकालने का यत्न प्रारम्भ किया, परन्तु गुप्त साम्राज्य की स्थापना के बाद अनन्तर दोनों ही क्षयमान हो गए। मौर्य साम्राज्य के विखराव के पश्चात् ब्राह्मणवाद का नए ओज के साथ अभ्युत्थान हुआ। पुष्यमित्र के शासन काल में समाज को सुव्यवस्थित करने के लिए सूत्रों-स्मृतियों की व्याख्या तथा रचना होने लगी और गौ ब्राह्मणों की सुरक्षा की व्यवस्था की गई। यह ब्राह्मणवाद नव ब्राह्मणवाद कहलाया क्यों कि इसमें श्रमण, द्रविड तथा अन्य आदिवासियों के मत और मान्यताएँ परस्पर एकीभूत हो गयी थी। इस युग में पुराणों की रचना हुई और पुराणकालीन समन्वित संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ। जब इस्लाम संस्कृति का भारत में प्रवेश हुआ तो यही हिन्दू-संस्कृति यहाँ चल रही थी। इसमें परम्परा दृष्टि भेद, रुचि वैविध्य, देशकाल और तत्कालीन समाज से प्रेरणा ग्रहण कर उन्होंने तदनुरूप सांस्कृतिक आयोजनों को महत्व दिया और धार्मिक सहिष्णुता एवं उदारता का परिचय देकर समन्वित संस्कृति को महत्व दिया, जिसका प्रभाव कला, साहित्य, संगीत आदि क्षेत्रों में दिखाई पड़ा।¹

मध्यकाल में भारतीय समाज उन संघर्षमय धार्मिक चेतना की परिस्थितियों से गुजर रहा था, जो नाना प्रकार के भेदों एवं विरोध के मध्य समन्वय करने के लिए प्रयत्नशील थीं। उस युग में एक ओर वैदिक संप्रदाय था तो दूसरी ओर इनका विरोधी नाथ सम्प्रदाय ब्राह्मण

1. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, पृ० 137-38

धर्म का विरोध कर रहा था। बौद्ध धर्म हीनयान और महायान दो वर्गों में बट चुका था। हनियान पर वैदिक धर्म की औपनिषद धारा का प्रभाव था। महायान जीवन और धर्म के व्यावहारिक पक्ष पर जोर देता था। साधकों ने इस महायान के विकृत रूप मन्त्रयान को संशोधित करके वज्रयान बनाया। चौरासी सिद्धों ने वज्रयान अर्थात् व्यक्तिगत निर्मल चरित्र पर आधारित धार्मिक साधना एवं सामाजिक क्रान्ति को जन्म दिया। किन्तु कुछ समय बाद यह साधना पद्धति भी विकृत हो गई और नाथ पंथी साधकों ने हठयोग की साधना प्रचलित की किन्तु कुछ समय बाद यह साधना पद्धति भी विकृत हो गई क्यों कि यह अत्याधिक कठोर थी।¹ उपरोक्त तथ्यों को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि मध्यकाल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि अत्यन्त विसंगतियों से परिपूर्ण थी। मध्यकाल में दो धार्मिक संस्कृतियों के सन्धि का भी युग था हिन्दू संस्कृति में भी धर्म प्रधान था। नाथ, सिद्ध, जैनी, आचार्य आदि न केवल धर्म के प्रचारक थे अपितु पूरा का पूरा मध्ययुगीन राजनीतिक, सामाजिक जीवन इनके सिद्धान्तों पर आधारित था या यूँ कहा जाए कि पूरा का पूरा नाथ, सिद्ध, जैन, शाक्त, वैष्णवभक्त समाज को टुकड़ों में बॉटकर उन पर हावी हो रहा था और आपसी विद्वेष खड़ा करके संघर्षों द्वारा समाज को दुर्बल कर रहा था। दूसरा धर्म जिसके साथ हिन्दू संस्कृति और धर्म का समन्वय नहीं हो पा रहा था, वह था इस्लाम धर्म, बौद्ध धर्म जहाँ से शुरू हुआ था वहीं समाप्त हो गया, लेकिन मुलसमान आक्रमणकारियों के द्वारा मुस्लिम संस्कृति और सभ्यता के साथ मुस्लिम धर्म का प्रवेश भारत में हुआ। जिससे धार्मिक कुरीतियों वाह्याडम्बारों और अत्याचारों से पीड़ित निम्न वर्ग को पनाह मिली।

दोनों संस्कृतियों के अपने नियम थे। मुस्लिम संस्कृति की कट्टरता और धर्म परिवर्तन की नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई। और इन दोनों धार्मिक सम्प्रदायों का साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा। साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अपने परिवेश को प्रतिबिम्बित ही नहीं करता वरन् उसे परिवर्तित भी करता है क्यों कि रचनाकार अपनी पूर्ण चेतना में न

1 जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल, हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ० 136

केवल अपना युग जीता है बल्कि अपना अतीत और आगत दोनों जीता है इसीलिए उसकी रचना धार्मिता जो रचती है उसका मूल्य अक्षुण्ण होता है।¹

कबीर और दादू ने अपनी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से ऊर्जा ग्रहण कर साहित्य सृजन किया।

2.3.1.5 साहित्यिक पृष्ठभूमि एवं परिपार्श्व

साहित्य मनुष्य के भाव विचार और भाषा का समादृत स्वरूप है। कालानुक्रम से मानवीय प्रवृत्तियों में विकासात्मक परिवर्तन होते रहते हैं। मानवीय विचार धारा के दो श्रोत होते हैं – एक आध्यात्मिक और दूसरा भौतिक। आध्यात्मिक विचार धाराएं नित्य, सत्य और सनातन होती हैं। इनमें किसी भी प्रकार का हास अथवा विकास नहीं होता। केवल भौतिक विचारधाराएं ही परिवर्तनीय हैं क्योंकि वे किसी विशेष परिस्थिति से उदभूत आवेशात्मक प्रवृत्ति से सर्वथा प्रवाहित रहती हैं जो प्रतिकूल परिस्थिति व वातावरण में ग्राह्य व उपयुक्त नहीं होती।

मध्यकाल की साहित्यिक पृष्ठभूमि में अनेक अन्तर्विरोध कार्य कर रहे थे। एक तरफ तो संस्कृत के ऐसे बड़े-बड़े कवि उत्पन्न हुए जिनकी रचनाएं अलंकृत काव्य परम्परा की चरम सीमा पर पहुँच गई थीं और दूसरी ओर अपभ्रंश के कवि हुए जो अत्यन्त सरल सहज भाषा में अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में अपने मार्मिक मनोभाव प्रकट करते थे।

मध्यकालीन निर्गुण भक्ति काल की साहित्यिक पृष्ठभूमि इसी चेतना के साथ निम्न रूप में दिखाई देती है।

सिद्ध साहित्य

सिद्ध साहित्य बौद्ध धर्म से विकसित सहजयानी सम्प्रदाय की मूलचेतना वृत्तियों पर निर्मित है। सिद्ध साहित्य में उनकी साधना प्रणाली दो रूपों में व्यंजित हुई है। एक विद्या वह

1 डॉ० रवीन्द्र कुमार सिंह, सत काव्य की सामाजिक प्रासंगिकता, पृ० 38-39

है जिसमें सामान्य जीवन को प्रभावित करने की चेष्टा निहित है। दूसरी विधा में गोपन शब्दावली द्वारा सैद्धान्तिक तत्वों के निरूपण का आग्रह है।¹

सिद्ध साहित्य की सर्वश्रेष्ठ विशेषता विद्रोहात्मक है रूढियों, वाह्यचारों, कर्मकाण्डों, प्रचलित मान्यताओं का कटु विरोध। अभी तक सभी विचार पद्धतियाँ जीवन और जगत से उद्धार, संयम, नियमन और दमन के मार्ग से सम्भव थी किन्तु सहजयानियों ने इस पद्धति के खोखलेपन को स्पष्ट किया। उन्होंने अस्वाभाविक खोखला और प्रवचना पूर्ण बताते हुए राग के मार्ग से विराग की प्राप्ति सम्मुख रखी कर्मकाण्ड और वाह्याचार के क्षेत्र में सहजयानी सिद्धों ने माला फेरना, हवन करना, तीर्थाटन, मूर्तिपूजा, होम यज्ञादि, स्नानादि व्यर्थ माना है क्यों कि इससे शुचिता नहीं आती।

सिद्धों कवियों ने अपने सिद्धान्तों और आदर्शों की अभिव्यक्ति के लिए जन-साधारण की भाषा का आश्रय लिया। उस समय अपभ्रंश ही जन-साधारण की भाषा थी। सिद्ध कवियों की रचनाओं में बुद्धि तत्त्व प्रधान था। शान्त और श्रृंगार रस सिद्ध साहित्य में स्वाभाविक रूप से प्रयुक्त हुए हैं। सिद्ध साहित्य में चर्यागति, छप्पय, सोरठा दोहा तथा चौपाई आदि अनेक छन्दों का प्रयोग किया गया है, किन्तु उसमें विशेषतः चर्यागीत और दोहे की ही प्रधानता है। सिद्ध कवि अपने मतों का प्रचार जन साधारण में करना चाहते थे इसीलिए उन्होंने दोहा और चौपाई जैसे लोकप्रिय छन्द को चुना।² सिद्ध कवियों के इसी सिद्धान्त एवं आदेश को आगे चलकर सन्त कवियों ने अपनाया क्यों कि गम्भीर विचारों की सुन्दरतम अभिव्यक्ति के लिए दोहा छन्द अत्यन्त उपयुक्त है।

अपनी अनुभूतियों, चिन्तन रेखाओं तथा साधना स्वरूप को व्यक्त करने के लिए इस धारा के साधकों ने ग्रह्य प्रतीकों और पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार किया है। सिद्धों की रचनाओं में साधनापरक रहस्यवाद पाया जाता है, उन्होंने विशेष रूप से ऐसी शब्दावली,

1 दयानन्द श्रीवास्तव, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 52

1. डॉ० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 5,6,7

संकेतो और प्रतीको का विधान इसलिए किया था जिससे उनके सिद्धान्तों की गोपनीयता रक्षित रह सके।

यह अटपटी भाषा या 'मिस्टीरियस स्पीच' (रहस्यमयी वाणी) कहलाती है। यह गम्भीर रहस्यों का उदघाटन कर सही मार्ग का प्रदर्शन करने वाली भाषा है। ह्वेनसांग ने भी इसे "गुह्य अभिप्राय वाली भाषा" कहा है। इसके लिए भगवान तथागत का यह भी आदेश था कि औपम्य द्वारा अर्थात्, अप्रस्तुतों तथा प्रतीकों द्वारा नियोजित औपम्य कथा या रूपकों द्वारा ज्ञान को सरलता से रखा जा सकता है क्यों कि उससे सुविज्ञजन तत्त्व को तत्क्षण ग्रहण कर लेते हैं।

इस रहस्यवादी भाषा को योगियों की महाभाषा कहा गया है, जिसमें समय (वृद्धति) के संकेतों का विस्तार है। इन्हीं प्रतीकों का प्रयोग कर सिद्धों ने ऊपर से लौकिक श्रंगार परक लगने वाले पदों में प्रज्ञोपायात्मक कमल कुलिश योग के गम्भीर अर्थों के संकेत समविष्ट कर दिए थे। टीकाकारों ने इन प्रतीकों के गुह्य अर्थ ढूँढकर इनके ममार्थों का प्रकाशन किया। इन प्रतीकों का उद्गम विज्ञानवादी दर्शनों से हुआ। विज्ञानवादी ग्रन्थों में जिन अप्रस्तुतों तथा उपमानों के द्वारा तथता और विज्ञप्तिमात्रता का सिद्धान्त समझाया गया है। उनमें बहुत से अप्रस्तुत ज्यों के त्यों सिद्धों के साहित्य में मिलते हैं और प्रतीक व अप्रस्तुत सिद्धों ने तत्कालीन जनजीवन से ग्रहण किए हैं।¹

संधा भाषा या अटपटी भाषा में ही आगे चलकर सन्त कवियों ने वेदमार्गों पंडितों और जिज्ञासुओं को ललकारा है। मध्यकाल की पृष्ठभूमि में संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में जिस साहित्य की सृष्टि हो चुकी थी उसका वातावरण तो किसी न किसी रूप में बना हुआ ही था, किन्तु भाषा में भी साहित्य की सृष्टि हो रही थी भाषा-साहित्य प्रबन्ध और मुक्तक, दोनों धाराओं में प्रवाहित हो रहा था। लोक गाथाओं में लोक तत्व की प्रधानता

1 जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल, हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ० 76, 77

थी, जिसकी विशेषता थी लोक मान्यताओं की प्रतिष्ठा लोक भाषा के अतिरिक्त, लोकोक्तियों, मुहावरों में भी लोक तत्त्व प्रतिफलित हो रहा था। लोक नीति भी इस तत्त्व को प्रोत्साहित कर रही थी।

आध्यात्मिक अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए लोक के सामान्य जीवन से जुड़े कृषक और शिल्पी जीवन से अपनी रूपक संरचना को आधार दिया।

रूपक योजना साहित्य की एक अनूठी विशेषता है जिसकी परम्परा, ऋग्वेद, अथर्ववेद से प्रारम्भ होती है।

रूपक के माध्यम से साधना विधि का प्रकाशन सिद्ध साहित्य की अभिव्यंजना प्रणाली का मुख्य गुण है। साहित्य में युग जीवन की सापेक्षता विद्यमान रहती है। यह सापेक्षता सिद्धों की रचनाओं में भी विद्यमान है। अपने युग के सामाजिक स्वरूप का अप्रस्तुत विधान के रूप में सिद्ध साहित्य के रचनाकारों ने ग्रहण किया है। अपने युग का साधारण जीवन स्वरूप और लोक जीवन की दैनिक चर्या यहाँ प्रतिबिम्बित है। 'रूई धुनने व कपड़ा बनने के रूपक में भी युग जीवन का स्वरूप सापेक्ष रूप में विद्यमान है।'¹

सन्त साहित्य ने इसी रूपक योजना के द्वारा युगजीवन के अन्तर मन को प्रतिबिम्बित किया है। कबीर और दादू ने भी युग की संघर्षमूलक भूमिका से अपने व्यक्तित्व का निर्माण किया है। कबीर तथा दादू दानों के साहित्य में दो स्पष्ट धाराएं मिलती हैं। प्रथम में दर्शन व साधना प्रणाली का सम्प्रेषण है। द्वितीय वर्ग में युग जीवन के आकलन की, गतिरोध उत्पन्न करने वाली शक्ति के विध्वंस की और समाज संस्करण की चेष्टा मिलती है। इनकी इस चेतना का प्रभाव उनको रूपक संरचना पर भी दिखाई देता है।

सिद्धों से ही सामान्य जीवन की अनुभूति-योजना का आधार ग्रहण कर अनुराग के संस्पर्शों से रेखांकित पदों व्यापकता से सन्तों ने काव्य पक्ष की अवतारणा की है। जीवन

1 दयानन्द श्रीवास्तव, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 58

धर्मी व्यापारों को साधन रूप में ग्रहण करने के कारण ही सन्त लोक जीवन को संस्पर्शित कर सके थे और लोक मानस में अपने व्यक्तित्व का संस्थापन कर सके थे उनकी वाणियों में लोक मानस अपनी संवेदनाओं का प्रतिबिम्ब पा लेता है।¹ यही उनकी रूपक संरचना का आधार भी है।

इस प्रकार सिद्धों व नाथों से चली आ रही परम्परा को ही सन्त कवियों ने आत्मसात् किया है। आज जिन सन्त साधकों की रचनाओं से हिन्दी साहित्य गौरवान्वित उन्हें बहुत कुछ बनी बनाई भूमि मिली थी।

संतों का पूर्ववर्ती साहित्य प्रयोजन साध्य था। सिद्धों ने संस्कृत को न अपनाकर जन-जीवन से सामीप्य प्राप्त करने के लिए लोक भाषा में साहित्य निर्माण किया। यह लोकभाषा अपभ्रंश की भजनावशेष थी और उसका कोई निश्चित व्याकरणिक रूप न होने के कारण इसे सन्ध्या भाषा कहा जाने लगा। निर्गुणियों ने भी इसी तरह की भाषा में अपना मत प्रचार किया इस भाषा में रूपक-योजना का सुन्दर विधान था और कबीर आदि सन्तों ने इस सुविधा का पूर्ण उपयोग किया।

सृजनात्मक जीवन दृष्टि ऐतिहासिक युग के आवश्यकता नुरूप नवीन जीवन मूल्य और मानवीयता के वृहत्तर संदर्भ तलाश कर लेती है। मध्यकाल की साहित्यिक पृष्ठभूमि में लोक चेतना की सकारात्मक जिजीविषा और जीवन की विवेकशील व्याख्या के अतः सूत्र बिखरे हुए हैं जिन्हें कबीर और दादू ने अपनी सृजनात्मकता का आधार बनाया।

कबीर व दादू की काव्यात्मक बुनावट पर तथा उनकी विचारधारा पर सिद्ध साहित्य, नाथ पंथी योगियों के साहित्य का गहरा प्रभाव है। सिद्धों और नाथों ने उलटवासियों, रूपकों और अन्योक्तियों में परिभाषिक शब्दों का प्रयोग दोहरे अर्थों में किया है। कबीर व दादू प्रेम और भक्ति का रूपक देकर इन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग दोहरे अर्थों में किया है। कबीर

1. दयानन्द श्रीवास्तव, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 349, 50, 51

दादू प्रेम और भक्ति का रूपक देकर इन पारिभाषिक शब्दों के अभिप्रायों को मध्ययुग की सामाजिक आवश्यकताओं के संदर्भ में नई प्राणवत्ता दे दी है जिनमें जुलाहों, बुनकरों, व्यापारियों और खेतिहरों के विभिन्न पेशे से सम्बन्धित शब्दावली का उपयोग कबीर व दादू के काव्य में बहुतायत से हुआ है, क्योंकि आध्यात्मिक अनुभूतियों को स्पष्ट करने में रूपकों से भरी भाषा का प्रयोग ही किया जाना आवश्यक है, और कबीर व दादू ने अपने जमाने की जीती जागती रोजमर्रा की भाषा में अपनी बानियों की रचना की है जिससे आज भी जनमानस में सजीव व्यंजकता का संचार कर रखा है।

जैसा लोहा घड़े लुहार, कूटिकाट कर लेवे सार।
त्यूँ रज्जब सतगुरु का खेल, ताते सभी मार सब झेल॥

तृतीय अध्याय

कबीर के काव्य में कृषक जीवन सम्बन्धी रूपक : स्वरूप विश्लेषण एवं अर्थव्यंजना

भूमिका

- 3.1. ऊसर खेत सम्बन्धी रूपक
- 3.2. बीज सम्बन्धी रूपक
- 3.3. उपज सुरक्षा सम्बन्धी रूपक
- 3.4. प्रकृति सम्बन्धी रूपक
 - 3.4.1 वृक्ष सम्बन्धी रूपक
 - 3.4.2 बेल सम्बन्धी रूपक
 - 3.4.3 फल—फूल सम्बन्धी रूपक
 - 3.4.4 वर्षा सम्बन्धी रूपक
- 3.5. सामन्ती जीवन सम्बन्धी रूपक
- 3.6. कृषक दुर्दशा सम्बन्धी रूपक

कबीर के काव्य में कृषक जीवन सम्बन्धी रूपक : स्वरूप विश्लेषण एवं अर्थव्यंजना

किसी युग की परिस्थितियाँ उस युग के स्वरूप को स्थिर ही नहीं करती वरन् कवियों को नयी अनुभूतियाँ नयी विचारधाराएँ व नयी भावनाएँ प्रदान करके काव्य को युग से सम्बन्धित कर देती हैं। अनुभूति युग से प्रभावित होती है, जिसे कवि अपनी प्रतिभा के आधार पर अभिव्यक्ति द्वारा रूप प्रदान करता है। अनुभूति की अभिव्यक्ति ही काव्य है जिसके लिए कवि का युगीन परिवेश महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है क्योंकि युगीन प्रभावों से ही कवि की अनुभूति को जन्म मिलता है और काव्य के स्वरूप को समझने के लिए युग का ज्ञान अपेक्षित है। कवि युगीन परम्परा में अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए सचेष्ट रहता है और इसके लिए उसका युगीन परिवेश सहायक होता है। जिसका विवेचन हम पिछले अध्याय में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक व सांस्कृतिक-साहित्यिक परिवेश के अन्तर्गत कर चुके हैं।

कबीर के काव्य का अप्रस्तुत विधान विशेषकर रूपक उनके परिवेश की देन है। रूपकों के माध्यम से कबीर ने तत्कालीन जनसमुदाय की युग चेतना युग-बोध और युग सन्दर्भ में जीवन की सार्थकता और लक्ष्य की सफल व्यंजना की है।

कबीर का ये पद उनके रूपकों के सन्दर्भ में भी सही है —

एक जुगुति एकै मिलै, किंवा जोग की भोग।
इन दोनिउँ फल पाइए राम नाम सिधि जोग रे॥
तुम्ह जिनि जानौ गीत है, यह निज ब्रह्म विचार।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे॥
चरन कँवल चित लाइए, राम नाम गुन गाइ।
कहै कबीर ससा नहीं, भुगति मुकति गति पाइ रे॥¹

1 कबीर वाङ्मय सबद खण्ड 2 पद 97, पृ० 122

कबीर अपनी कविता को जीवन के दोनो पक्षो श्रेयस व प्रेयस का नियामक मानकर चलते हैं। उनके अनुसार उसका बाह्य पक्ष (गीत) उनके अप्रस्तुत विधान की व्यजना करता है जबकि उनकी कविता का आन्तरिक पक्ष 'निज ब्रह्म विचार' के माध्यम से आत्म-साधना का सार प्रस्तुत करता है। उनकी काव्य चेतना मुक्ति व भुक्ति दोनो से जुड़ी हुई है। यही कबीर के रूपको का स्वरूप है। कबीर के रूपको का अप्रस्तुत विधान कृषक शिल्पी आदि विभिन्न जीवन सदर्थों के चित्र प्रस्तुत करता है साथ ही उसी के माध्यम से कबीर जीवन साधना के अनेक बिम्बों की व्यजना करते भी दिखाई देते हैं।

कबीर की अपनी सखियों के सदर्थ में की गई निम्न उद्घोषणा भी कबीर के रूपको की चेतना को समझने के लिए दिशाएँ देती हैं —

हरि जी यहै विचारिया, साषी कहै कबीर।
भौ सागर मे जीव है, जे कोई पकडे तीर।।¹

कबीर अपनी सखियों में साक्षी बनकर आते हैं। वे साक्षी हैं, उस जीवनानुभूति के जो उनकी सखियों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनो रूपों में हुई है। उसी जीवनानुभूति को पकड़ना जीवन रूपी ससार को पार करने के लिए वे जीवन मात्र को प्रेरणा देते हैं। भवसागर केवल आध्यात्म साधना से ही पार नहीं होता। कबीर का काव्य केवल आध्यात्मिक अनुभूति पर ही टिका हुआ नहीं है। आध्यात्मिक अनुभूति की व्यजना जिन अप्रस्तुतों के माध्यम से हुई है, वह भी कबीर की अनुभूति के विषय है। वह अनुभूति भी जीवन साधना को दिशा देने वाली है।

कबीर की काव्य चेतना व रूपक चेतना की विद्वानों ने केवल आध्यात्मिक बिम्ब तक ही सीमित रखा है। डॉ० हरिहर प्रसाद गुप्त भौसागर का अर्थ मोह-द्वेष आसक्ति व पतनोन्मुखी विचारों के प्रतीक के रूप में लेते हैं व अधिकार से प्रकाश व गति द्वारा ही मुक्ति सम्भव मानते हैं।

1 कबीर वाङ्मय भाग-3 (साखी), उपदेश को अग, पृ० 234

प्र० पुष्पपाल सिंह ने इस साखी (हरितीर) की व्याख्या करते हुए कहा है कि संसार समुद्र में बहुत से जीव तरने की आशा में पड़े हैं, कदाचित कोई कबीर की सखियों का सम्बल पाकर ही भवसागर से पार हो जाए।¹

डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र ने भी कबीर के काव्य की प्रेरणा को ईश्वर की दिव्य प्रेरणा व उनके काव्य प्रयोजन को मानव के अत्यान्तिक कल्याण की कामना कहा गया है।²

डॉ० मिश्र कबीर के काव्य पर विचार करते हुए जिस प्रयोजन की बात करते हैं, यह तो वही जाने लेकिन कबीर के काव्य की रूपक चेतना अपनी दोनों ही दिशाओं को पकड़कर मानव को आध्यात्मिक कल्याण की ओर अग्रसर करती है। यह सही है कि कबीर के काव्य का मूल लक्ष्य आध्यात्मिक चेतना से मानव के वैयक्तिक जीवन बिम्बों का ही निर्माण करना है, लेकिन उसके मूल प्रेरक के रूप में कहीं न कहीं सामाजिक चेतना के जीवन बिम्ब भी हैं जो उनकी रूपक संरचना के बाह्य संरचना के स्वरूप में बसे हुए हैं।

ग्रामीण अर्थव्यवस्था सदैव से ही कृषि पर आधारित रही है। कबीर के काल में भी ग्रामीण जन समुदाय विशेष कर कृषि व्यापार पर आधारित था। कृषक जीवन का पर्याय उसका कृषि कार्य है। कृषि सम्बन्धी कार्य व्यापार और स्थितियों को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से अपनी अनुभूति का विषय बनाते हुए कबीर ने आध्यात्मिक चेतना से जोड़ा है।

कृषि कार्य में 'खेत' वह आधार है जिस पर सम्पूर्ण कृषि प्रक्रिया अपनाई जाती है। आध्यात्मिक अर्थ में हृदय वह आधार है जिसमें अध्यात्म रूपी खेती की जाती है। खेत या भूमि दो प्रकार की होती है – कालर व उपजाऊ कालर भूमि सूखी खुरदरी व शुष्क होती है जिसमें गुणवत्ता न के बराबर होती है व अनेक प्रयत्नों के बाद भी खेती सम्भव नहीं हो पाती जबकि उपजाऊ भूमि में सारे गुण कालर भूमि के विपरीत होते हैं। आध्यात्मिक अर्थ

1 कबीर ग्रन्थावली सटीक, पृ० 223

2. कबीर ग्रन्थावली, पृ० 126

मे इसे क्रमशः साधनाहीन या साधना युक्त हृदय रूपी खेत के सन्दर्भ में लेते हुए कबीर ने अनूठा काव्य रचा है।

3.1 ऊसर खेत सम्बन्धी रूपक

कबीर की काव्यात्मक अभिव्यक्ति जीवन के दोनों पक्षों एक ओर आध्यात्मिक उपलब्धि व दूसरी ओर लौकिक जीवन की उपलब्धियों की व्यजना करती है। बजर खेत या कालर खेत कृषक जीवन का उपयोगिता रहित उपादान है। कबीर ने बजर भूमि के उपादान से अनेक रूपकों में जीवनदृष्टि प्रदान करते हुए जीवन की अर्थवत्ता की ओर संकेत किया है। देखिए —

हरिजन सेती रूसणा, ससारी सू हेत।
ते नर कदे न नीपजे, ज्यो कालर का खेत॥¹

प्रस्तुत साखी में रूपक का विश्लेषण अनेक विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से किया है—

प्रो० पुष्पपाल सिंह के शब्दों में जो लोग प्रभु भक्तों से अप्रसन्न रहते हैं और ससार बद्ध लोगों से प्रेम करते हैं वे उसी प्रकार कभी समृद्ध नहीं होते जिस प्रकार बजर भूमि में कुछ नहीं उगता अर्थात् कल्लर भूमि की भाँति ऐसे लोगों में भक्ति का आविर्भाव नहीं होता।²

पुष्पपाल सिंह की व्याख्या इस साखी के तीसरे चरण की व्याख्या के रूप में अस्पष्ट दिशाओं की ओर जाने लगती है।

डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र की व्याख्या के अनुसार — जो व्यक्ति भक्तों से रूष्ट रहता है और विषयी व्यक्तियों के साथ स्नेह करता है उस व्यक्ति में भक्ति के अकुर उसी प्रकार नहीं जम सकते जैसे नमक या खार प्रधान धरती में कोई वनस्पति नहीं उगती।³

1 डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, कबीर वाङ्मय साखी (3), कुसगति को अग, पृ० 102

1 डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र, कबीर ग्रन्थावली, पृ० 108

2 डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, कबीर वाङ्मय, साखी, कुसगति को अग, पृ० 201

डॉ० जयदेवसिंह वासुदेव सिंह के शब्दों में — जो प्रभु भक्तों से रोष करते हैं और विषयी लोगों से अनुराग रखते हैं, कुसंग के सम्पर्क में रहते हैं उनका कभी भी उत्थान नहीं हो सकता। उनके भीतर तत्त्वज्ञान व भक्ति के अंकुर उसी प्रकार नहीं फूटते जिस प्रकार ऊसर खेत में कोई बीज नहीं उग सकता।

हरिहरप्रसाद गुप्त की व्याख्या के अनुसार कबीर हरिजन और विषयासक्त पुरुषों के सन्दर्भ में विचार करते हुए कहते हैं कि यदि मनुष्य को आध्यात्मिक सुख-शांति चाहिए तो उसे हरिजनों की संगति करनी चाहिए और विषयी स्वार्थी लोगों से दूर रहना चाहिए। जो सांसारि से प्रीति करेगा और हरिभक्तों का तिरस्कार करेगा वह कभी पनप नहीं सकता अपने असत्याचरण के कारण जैसे ऊसर अथवा रेह में कुछ भी उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार जिसका मन दुर्भावों से भरा है, कपट से युक्त है, उसमें सतोगुण का उदय संभव नहीं है।¹

उपर्युक्त तीन विद्वानों की व्याख्याएँ कबीर की उस पहचान तक चली जाती हैं जो कबीर के रूपकों की संरचना की अपनी पृष्ठभूमि में है।

‘संसार’ को खेत के रूपक में लेकर जीवन में अच्छे व बुरे कर्मों की खेती से प्राप्त फल की प्राप्ति के सन्दर्भ में कबीर की ये प्रस्तुति अत्यन्त सफल बन पड़ी है कि कृषक खेत में अन्न उत्पन्न करता है। जैसा कि पहले भी बताया गया है कि खेत दो प्रकार के होते हैं — उपजाऊ व कालर। उपजाऊ भूमि के स्पर्श पर गुणवत्ता का अनुभव होता है इसके विपरीत बंजर भूमि में नमक की मात्रा अधिक होती है व उसकी उर्वरा शक्ति का हास हो चुका होता है, अनेक प्रयत्नों पर उसमें उपज सम्भव नहीं हो पाती। इस रूपक की आध्यात्मिक व्यंजना के अनुसार संसार ‘खेत’ के रूप में है जिसमें जीव अपने जीवन प्रक्रिया द्वारा खेती करता है जिससे अच्छे व बुरे कर्म भावना के सात्विक व तामसिक रूप हैं। प्रभु प्रेम रूपी भावना से जिसका जीवन युक्त होगा वह उस उपजाऊ खेत की भांति होगा जिसमें अवश्य ही भक्ति

1. डॉ० हरिहरप्रसाद गुप्त, कबीर ग्रन्थावली (भाग-1), पृ० 206

रूपी अंकुर फूटेगा, यदि जीवन भावना विहीन अर्थात् प्रभु प्रेम से वियुक्त होगा तो वह कालर खेत के सदृश अनेक प्रयत्न के पश्चात् भी निष्फल रहेगा।

बंजर भूमि का सन्दर्भ लेकर कबीर का अगला पद द्रष्टव्य है जिसमें कृषक की प्रक्रिया से साधना प्रक्रिया को जोड़ा गया है —

ज्ञान कुंदार ले बंजर गोडे, नाम का बीज बुवावै।
सुरत सुरावन नय कर फेरे, ढेला रहन न पावै।
उलटि-पलटि के खेत को जोते, पूर किसान कहावै।¹

उपरोक्त पंक्तियों में बंजर भूमि का सन्दर्भ लेकर साधना की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। बंजर भूमि सूखी, शुष्क, पथरीली अनेक ढेलों से युक्त होती है किसान को उसे उपजाऊ बनाने के लिए अथक परिश्रम की आवश्यकता होती है, जिसमें कुदाल द्वारा गुड़ाई की जाती है व कंकड़ पत्थर को हटाकर उसे समतल बनाया जाता है। इस सन्दर्भ में आर्याप्रसाद त्रिपाठी ने भी ढेलों को फाड़कर समतल करने के लिए हेंगा या पटरे का उल्लेख किया है।²

उपरोक्त पद में कबीर ने कृषक जीवन में प्रयुक्त उपकरण को किसान की साधना पद्धति से जोड़ा है 'ज्ञान' के लिए कुदाल, नाम के लिए बीज, ध्यान के लिए फावड़ा उपमान लेकर कबीर ने अर्थपूर्ण अभिव्यंजना प्रस्तुत की है कि भक्तिविहीन हृदय को सर्वप्रथम ज्ञान की कुंदार से गुड़ाई की आवश्यकता है, कंकड़, पत्थर, ढेले के रूप में अज्ञानता को ध्यान रूपी फावड़े से बार-बार उस पर फिराया जाता है जिससे अज्ञानता ज्ञान द्वारा दूर की जा सके इस कठिन प्रक्रिया के बाद किसान की भांति पूरे मन रूपी खेत को बार-बार उलट-पलट कर देख लिया अर्थात् विषयासक्ति में फिर मन लिप्त न हो। इस ऊसर भूमि रूपी हृदय को जब उपजाऊ भूमि अर्थात् भावना की उचित नमी, खाद, पानी मिलेगा तो प्रभु नाम रूपी बीज अवश्य ही अंकुरित होगा।

1 कबीर शब्दावली, भाग 2 मिश्रित, शब्द 4, पृ0 108

2 डॉ0 आर्याप्रसाद त्रिपाठी, कबीर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0 438

कृषक को अपनी फसल को उगाने में कभी लाभ व कभी हानि होती है परन्तु भक्ति रूपी फसल को उगाने में लाभ ही लाभ है। कबीर के इस रूपक में कबीर की भावनाओं को किसान की भावनाओं के रूप में देखा जा सकता है –

हमारे सन्त नाम धन खेती।

मन के बैल सुरत हरवाहा, जब चाहै तब जोती।

उन खेत में नफा बहुत है, संतन लूटा सेंती।¹

‘जुताई’ कृषि कार्य का एक विशेष पक्ष है। कृषक अपने खेत के अनुकूल उपज उत्पन्न करने के लिए जुताई करता है जो कि बैल के द्वारा की जाती है। इस जुताई की प्रक्रिया के बाद खेत में गुणवत्ता बढ़ जाती है जिससे अधिकाधिक उपज सम्भव होती है, आध्यात्मिक अर्थ में हृदय रूपी खेत को सुरति रूपी बैल से और अधिक भावनामय या गुणवत्ता से युक्त कर लिया है और उसमें कृषक की भांति सत्य नाम की खेती की है। कृषक को तो अपने कृषि कार्य में कभी लाभ व कभी हानि होती है परन्तु भक्ति रूपी खेत में केवल लाभ ही लाभ है।

‘खेत’ व ‘प्रक्रिया’ के बाद कृषक जीवन में ‘बीज’ की महत्त्वपूर्ण भूमिका है जिससे कबीर ने अनेक गूढ़ रूपक खड़े किए हैं –

3.2 बीज सम्बन्धी रूपक

राम नाम करि बोहडा बाहो बीज अघाई।

खण्ड ब्रह्माण्ड सूखा परै, तरु न निष्फल जाइ।²

प्रस्तुत साखी में कबीर ने बीज बोने की प्रक्रिया और उसके साधनों के रूपक के माध्यम से भाव साधना की प्रक्रिया को स्पष्ट करने का सुन्दर प्रयास किया है।

विभिन्न विद्वानों ने रूपक की अर्थव्यंजना द्वारा कबीर की रूपक चेतना को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

1. कबीर शब्दावली, भाग 2, पृ० 21

2. कबीर वाङ्मय, वेसास कौ अग (35), पृ० 239

डॉ० आर्या प्रसाद त्रिपाठी ने बोहडा का अर्थ बांस की एक 'नलिका' के सन्दर्भ में ग्रहण किया है। बोहडा या नलिका द्वारा खेत में भरपूर बीज बोने से खेत की नीची सतह तक बीज पहुँच जाता है।¹

'रामनाम' की नलिका द्वारा प्रभु रूपी बीज इतनी गहराई में रोपा गया है कि जिस तरह नलिका द्वारा डाला गया बीज सूखा पडने पर भी अंकुरित हो जाता है उसी प्रकार हृदय की गहराई में डाला गया यह राम रूपी बीज भी अवश्य ही अंकुरित होगा।

प्रो० पुष्पपाल सिंह रूपक योजना के अप्रस्तुत विधान में नलिका 'उपमान' की प्रक्रिया समझाते हुए कहते हैं कि – कृषक नलिका से बीज विशेष रूप से इसलिए बोता है कि बीज गहरा जाकर पडता है, जहाँ अधिक नमी होती है और कुछ दिन तक वर्षा न भी हो तो बीज जमकर जड़े बनाए रहता है।

प्रस्तुत रूप में अर्थव्यंजना करते हुए पुष्पपाल सिंह कबीर के इस रूपक की अर्थ चेतना स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि भक्ति के क्षेत्र में यदि प्रभु की शीघ्र अनुकम्पा न भी हो तो अन्त में उसे प्रभु भक्ति का फल जीवोन्मुक्ति अवश्य ही प्राप्त होगी।²

डॉ० भगवत स्वरूप मिश्र ने बोहडा का अर्थ निचाई लेते हुए इस रूपक की अर्थव्यंजना स्पष्ट की है कि रामरूपी निचाई के खेत में तू भरपेट साधना के बीज बो अगर अन्त समय में सूखा पड भी जाएगा तो भी तेरा प्रयास निष्फल नहीं होगा, अर्थात् भगवान को समर्पित हुए कर्म उनसे प्रेरित साधना या यज्ञादिक कर्म अथवा जीवन व्यापार विधि विधान से पूरे न भी हों तो भी सफल होते हैं।³

डॉ० जयेदव सिंह तथा वासुदेव सिंह ने रामनाम को उपमान के रूप में लेते हुए जीवन क्षेत्र में बोने से लिया है। उनके अनुसार इस रूपक में कबीर का मानना है कि चारों ओर

1 डॉ० आर्याप्रसाद त्रिपाठी, कबीर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 438

2 प्रो० पुष्पपाल सिंह, कबीर ग्रन्थावली सटीक, बेसास को अग, पृ० 226

3 भगवतस्वरूप मिश्र, कबीर ग्रन्थावली, बेसास को अग, पृ० 129

सूखा भी पड जाए, कहीं भी वर्षा न हो अर्थात् चाहे जैसी विषम परिस्थितियाँ हों, यह बीज उगेगा ही – राम नाम से संसिद्धि अवश्य ही प्राप्त होगी।¹

डॉ० हरिहर प्रसाद गुप्त ने भी कृषि जगत का ही सादृश्य देकर रामनाम को खेती के सन्दर्भ में लेकर ही अर्थ किया है कि कृषक की खेती जिस प्रकार बाहरी खेतों पर निर्भर है उसी प्रकार राम नाम की खेती आन्तरिक जगत पर निर्भर है।²

उपर्युक्त व्याख्याओं में शब्द की अर्थव्यंजना पर भले ही मतभेद हो। लेकिन हर रूप में कबीर का यह रूपक अप्रस्तुत रूप में जिस प्रकार से एक प्रक्रिया का बिम्ब उपस्थित करता है, वह सामान्य जन के लिए बुद्धि ग्राह्य है। इस बिम्ब से जिस प्रकार से प्रस्तुत रूप में आध्यात्मिक साधना और उसकी सार्थकता की व्यंजना होती है वह कबीर की अपनी पहचान है। वे इस रूपक के माध्यम से साधक को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हृदय के माध्यम से साधना करने पर साधक को अवश्य ही अनुकूल परिणाम मिलेगा व सांसारिक सुखों में आसक्ति ढूँढना हृदय को सूखाग्रस्त क्षेत्र में परिवर्तित करना है परन्तु उसे विपरीत दिशा में मोड़ना आध्यात्म से जोड़ना है जो निचाई खेत में पड़े बीज की भाँति अंकुरित होगा ही। क्योंकि बाह्य कर्मों की अपेक्षा जब तक मन से हम राम नाम रूपी बीज को अपने हृदय में स्थान नहीं देंगे तब तक जीव को परमसत्ता की प्राप्ति सम्भव नहीं।

बीज बोने की प्रक्रिया कबीर की चेतना पर रच बस गयी है। यह प्रक्रिया साधना में रूपक का स्वरूप ग्रहण करके अनेक रूप में उन्हें उनकी आध्यात्मिक साधना और उसकी अनुभूति की व्यंजना के लिए प्रेरित करती है।

मनुष्य का मन साधक व बाधक दोनों ही है जब वह विषयों के पाश को त्याग कर अपने वास्तविक स्वरूप अथवा सत्य को जानने की चेष्टा करता है, तब उसका मन मोक्ष का साधन बनता है परन्तु जब वह विषयों से अलग नहीं होता और यह समझता है कि बाहरी

1 डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, कबीर वाङ्मय, पृ० 239

2 डॉ० हरिहरप्रसाद गुप्त, कबीर ग्रन्थावली (साखी), पृ० 259

क्रिया—कलाप से उसका उद्धार हो जाएगा तो उसका मन केवल बन्धन का ही साधन बनता है। जीव जब इस अन्तर को समझता है, तभी उसे परमसत्ता की प्राप्ति होती है।

आध्यात्मिक साधना के इस सत्य को भी कबीर बीजवपन के रूपक के माध्यम से स्पष्ट करते हैं —

माटिक कोट पषानक ताला, सोई बन सोई रखवाला।
 सो बन देखत जीव डेराना, ब्राह्मण वैष्णव एकै जाना।
 जौ रे किसान किसानी करई, उपजे खेत बीज नहिं परई।
 छाँड़ि देहु नर झेलिक झेला, बूड़े दोऊ गुरु औ चेला।
 तीसर बूड़े पारथि भाई, जिन बन डाहो दावा लाई।
 भूँ कि भूँ कि कुकुर मरि गयऊ, काजन एक सियार से भयउ॥¹

शरीर मिट्टी का है, इसमें रक्षा करने वाला जो ताला लगा हुआ है, वह पाषाण बुद्धि या अज्ञान का है। अज्ञान जन्य शरीर भी है और अज्ञान रूपी मन ही उसका रक्षक भी है। भय में पड़ा हुआ जीव भयाक्रान्त होकर बाह्याचार, ब्राह्मण, वैष्णव व देवी—देवता की उपासना में लग जाता है। जैसे कोई किसान खेती करे और उसे खेती की कला का ज्ञान न हो तो उन खेतों में डण्ठल आदि पर्याप्त रूप में उपजते हैं, किन्तु उनमें बीज नहीं आता उसी प्रकार बाहरी पूजा—पाठ करने वाला जीव भी नाना प्रकार के कायिक—वाचिक आडम्बरों में फसा रहता है। परन्तु उसके श्रम से ज्ञान रूपी बीज नहीं आता।

उपरोक्त व्याख्या के आधार पर स्पष्ट है कि कबीर ने प्रस्तुत पसद में कृषक जीवन की प्रक्रिया के सन्दर्भ में आध्यात्म निरूपण किया है कि यदि किसान बीज न डाले व उसे उत्पत्ति की आशा रखे तो यह किसान की अज्ञानता है। आध्यात्मिक सन्दर्भ में जीव उस किसान का प्रतिनिधित्व करता है जो किसान की भांति अज्ञानी है और प्रभु—भक्ति रूपी अंकुर के बिना ब्रह्म प्राप्ति की उत्पत्ति हृदय रूपी खेत में उगाना चाहती है।

1. डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, रमैनी, पृ० 54

ब्रह्म प्राप्ति की उत्पत्ति रूपी फसल भक्ति रूपी बीज व साधना रूपी खेती द्वारा ही सम्भव है, इस तथ्य के उद्घाटन के लिए कबीर ने साधना व भक्ति को उत्पत्ति व बीज रूप में प्रस्तुत करके एक और रूपक सहज ही खड़ा कर दिया है —

नाचै गावै पद कहे, नाही गुरु सों हेत ।
कह कबीर सो नीपजै, बीज बिहूनो खेत ॥¹

कृषि कार्य में कृषक खेत में बीज डालता है और दुःसाध्य प्रक्रिया के बाद फसल तैयार होती है।

बीज बोने की सहज क्रिया द्वारा निषेधात्मक अर्थव्यंजना के माध्यम से गुरु में विश्वास और श्रद्धा भावना को ब्रह्म साक्षात्कार का मूल मानते हुए कबीर बड़ी सहजता से अपनी बात कह देते हैं — गुरु से हेत रखने पर ही उसके द्वारा जब हृदय रूपी खेत में प्रभु आसक्ति का बीज डाला जाता है व उसे साधना की प्रक्रिया में लाया जाता है तभी प्रभु भक्ति रूपी उत्पत्ति सम्भव होती है।

कबीर के रूपकों में बीज वपन की अवधारणा लोकजीवन से तो ग्रहीत है ही, शास्त्रीय चिन्तन में भी इसके द्वारा निर्मित बिम्ब से गम्भीर दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाया गया है। बीज की सृजनशीलता सृष्टि के विकास की द्योतक है। बीज के इस उपमान से जहाँ गूढ़ आध्यात्मिक विवेचन लोक ग्राह्य एवं बुद्धि ग्राह्य हो जाता है, वहीं काव्य की सेज में एक सुरम्य रूपक स्वरूप भी खड़ा करता है।

कृषि कार्य में बीज की महत्ता सर्वसिद्ध है। सृष्टि की उत्पत्ति भी बीज रूपी ब्रह्म से हुई है। इस तथ्य का उद्घाटन साहित्य व दर्शन में प्राचीन समय से ही होता चला आ रहा है। भगवद्गीता में उल्लिखित यह वक्तव्य इस सन्दर्भ में दिया जा सकता है कि — भौतिक उत्पन्न पदार्थ जड जगत के और उन्हीं से सब प्राणियों के शरीरों व इन्द्रियों का निर्माण हुआ

है, वे सब आदिम प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और समयान्तर पर उसी में लौट कर वापिस पहुँच जाते हैं। यद्यपि प्रकृति एक रूप प्रतीत होती है, तो भी वस्तुतः यह भिन्न-भिन्न तत्त्वों से जो सूक्ष्म अवस्था में है मिलकर बनी है जब ईश्वर तथा आत्माएँ इसका उपयोग करते हैं तो यह विकसित होकर दृश्यमान जगत के रूप में परिवर्तित हो जाती है, ईश्वर प्रकृति में से आकृति को गढ़ता है क्योंकि प्रकृति उपादान कारण है और इसके अन्दर वह स्वयं नाना आकृतियों में निवास करता है।¹

यह नाना आकृतियाँ बीज, वृक्ष, शाखाएँ, पत्ते, फल अनेक रूप में दृष्टिगोचर होती है। प्रस्तुत पद में कबीर ने 'सृष्टि का मूल चैतन्य एक ही है' इसकी स्थापना के लिए बीज के रूपक द्वारा इसे स्पष्ट किया है —

जो पै बीज रूप भगवॉन।

तौ पंडित का कथसि गियांन।।टेक।।

नहिं तन नहिं मन नहिं हंकार, नहिं सत रज तम तीनि प्रकार।

बिरख अँप्रित फर फरे अनेक, वेद अरु बोध कहै तरु एक।

कहै कबीर इहै मन मॉनों कोधौ छूट कवन अरुझाना।।²

जब भगवान बीज रूप है तो पण्डितों के बहुत लम्बे चौड़े ज्ञान की बात करने में क्या है? शेष सब परमार्थ रूप में सत तो है नहीं। वस्तुतः न शरीर है, न मन है और न अहंकार ही। प्रकृति के सत, रज, तम — ये तीन गुण भी भिन्न-भिन्न नहीं हैं। वेद और बौद्ध दोनों कहते हैं कि एक ही वृक्ष है। सबका मूल वही एक चैतन्य है उसी को वृक्ष कहा गया है। जीव को अपनी वासनाओं व कर्मों के अनुसार इस वृक्ष के अमृत और विष रूप फल लगते हैं। सारे भोग चैतन्य पर ही आधारित हैं, अतः वे इस चैतन्य वृक्ष के फल कहे गए हैं। कबीर कहते हैं कि मेरे मन ने यह मान लिया है, अर्थात् मेरी चैतन्य के एकत्त्व में निष्ठा जम गई है, अतः मैं मुक्त हो गया हूँ। कहो, एक बार छूटा हुआ पुनः कौन उलझता है? अथवा यह संसार मन

1. भगवद्गीता, 1।4, 25

2. डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, कबीर वाङ्मय, 131 पदावली, पृ० 163

की कल्पना है, अतः इससे कौन छूटता है और इसमें कौन बँधता है? ये सब प्रतीति भर है। अर्थात् न कहीं मुक्ति है न बन्धन ही।¹ भगवत स्वरूप मिश्र के इसी बंधन व मोक्ष के प्रश्न को व्यर्थ मानते हुए डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह ने प्रस्तुत पद की व्याख्या इस प्रकार की है — वस्तुतः प्रभु ही इस संसार का बीज अर्थात् कारण है। इसीलिए दार्शनिक पंडित लोग व्यर्थ में जीवन के मूल के संबंध में लम्बी चौड़ी बातें करते हैं। सांख्यवादी यह मानते हैं कि शरीर, मन, अहंकार का मूल कारण सत्त्व, रजस् तमस रूपी त्रिगुणात्मक प्रकृति है। किन्तु सच बात तो यह है कि शरीर, मन, अहंकार तथा त्रिगुणात्मक प्रकृति जीवन का मूल नहीं है। केवल प्रभु जीवन का मूल कारण है।

ईश्वर जीवन का मूल कारण अवश्य है, किन्तु व्यक्ति के सुख-दुःख का कारण नहीं है। सुख-दुःख कर्मानुसार होते हैं और कर्म का कारण व्यक्ति है, प्रभु नहीं। सत्-असत् कर्म रूपी वृक्ष से ही अमृत और विष रूपी मधुर या कटु फल प्राप्त होते हैं। इस विषय में सभी वेद और दर्शन एकमत हैं। भगवान् अन्तरात्मा रूप में घट में ही विद्यमान है। संस्मरण-बंधन और मुक्ति मन की कल्पना है। अन्तरात्मा की दृष्टि से न बंधन है, न मुक्ति। वास्तविक बंधन और मुक्ति जीव की है। अन्तरात्मा साक्षी मात्र है।²

इस प्रकार डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह ने प्रस्तुत पद में कबीर के सांख्य योग के विरोध को दर्शाया है व वेदान्त मत का समर्थन किया है कि — जीवन का मूल कारण प्रकृति नहीं है प्रभु है।

प्रो० पुष्पपाल सिंह की व्याख्या भी इसी सन्दर्भ में हुई है — यदि ब्रह्म बीज रूप ही एक है जिससे असंख्य फलों वाली यह सृष्टि फली है तो फिर पंडित इसी बात के रहस्योद्घाटन के लिए क्या ज्ञान कथन करेगा? इस संसार में उसी की सृष्टि के रूप में विष और अमृतमय फलों से युक्त वृक्ष लगे हुए हैं। किन्तु उन सबका मूल उत्स एक ही है।³

1. डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र, कबीर ग्रन्थावली, पदावली 38, पृ० 210-211

2. डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, कबीर वाङ्मय — सबद,, पद 131, पृ० 163

3. प्रो० पुष्पपाल सिंह, कबीर ग्रन्थावली सटीक, पदावली 38, पृ० 314

बीज के रूप में मूल उत्स वह 'ब्रह्म' है। कृषि कार्य में बीज से अंकुर फूटता है व अनेक शाखाएँ-प्रशाखाएँ निकल कर चारों ओर फैलती हैं ब्रह्म रूपी बीज से यह सारी सृष्टि रूपी जीवों की उत्पत्ति हुई है, जिससे सृष्टि निरन्तर विकासरत है।

कबीर के इस पद की व्याख्या को शास्त्रीय व्याख्या में कितना ही उलझाया जाए लेकिन वास्तव में तो यह कबीर की रूपक चेतना की ही अभिव्यक्ति है। इस रूपक के निर्माण के समय कबीर की चेतना पर शास्त्रीय विचारधाराओं का जंजाल नहीं दिखाई देता बल्कि कृषक जीवन का बिम्ब और उससे गृहीत उपमान ही दिखाई देता है जो रूपक का स्वरूप ग्रहण करता हुआ उसकी अनुभूति को काव्य का स्वरूप प्रदान करता है।

3.3 उपज सुरक्षा सम्बन्धी रूपक

कृषि कार्य में किसान के लिए उपज की उत्पत्ति से दुष्कर कार्य उसकी सुरक्षा का है। प्रत्येक अन्न के कण में तत्त्व एवं शक्ति समाहित रहती है। अन्न में निहित ये तत्त्व किसान के परिश्रम जन्य स्वेद से प्राप्त होता हैं इस फसल को नष्ट करने के लिए पशु-पक्षी रूप में अनेक शत्रु हैं। इन शत्रुओं से फसल की रक्षा करना किसान अपना पुनीत कर्तव्य समझता है और उसकी रक्षा के प्रयत्न करता है। कृषक जीवन की इस बाधा को साधक कबीर ने जीव की भक्ति साधना और उसमें बाधक तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है —

संतनि एक अहेरा लाधा।

मिर्गनि खेत सबनि को खाधा।

या जगल में पौंचो मिरगा, एई खेत सबिना का चरिगा।

पारधीपनों जे साधे कोई, अध खाधासा राखै कोई।

कहै कबीर जो पंचो मारे, आप तिरे औरों कूं तारै।¹

प्रस्तुत रूपक की अर्थव्यंजना को स्पष्ट करते हुए डॉ० भगवत स्वरूप मिश्र का कहना है कि विषय-वासनाएँ तथा काम-क्रोधादिक रूप मृगों ने सब लोगों के जीवन रूपी खेत को

1. डॉ० श्यामसुन्दर दास, कबीर ग्रंथावली, पद 353, पृ० 155

चर लिया है, उनका ज्ञान वैराग्य, भक्ति व आनन्द सब कुछ नष्ट कर दिया है इस ससार रूपी जगत में पाँचो इन्द्रियो के विषय अथवा काम क्रोधादिक पाँच मृग हैं। उन्होंने सम्पूर्ण प्राणियो के खेत को चर लिया है। जो कोई ज्ञानी साधना के द्वारा इन मृगों के लिए शिकारी का रूप धारण करता है, वह इन मृगों से आधे खाए हुए जीवन रूपी खेत की रक्षा कर लेता है। जो पाँचो इन्द्रियो की वासनाओं तथा काम क्रोधादिक पाँचों को मार डालता है, वह स्वयं भी भवसागर से पार हो जाता है और अन्य लोगों का उद्धार भी कर लेता है।¹

प्रो० पुष्पपाल सिंह के शब्दों में इस रूपक की अर्थव्यंजना बहुत कुछ इस प्रकार की है— ससार रूपी वन में पाँच विकारों के मृग रहते हैं जो सबकी खेती को चर गए हैं, किन्तु जो लोग भक्ति साधना करते हैं उनकी सुकृत्य सम्पत्ति चाहे आधी समाप्त भी हो गई हो फिर भी रक्षित हो जाती है, क्योंकि भक्ति का आखेटक इन विकारों मृगों को समाप्त कर देता है, वह स्वयं तो मुक्त हो ही जाता है, दूसरों को भी मुक्ति की प्रेरणा देता है।²

उपर्युक्त विद्वानों की व्याख्या में भगवत स्वरूप मिश्र ने जीवन के लिए व पुष्पपाल सिंह ने ससार के लिए 'खेत' का उपमान लिया है, परन्तु दोनों ही व्याख्याओं के मूल में कबीर द्वारा प्रस्तुत आध्यात्मिक साधनागत व्यंजना निहित है कि — कृषक की भाँति ही जीव को भी सजग होकर अपने जीवन रूपी खेत में भक्ति तत्त्व रूपी उपज की रक्षा यत्नपूर्वक करनी चाहिए।

कबीर के रूपको में इस चेतना की अभिव्यक्ति स्थान—स्थान पर दिखाई देती है — एक रूपक और द्रष्टव्य है — जिसमें इन्हीं उपमानों के माध्यम से रूपक की सरचना करते हुए आध्यात्मिक भावना की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है —

जतन बिनु मृगनि खेत उजारे,
टारै टरत नहि निस बासुरि, बिडरत नहीं बिडारे।

1 डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र, कबीर ग्रंथावली, पद 352, पृ० 416

2 प्रो० पुष्पपाल सिंह, कबीर ग्रंथावली सटीक, 353, पृ० 500

अपने-अपने रस के लोभी, करतब न्यारे न्यारे।
 अति अभिमान बदत नहि काहू, बहुत लोग पचि हारे।
 बुधि मेरी कृषि गुरु मेरो बिझुका, अक्खर दोइ रखवारे।
 कहै कबीर अब चरन न देह हों, बेरियां भली संवारे।¹

इस पूरे पद में कृषक जीवन का सजीव वर्णन है। कबीर के काल में ही नहीं आज भी कृषक की यही प्रक्रिया मान्य है कि — आज भी खेती जंगलों को साफ करके व भूमि को उपजाऊ बनाकर की जाती है। पास के जंगलों में रहने वाले पशु-पक्षियों से उसकी रक्षा अनिवार्य थी जिसके लिए किसान खेतों में बिझुका लगाता था जिससे पशु-पक्षी डर कर भाग जाए और फसल की रक्षा हो सके। बिझुका उसे कहते हैं जो मनुष्य की मुखौटे वाली आकृति डंडे में लगा देते हैं या मिट्टी की हांडी को श्वेत रंगों से रंगकर उलटा टांग देते हैं जिससे पशु-पक्षी खेत के समीप नहीं आते व खेत सुरक्षित रहता है।

शरीर के लिए खेत, बुद्धि के लिए कृषि, गुरु के लिए बिझुका व 'र' 'म' दो रखवाले उपमानों से निर्मित रूपक में कबीर ने गूढ़ आध्यात्मिक व्यंजना प्रस्तुत की है — कृषक अत्यन्त दुष्कर प्रक्रिया के बाद फसल की उत्पत्ति करता है और लहलहाती खेती को देखकर उसे उसकी सुरक्षा की चिंता होती है कि किस प्रकार उसे जंगली पशु-पक्षियों से बचाया जाए जिसके लिए वह बिझुका लगा देता है कि जंगली पशुओं से खेत सुरक्षित रह सके। आध्यात्मिक सन्दर्भ में इसका अर्थ है कि — जीव ने अपनी बुद्धि में भक्ति रूपी चेतना की फसल पका ली है और अब वह कृषक की भांति ही डर रहा है कि कहीं पाश्विक वृत्तियाँ उसकी इस फसल को खा न लें अर्थात् भक्ति मार्ग से हटा न दें इसी लिए गुरु रूपी बिझुका को जीव ने रक्षा हेतु लगा लिया है और 'र' व 'म' दो रखवाले हैं जिन्हें जीव ने अपनी साधना रूपी फसल को बचाने के लिए रख लिये हैं और अब इस आध्यात्मिक खेती को कोई नुकसान नहीं पहुँचा सकता।

कबीर के इस रूपक के स्वरूप और उसकी अर्थव्यंजना निम्नलिखित व्याख्याओं से और अधिक स्पष्ट रूप से समझी-समझाई जा सकती है।

डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह की व्याख्या के अनुसार काम-क्रोध और पाशिवक वृत्तियाँ उस पशु-पक्षी के समान हैं जो हमारे शरीर रूपी खेत को सावधानी व साधना के अभाव में खाए जा रही हैं, ये वृत्तियाँ इतनी प्रबल होती हैं कि दिन-रात अपना प्रभाव बनाए रहती हैं और किसी भी प्रकार हटाने से नहीं हटती और भगाने से नहीं भागती, अर्थात् जीवन में इनका संस्कार इतना प्रबल है कि वे अपने आगे किसी को कुछ नहीं समझतीं। वे विचार-विवेक आदि को धक्का देकर अलग कर देती हैं इन दुष्प्रवृत्तियों से बचने के लिए कबीर कहते हैं कि मेरे जीवन रूपी खेत में बुद्धि द्वारा कुशल कृषि कार्य हुआ है।¹

यहाँ मृग, खेत, उजारे, बिडरना, रस के लोभी, बुद्धि किरषी और बिझुका के रूपक से गुरु की महिमा बताई गई है। इन्द्रियों विषयों की ओर भागती हैं, उनको रोको तो वे दूनी उद्धत होती है, पर कबीर ने राम नाम 'र' और 'म' दो अक्षरों को रखवाला माना है जिसे देखकर पाशिवक वृत्तियाँ उसी प्रकार दूर भागती हैं। जैसे बिझुका को देखकर पशु-पक्षी भागते हैं। किसान रूपी जीव ने अपने शरीर रूपी खेत की संयम एवं सात्विक बुद्धि रूपी बाड़ ठीक कर ली है और अब वह काम क्रोध व पाशिवक वृत्तियों से स्वयं को दूर रख सकेगा।

डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र विवेच्य रूपक की अर्थव्यंजना स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि – साधना के अभाव में काम क्रोधादिक अथवा इन्द्रियों के विषयी रूपी मृगों ने जीवन अथवा भक्ति भावना रूपी खेत को उजाड़ दिया है। विवेक, वैराग्य एवं ईश्वर प्रेम से रहित यम, नियम के कर्मों से इन इन्द्रियों अथवा काम-क्रोधादिक मृगों को रात-दिन हटाने पर भी और कृच्छ्र साधनाओं से भगाने पर भी भागते नहीं हैं। ये काम-क्रोधादिक अथवा इन्द्रियों के विषय अपने-अपने के लोभ में फंसे हुए हैं। इन सबके काम और आकर्षण भी एक दूसरे से

1 डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, सबद, पद 395, पृ० 13

पृथक-पृथक हैं। इन सबमें अपना-अपना गहरा अहंभाव है। इस अहंकार में वे एक दूसरे को कुछ समझते ही नहीं हैं, अपने-अपने विषयों के ग्रहण करने का अवसर देना ही नहीं चाहते हैं। अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय के विषय अथवा काम-क्रोधादिक में से प्रत्येक इस जीव को अपने-अपने विषयों की ओर खींचते हैं और दूसरों को अपने-अपने विषयों का भोग करने देना नहीं चाहते हैं। ज्ञान और भक्ति के अतिरिक्त अन्य साधनाओं से यह संभव नहीं है इन मृगों से जीवन रूपी खेत की रक्षा करने के लिए विवेक की गोपियाँ अथवा गुरु ही वह पुतला है जिससे भयभीत होकर काम-क्रोधादिक एवं वासना रूपी मृग भाग जाते हैं। 'राम' नाम के दो अक्षर ही जीवन की सार्थकता एवं भक्ति भावना के संरक्षक हैं। कबीर कहते हैं कि मैं इस जीवन रूपी खेत को खाने नहीं दूँगा, इसे काम-क्रोधादिक से नष्ट नहीं होने दूँगा। मैंने अपने खेत की संयम एवं सात्त्विक बुद्धि रूपी बाड़ ठीक कर ली है अथवा अवसर रहते ही मैंने खेत को सम्हाल लिया है।¹

प्रो० पुष्पपाल सिंह की व्याख्या में रूपक के प्रस्तुत और अप्रस्तुत विधान के व्याख्या जन्य संकेत कबीर की रूपक चेतना को स्पष्ट करते हैं कि — साधना के बिना विकारों के मृग इस जीवन रूपी खेत को उजाड़ रहे हैं। अहर्निश प्रयत्न करने से भी वे टाले नहीं टलते —भगाने का प्रयत्न करने पर भी नहीं भागते वे अपनी-अपनी रुचि में संलिप्त हैं और उसी के लिए विविध भांति के कर्मों का ताना बाना बुनते हैं वे मनुष्य को आत्माभिमान बना देते हैं, बहुत से लोग समझाकर हार गए फिर भी ये इस कुपन्थ का त्याग नहीं करते। इस जीवन अथवा भक्ति रूपी क्षेत्र के दो ही रखवाले हैं, मेरी बुद्धि जो खेत में खड़े किए गए पुतले का काम करती है और मेरा कण्ठ जिससे निकलने वाले 'राम' नाम के दो अक्षर ही मेरे सम्बल हैं। कबीर कहते हैं कि विकारों के मृग की अब इस खेती को खाने नहीं दूँगा अबकी बार मैंने इसकी रक्षा का पूर्ण सम्भार कर लिया है।²

1. डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र, कबीर ग्रन्थावली, पद 398, पृ० 446

2. प्रो० पुष्पपाल सिंह, कबीर ग्रन्थावली, सटीक, पद 396, पृ० 525

इस रूपक विधान से स्पष्ट होता है कि कबीर ने कृषक जीवन को अत्यन्त निकट से देखते हुए अपनी चेतना पर बसा लिया था। कृषक जीवन के ये बिम्ब कबीर की चेतना पर बनने वाले आध्यात्मिक बिम्बों के साथ एकाकार हो गये।

उपरोक्त रूपक उसी का परिणाम है जिसमें कृषि प्रक्रिया में 'सुरक्षा' को जीवन रूपी खेत से सन्दर्भित किया है। जिसमें पाँचों इन्द्रियों के पाँच मृग के रूप में लेकर कबीर ने जीवन्त रूपक की संरचना की है। प्रबुद्ध किसान की भांति जीव को भी अपने इस जीवन रूपी खेत में भक्ति रूपी उपज की सुरक्षा करनी पड़ती है।

एक और रूपक प्रस्तुत है —

बिन रखवारे बाहिरा, चिड़िया खावा खेत।
आधा-परधा ऊबरै, चेति सकि तो चेति।¹

सद्गुरु रूपी रक्षक के अभाव में तेरे प्रभु भक्ति के खेत को कुछ तो चोर (काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह) ये पंच चोर उड़ा ले गए और कुछ माया या वासना की चिड़ियों ने खा लिया। अब वह थोड़ी बहुत बची है, यदि मंगल चाहता है तो अब भी सावधान हो प्रभु भक्ति में प्रवृत्त हो।²

बाहर के खुले खेतों को रक्षक के अभाव में चिड़िया खा जाती है। उसी प्रकार क्षमा, सन्तोष, विचार और सत्संग रूपी रक्षकों के अभाव में ईश्वर भक्ति से दूर एवं कालादिक के लिए उन्मुक्त इस शरीर को विषय वासना रूपी चिड़ियों ने बहुत कुछ खा लिया है, अर्थात् वह क्षीण हो गया है, काफी जीवन व्यर्थ चला गया है। कबीर जीव को जगाने की व ज्ञान और भक्ति में प्रवृत्त हो जाने की चेतावनी दे रहे हैं, ताकि बचा-खुचा आधा-परधा शेष जीवन ही सार्थक हो सके और जीव क्षमा आदि के आश्रय से मुक्ति की ओर बढ़ सके।³

1 डॉ० जयेदव सिंह वासुदेव सिंह, कबीर वाङ्मय सखी, चितावड़ी कौ अग, पृ० 106

2 प्रो० पुष्पपाल सिंह, साखी, कबीर ग्रन्थावली सटीक, चितावड़ी कौ अग, पृ० 136

3 डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र, कबीर ग्रन्थावली, पृ० 57

उपरोक्त साखी में जीवन की उस अवस्था का वर्णन है जब मनुष्य की आधी आयु निकल जाती है और तब वह सचेत होता है तथा उसकी सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील रहता है। इस वास्तविकता को कृषक जीवन से लिए हुए रूपकों के माध्यम से कबीर जहाँ अपनी कृषि जीवन को देखने वाली सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देते हैं वहीं उसे रूपक विधान का आधार बनाते हुए अपनी काव्य-प्रतिभा से भी अभिभूत करते हैं।

धन-धान्य से भरपूर खेत सुरक्षा के अभाव में चिड़ियों द्वारा चुग लिया जाता है और जब तक कृषक उसकी सुरक्षा का प्रबन्ध करता है, तब तक आधा खेत चिड़ियों द्वारा चुग गया होता है। कृषक इसकी सुरक्षा के लिए बिड़ुका व रखवाले का प्रबन्ध करता है। जीव की स्थिति भी उसी खेत की भांति है, जिसमें सदगुण के अभाव में दुर्गुण बहुत जल्दी अपना प्रभाव जमा लेता है जिसे कबीर ने चिड़ियों के रूपक के रूप में ग्रहण किया है, और जीव को कृषक के रूप में जिसे स्वयं सदगुणों की रक्षा के लिए सदैव सचेत रहना चाहिए।

इतना ही नहीं कबीर ने अपने कृषक जीवन सम्बन्धी रूपकों के माध्यम से जीवन की सदर्थ चेतना की अभिव्यंजना की है —

अब मोहि ले चल नन्द के वीर अपने देसा ।
 इन पंचनि मिली लूटी हूँ, कुसंग अहि विदेसा ।।टेक।।
 गंग तीर मोरी खेती बारी, जमुना तीर खलिहाना ।
 सातौ विरही मेरे नीपजै, पचूँ मोर किसानों ।
 कहै कबीर यह अकथ कथा है, कहतौ कही न जाई ।
 सहज भाई जिहि ऊपजै ते रमि रहै समाइ ।।¹

गंगा जमुना का रूपक लेकर आध्यात्मिक सन्दर्भ से व्याख्यायित करते हुए कबीर कहते हैं कि इडा रूपी गंगा के निकट मेरी खेती है और पिंगला रूपी यमुना के निकट मेरा खलिहान है। 'सातौ विरही' से तात्पर्य योग की सात भूमियों से है जिसको डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह के शब्दों में इस प्रकार समझा जा सकता है — 1. शुभेच्छा परमतत्त्व की इच्छा,

1 डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, पद 16, पृ० 22

2 विचारणा — गुरु दया प्राप्त उपदेश का मनन, 3. तनमानुसा — मन का क्षीण होना, 4. सत्वापत्ति सत्य की सम्यक अवस्था, 5. असंसक्ति — विषयों से आसक्ति का हट जाना, 6. परार्थ भाविनी — परब्रह्म की भावना करने वाली अवस्था, 6. तुर्यगा — तुरीयावस्था या ब्रह्मावस्था।¹

खेत रूपी जीवन क्षेत्र में अहिंसा, सत्य, असत्य अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य रूपी पाँच किसान हैं जिनके द्वारा सात प्रकार के अन्न पैदा होते हैं, अर्थात् ज्ञान की विभिन्न भूमिकाओं के रूप में अन्न उत्पन्न होता है। सहजभाव से जब इस ज्ञान रूपी अन्न की उत्पत्ति होती है तब राम के रमने के लिए अवकाश मिलता है।

डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र द्वारा रूपक की व्याख्या आध्यात्मिक जीवन सन्दर्भों में और अधिक स्पष्ट रूप से करते हैं —

जीवात्मा परमात्मा को सम्बोधित करके कह रही है कि मुझे अपने लोक में ले चलो। संसार में काम-क्रोधादिक पाँच शत्रुओं ने मुझे लूटा है, मेरे शुद्ध चैतन्य भक्त एवम् प्रेमी रूप को विकृत किया गया है। गंगा अर्थात् इडा के किनारे मेरी खेती है और पिंगला रूपी यमुना पर मेरा खलिहान है अथवा मेरी सम्पूर्ण खेती-बारी इस जगत से परे भक्ति व आध्यात्मिक क्षेत्र में है। मेरे जीवन का आनन्द व उसकी सिद्धियाँ सब उसी साधना के क्षेत्र में हैं, उस खेती बारी में सातों प्रकार के अनाज पैदा होते हैं। वहाँ पर मेरे पाँच किसान हैं जिनसे आनन्द रूप अन्न प्राप्त होता है।²

कबीर के उपर्युक्त रूपक की चेतना कृषि कार्य को व्यवस्थित विश्लेषण से आध्यात्मिक धरातल पर जीवन के स्वरूप विचार को प्रस्तुत करती है।

1 डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, कबीर वाङ्मय — सबद, पद 16, पृ० 23

2 डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र, कबीर ग्रन्थावली, पृ० 195, पद 14

3.4 प्रकृति सम्बन्धी रूपक

कबीर को खेती से जुड़ी हर छोटी बड़ी बात का आत्मीय ज्ञान था। कृषक जीवन और प्रकृति का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। कृषक जीवन कभी प्रकृति के कोप तो कभी कृपा का पात्र बनता रहता है। कबीर ने प्रकृति से जुड़ी सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों को अपने रूपको के आधार रूप में ग्रहण किया है। किसान के लिए प्रकृति दूर की वस्तु न होकर अत्यन्त निकट की वस्तु है इसीलिए उससे किसान को सहज आत्मीयता है। यद्यपि प्रकृति-परिवेश का वर्णन करना कबीर का इष्ट नहीं था, उनका अभीष्ट तो धर्म, नीति, दर्शन, भक्ति आदि की अभिव्यजना करना था, इसीलिए कबीर के काव्य में प्रकृति आध्यात्म, भक्ति, नीति आदि के व्यजक साधन के रूप में आई है। कबीर ने परमसत्ता की अभिव्यंजना के लिए सामाजिक, धार्मिक आडम्बरो के प्रति विद्रोह और व्यर्थता शब्दांकित करने के लिए, कुत्सित कर्मों की फल की अभिव्यक्ति के लिए, उपदेश व नीति के लिए तथा अन्यान्य दार्शनिक आध्यात्मिक दृष्टियों के निरूपण के लिए प्रकृति से अनेक रूपकों की सामग्री ग्रहण की है।

3.4.1 वृक्ष सम्बन्धी रूपक

वृक्ष के रूपक से जीवन के स्वरूप और सृष्टि के स्वरूप का प्रस्तुतीकरण भारतीय वाङ्मय के अनेक स्थानों पर हुआ। उसी परम्परा में कबीर ने एक अद्भुत वृक्ष के रूपक से आध्यात्मिक जीवन की सुन्दर व्याख्या भी की है —

अवध सो जोगी गुर मेरा, जो या पद का कर निबेरा।
 तरवर एक पेड बिन ठाढा, बिन फूला फल लागा।
 साखा पत्र कछु नहि वाकै, अष्ट गगन मुख बागा।
 पैर बिन निरति करां बिन बाजै, जिम्या हीणां गावै।
 गावणहारे के रूप न रेषा, सतगुरु होइ लखावै।
 पषी का षोज मीन का मारग, कहै कबीर विचारी।
 अपरम्पार पार परसोत्तम, वा मुरति की बलिहारी॥¹

1 डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, कबीर वाङ्मय — सबद, पद 119, पृ० 148

डॉ० भगवत स्वरूप मिश्र इस रूपक की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि अज्ञान रूपी एक वृक्ष है जो जीवादिक कल्पना का हेतु है। यह अज्ञान या मन रूपी वृक्ष चैतन्य पर अधिष्ठित है पर उससे उत्पन्न नहीं होता। चैतन्य उसकी जड़ नहीं है, अतः यह माया का वृक्ष मूल रहित है। माया असत् है, वह केवल प्रतीत मात्र होती है।

यह वृक्ष आकार एव स्वरूप से शून्य है अतः इस वृक्ष की कोई शाखाएँ नहीं हैं, फिर भी यह अज्ञान अपवर्ग सहित आठ लोकों में फैला हुआ है।¹

डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह योग की परिभाषित शब्दावली के आधार पर इस रूपक की अर्थव्यजना को स्पष्ट करते हैं — सुषुम्ना रूपी एक तना है और उसमें अनेक नाडिया रूपी शाखाएँ तथा चक्र रूपी पुष्प है। वह प्राण रूपी रस से परिपूरित है। इस शरीर रूपी वृक्ष के पत्र पुष्पादि अमृत के उद्यान के समान हैं।²

कबीर के उपर्युक्त रूपक के आधार पर वृक्ष के दो रूप उभरकर हमारे समक्ष आते हैं। एक सांसारिक रूप व दूसरा उस स्वरूप के निषेध से एक नवीन रूप। सांसारिक वृक्ष की जड़े बहुत गहरी व धरती के भीतर होती हैं जिसमें अंकुर फूटने के पश्चात् विकास होता है, और धीरे-धीरे उसमें शाखाएँ, फल व फूल आते हैं और फूलों के आने से उसमें एक नवीन सुगन्ध का विकास होता है जो कि पवन के चलने पर एक जगह से दूसरी जगह फैलती है।

इस स्वरूप को परब्रह्म के सन्दर्भ में उलट वासी के माध्यम से जोड़ते हुए कबीर का मत है कि परब्रह्म रूपी वृक्ष में सांसारिक वृक्ष की भांति फल फूल नहीं दिखाई देते।

वृक्षों के रूपक के माध्यम से जीवन संदर्भों की व्याख्या कबीर के अनेक पदों में मिलती है। एक पद देखिए —

तरवर एक अनत मूरति, सुरतों लेहु पिछानी।
साखा पेड फूल फल नॉही, ताकि अमृत बॉनी।

1 डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र, कबीर ग्रंथावली पद 165, पृ० 291

2 डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, कबीर वाङ्मय सबद, पद 119, पृ० 148

पुहुप बास भँवरा एक राता, बारा ले उर धरिया।
 सोलह मँझे पवन झकोरे, अकासे फल धलिया।
 सहज-समाधि विरष यहु सींचा, धरती जलहर सोषा।
 कहै कबीर तास मैं चेला, जिनि यह तरुवर पेषा।।¹

उक्त रूपक में कबीर योग साधना की क्लिष्टतम् अनुभूति और उसकी प्रक्रिया को रमणीय बनाकर प्रस्तुत करते हैं — सुषुम्ना रूपी वृक्ष के ऊपर अर्थात् सहस्रार में ब्रह्म का स्वरूप भासित होता है। उसे सुरति के द्वारा ही पहचाना जा सकता है। इस वृक्ष में न शाखाएँ हैं न फल-फूल इसमें अनाहतनाद की अमृतधारा बहती रहती है। उसकी सुगंध से जीवात्मा रूपी भ्रमर आकृष्ट होता है, और उस अमृत को अपने हृदय में धारण करता है। प्राणशक्ति सोलह एवं ज्ञानेन्द्रियों, पंच कर्मेन्द्रियों, पंच प्राण एवं मन के बीच इस तरुवर को झकझोरती है अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों प्राण और मन की शक्ति को निरुद्ध करके प्राणशक्ति ऊपर की ओर उठती है तथा गगन मंडल को जाती है। उस गगन मंडल में ही परब्रह्म रूपी फल है, जिसका उसे साक्षात्कार होता है।

इस रूपक की व्याख्या को कुछ विद्वानों ने और अधिक विस्तार देते हुए कबीर की रूपक चेतना की विशेषताएँ स्पष्ट कर दी हैं — डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र का मत है कि — साधक का शरीर एक वृक्ष रूप है जो उस परमतत्त्व की ही मूर्ति है उसी में परमतत्त्व का साक्षात्कार होता है। इसके शाखा, पेड़, फल-फूल आदि कुछ भी नहीं हैं अर्थात् विक्षेप जनित प्रसार समाप्त हो गए हैं। इसके चक्र रूपी पुष्पों की सुगंध में अनुरक्त होकर जीवात्मा रूपी भ्रमर निवास कर रहा है। अनाहद चक्र के कमल के बारह दलों को इस भ्रमर ने अपने हृदय में धारण कर लिया है। सोलह दल वाले विशुद्ध नामक चक्र में साधक का प्राणवायु संचारित हो रहा है और सहस्र दल वाले आकाश या शून्य में उस कमल के विकास रूपी आनन्द का फल प्राप्त होने लगा है। सहज-समाधि के आनन्द रस से यह वृक्ष अत्यधिक अभिसिंचित हो गया है।²

1 डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, कबीर वाङ्मय — सबद, पद 12, पृ० 15

1 डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र, कबीर ग्रंथावली, पद 166, पृ० 292

प्र० पुष्पपाल सिंह ने वृक्ष को ब्रह्म रूप में लेते हुए व्याख्या की है कि – शून्य तरु पर एक अनन्त सौन्दर्यमयी मूर्ति 'ब्रह्म' है। 'सुरत' द्वारा सहज समाधि द्वारा उसके दर्शन किए जा सकते हैं। उस तरु की शाखा, पत्र, तना इत्यादि सामान्य वृक्ष की भांति नहीं है अपितु वहाँ तो केवल मात्र अमृत का ही श्रवण होता है। उस तरुवर के फल पर मधु-लोभी मधुकर साधक पहुँचता है और उस अमृत को अपने हृदय में संचित कर लेता है। उसका फल शून्य में ही लगा है जिसे सांसारिकता का स्पर्श तक नहीं होता केवल साधक ही उस वृक्ष को देख सकता है।¹

'वृक्ष' के ही रूपक द्वारा संसार की रचना प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कबीर का एक अन्य पद प्रस्तुत है।

बुझ बुझ पंडित बिरवा न होय, आधा बसे पुरुष आधा बसे जोय।
 बिरवा एक सकल संसारा, सरग ससि जड़ गई पताला।
 बारह पंखुरी चौबिस पाता, धन बरोह लागे चहुँ पासा।
 फूलै न फलै वाकी है बानी, रैन दिवस विकार चुवै पानी।
 कहै कबीर कछु अछलो न तहिया, हरि बिरवा प्रतिपाली न जहिया।²

डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह ने इस पद में संसार रूपी वृक्ष का सन्दर्भ लेते हुए उसकी चोटी ब्रह्मलोक व जड़ पाताल में मानी है इसमें बारह महीने रूपी पंखुडियों है, जो काल के अन्तर्गत हैं जिसमें बारह महीने होते हैं इसमें चौबीस पत्ते अर्थात् पक्ष हैं जो घनी जटाओं रूपी कामनाओं से आवृत्त हैं।

संसार एक वृक्ष के सदृश हमारे सामने प्रस्तुत है, जिसकी जड़ नीचे गहराई में अर्थात् पाताल में है। सांसारिक वृक्ष की संरचना पत्तियों पंखुडियों से निर्मित होती है उसी प्रकार बारह महीने रूपी पंखुडियों और प्रत्येक माह के दो पक्ष की भांति चौबिस पत्ते हैं जिसमें अनेक प्रकार की शाखाएँ व प्रशाखाएँ निकली हैं। जिसमें न तो ज्ञान रूपी फूल फूलने पाता है और न मोक्ष का फल ही लगता है। सांसारिक विकारों का रस इससे सदा टपकता रहता है।

1. प्र० पुष्पपाल सिंह, पदावली, पद 166, पृ० 389

2. डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, कबीर वाङ्मय – सबद, पद 196, पृ० 247

इस पद में इस सांसारिक वृक्ष के द्वारा कबीर का मत है कि इस सांसारिक असारता को साधारण जीव समझ सके अपने हृदय को प्रभु भक्ति में रमा सके क्योंकि प्रभु ही इस सांसारिक वृक्ष को भी निर्मित करने वाला है। डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह ने भी इसी तथ्य को प्रतिपादित किया है – “सांख्य मत के अनुसार पुरुष प्रकृति का द्वैत रहता है परन्तु कबीर ने इस पद में अद्वैत भाव रखा है। कबीर के मत से पुरुष प्रकृति रूपी संसार वृक्ष हरि के द्वारा ही प्रतिपादित होता है।¹

प्रस्तुत रूपक में संसार एक ऐसे वृक्ष के रूप में है, जिसकी सृष्टि प्रभु के द्वारा होती है। इसमें ज्ञान रूपी फूल और मुक्ति रूपी फल स्वतः नहीं लगते। उसकी प्राप्ति साधना ही से सम्भव है। इस वृक्ष की बारह पंखुड़ियों को कबीर ने काल के रूप में लिया है जिसके चौबीस पत्ते हैं, जिसके चारों ओर घनी जटाओं रूपी इच्छाएँ हैं। इस इच्छा रूपी जटाओं से स्वयं को निकालने वाला ही परमसत्ता रूपी जड़ तक पहुँच पाता है।

कबीर का यह रूपक एक ओर वृक्ष का एक सरस रूपक बिम्ब खडा करता है दूसरी ओर काव्य के परिवेश से घिरे हुए जीवन बिम्ब का स्वरूप प्रस्तुत करता है।

3.4.2 बेल सम्बन्धी रूपक

वनस्पति जगत में वृक्ष प्रजाति की विकास प्रक्रिया में बेलि का स्वरूप जीवन विकास से बहुत मिलता-जुलता है। बेलि का एक पर्याय लता भी है जो निरन्तर ऊपर जाती हुई या फैली हुई दिखाई देती है। आध्यात्मिक अर्थ में सृष्टि का फैलाव ‘ब्रह्म’ रूपी बेल से बताते हुए कबीर ने अनेक सुन्दर रूपकों की रचना की है। ये रूपक कहीं सृष्टि के रहस्य को बताते हैं तो कहीं माया-भक्ति आदि के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। यथा एक उद्धरण प्रस्तुत है—

राम गुन बेलडी रे, अवधू गोरषनाथि जाँनी।

न तिस रूप न छाया जाकै, बिरध करै बिन पाँनीं॥टेक॥

1. डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, कबीर वाङ्मय खण्ड 2, सबद, पृ० 242

बैलडिया द्वै अनी पहुँती, गगन पहुँती सैली।
 सहज बेलि जब फूलण लागि, डालि कूपल मेलही।।
 मन कुंजर जाइ बाडी विलंबा (विलग्या) सतगुरु वाही बेलि।
 पंच सखी मिलि पवन पंयप्पा, बाडी पानीं मेलहीं।
 काटत बेलि कूपल मेल्ह सींचत ही कुम्हिलानी।
 कहै कबीर ते बिरला जोगी, सहज निरन्तर जौनी।¹

प्रस्तुत पद के सन्दर्भ में सर्वप्रथम विद्वानों द्वारा दिए गए अर्थ प्रस्तुत हैं जिसके माध्यम से इसे अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है —

डॉ० जयदेव सिंह ने 'राम गुन बेलडी' का अर्थ राम भक्ति रूपी लता के सन्दर्भ में किया है। इस भक्ति रूपी लता का न तो कोई स्थूल रूप है और न छाया। यह बिना जल के वृद्धि को प्राप्त होती है। 'इडा' 'पिंगला' नामक दो शाखाएँ हैं जो स्वच्छन्दतापूर्वक गगन मंडल तक पहुँचती हैं। इस बेलि को काटने पर कोपले निकलती हैं अर्थात् भक्ति को विषयों से असम्पृक्त रखने पर आनंद की कोपलें निकलती हैं विषयों से सींचने पर वे कुम्हला जाती हैं। तात्पर्य है कि भक्ति के लिए वैराग्य आवश्यक है।²

डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र ने इस जगत से वैराग्य के द्वारा ही भक्ति को सम्भव बताया है।³

प्रो० पुष्पपाल सिंह ने बेल को माया के सन्दर्भ में ग्रहण किया है कि माया बेल को काटने से राम गुन बेलडी बेल हरी-भरी होती है व उसके अभिसिंचन से वह कुम्हला जाती है।⁴

उपरोक्त सभी विद्वानों के मत भिन्न-भिन्न हैं। प्रस्तुत पद में परब्रह्म के गुणों के लिए 'बेल' रूपक लेकर प्रभु-भक्ति का स्वरूप प्रस्तुत किया है। सासारिक बेल का स्वरूप उसके फैलने में हमें द्रष्टव्य होता है, उसकी छाया की हम अनुभूति कर सकते हैं और इस सबके लिए निरन्तर सिचाई की आवश्यकता पड़ती है। उसमें शाखाएँ, प्रशाखाएँ निकलती हैं व

1 डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, सबद, पद 253, पृ० 323

2 डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, सबद, पद 163, पृ० 323

3 डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र, कबीर ग्रन्थावली, पद 163, पृ० 289

4 प्रो० पुष्पपाल सिंह, कबीर ग्रन्थावली सटीक, पद 163

उसको जितना छाटा जाता है वह उतना अधिक पुष्पित पल्लवित होता हुआ ऊँचाई की ओर उन्मुख होता है। आध्यात्मिक सन्दर्भ में परब्रह्म रूपी गुणों की बेल के पुष्पित पल्लवित होने के लिए भक्ति रूपी सिचाई की आवश्यकता होती है। अपनी इन्द्रियों को जितना विषयों से मोड़ा जाता है अर्थात् छाटा जाता है, वह उतनी तीव्र गति से परब्रह्म की ऊँचाई तक पहुँचती है।

परब्रह्म के 'गुण' रूप में प्रस्तुत बेल 'संस्कृत साहित्य के तीन अर्थों में प्रचलित है—

संस्कृत में 'गुण' के तीन अर्थ हैं — 1 धर्म या लक्षण, 2 रस्सी या डोरा, 3. प्रमुख नहीं किन्तु गौण।

सांख्य में गुण का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं माना गया है। सांख्य के अनुसार प्रत्येक गुण की एक नई इकाई के पीछे, चाहे वह कितनी भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्यों न हो, उसी के अनुरूप एक सूक्ष्म इकाई है जिसकी प्रतिक्रिया को ही हम उसका 'गुण' कहते हैं। 'गुण' का एक और सन्दर्भ 'रस्सी' भी माना गया है इन रस्सियों के द्वारा ही आत्मा विचार और द्रव्य दोनों से बंधा सम्पृक्त होता रहता है। 'गुण' असंख्य है किन्तु उनके तीन प्रमुख लक्षणों के दृष्टिकोण से उन्हें तीन वर्गों में वर्गीकृत किया गया है सत्त्व (बौद्धिक तत्त्व), रज (ऊर्जा तत्त्व) एवं तम (द्रष्टातत्त्व)।

गुण आपस में परस्पर संपृक्त रहते हैं व एक दूसरे पर पारस्परिक प्रतिक्रिया भी करते रहते हैं। इन प्रतिक्रियाओं के परिणामस्वरूप ही लक्षण, धर्म, गुण और पदार्थ पैदा होते हैं। जब प्रत्येक गुण दूसरे गुण तत्त्वों के विरुद्ध पड़ जाता है केवल उसी अवस्था में ये गुण विभिन्न मात्राओं में नहीं होते और इसी दशा को 'प्रकृति' कहा गया है। जैसा कि एस०एन० दासगुप्त ने स्पष्ट किया है कि यह वह स्थिति है जो किसी उद्देश्य की पूर्ति नहीं करती अस्तित्व भी उसे नहीं कहा जा सकता, अनास्तित्व भी नहीं, किन्तु धारणात्मक रूप से यह दशा सब पदार्थों की जननी है। यह आदिम दशा है, जिससे वैषम्य होकर बाद में समस्त रूपान्तर जन्म लेते रहते हैं¹ —

1 एस०एन० दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-1, पृ० 230-231

जन्म लेने की इसी प्रक्रिया अर्थात् सृष्टि का उद्भव व विकास इसे स्पष्ट करने के लिए ही कबीर ने 'गुणवंती बेल' का रूपक लिया है। जिसे विद्वानों ने अनेक सन्दर्भों में ग्रहण किया है। भगवतस्वरूप मिश्र ने सर्वत्र उसे माया के सन्दर्भ में ग्रहण किया है जिसमें माया के दुर्दमनीय रूप का वर्णन अधिक है। यह माया कायायोग की साधनाओं से नष्ट नहीं होती। कायायोग की सिद्धियों से इसके अंकुर नष्ट नहीं होते लेकिन ज्ञान व बीज से इसके बीजों में पुनः वृक्ष रूप में परिणित हो जाने की क्षमता नहीं रह जाती।¹

आध्यात्मिक अर्थ में परब्रह्म गुणों की यह 'बेल' सांसारिक बेल के विपरीत है क्योंकि इसका कोई स्वरूप नहीं है जिसे देखा जा सके, इसकी छाया की भी अनुभूति नहीं होती बिना पानी के यह वृद्धि करती है अर्थात् ये बेल ऐसी विलक्षण है कि जो अपना आकार रखती है न जिसके लिए सिंचाई की आवश्यकता है। इन गुणों को साधक भक्ति द्वारा प्राप्त कर सकता है। सांसारिक बेल को काटा छांटा जाता है जिससे वह उन्नत अवस्था में बढ़ सके उसी प्रकार सांसारिक कार्यों में लिप्त रहने के साथ-साथ भक्ति तत्त्व को हृदयंगम करते हुए ही परब्रह्म रूपों गुणों की बेल तक पहुँचा जा सकता है।

गुणों की ये बेल निराली है। सत्त्व, रज व तम परस्पर संपृक्त रहते हैं। ये 'बेल' त्रिगुणात्मक रस्सी के सदृश्य है। कबीर गुणवन्ती बेलि के रूपक से साधना और जीवन साधना के विभिन्न सन्दर्भों की बड़ी सटीक व्यंजना करते हैं। कबीर के इन रूपकों के माध्यम से विभिन्न सन्दर्भों में अनुभूति की ध्वनि निकलती है।

निम्नलिखित साखी द्रष्टव्य है —

जे काटौ तौ डहडही, सींचौ तौ कुम्हिलाइ।

इस गुणवन्ती बेलि का, कुछ गुन कहा न जाइ।²

1. भगवतस्वरूप मिश्र, कबीर ग्रन्थावली, पृ० 66

2. डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, कबीर वाङ्मय, बेलि कौ अंग, साखी 3, पृ० 335

इस साखी में प्रयुक्त गुणवन्ती बेलि को विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न ढंग से व्याख्यायित किया है —

डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव के शब्दों में — यह माया बेलि विचित्र व असामान्य है। यदि इसको काटा जाए तो यह हरी-भरी तथा पल्लिवित हो उठती है और यदि इसको सींचा जाए तो यह मुरझा जाती है।¹

हरिहर प्रसाद गुप्त ने भी यही अर्थ किया है कि सांसारिक विषयों को जितना नष्ट करो ये राम बेल बंधती या लहलहाती है। विषयों के संयोग से यह मुरझा जाती है।²

भगवत स्वरूप मिश्र ने गुणवन्ती बेलि को विचित्र विरोधी गुण वाली त्रिगुणात्मक माया रूपी बेल कहा है। इस बेल को अगर तत्त्वज्ञान एवं भक्तिरहित साधना, कर्म एवं संयम रूपी कुल्हाड़े से काटो तो यह और भी अधिक हरी-भरी हो जाती है। वासनाएँ दबाने के बाद में प्रबल होती है। उनके मिथ्यात्व का भाव ही उन्हें नष्ट करता है। अगर इस बेलि को भक्ति रूपी रस से सींचते रहो अर्थात् वासनाओं को भक्ति का साधन बनाकर भोगते रहो, तो यह माया रूपी बेल मुरझा जाती है।³ यदि इसे इन्द्रियों के कुल्हाड़े से काटा जाए तो यह और अधिक बढ़ती जाती है और प्रभु-भक्ति के जल से सिंचित किया जाए तो यह कुम्हला जाती है।

उपर्युक्त रूपक में गुणवन्ती बेलि विरोधाभासी अर्थव्यंजना करते हुए उलटवासी का स्वरूप ग्रहण करती है। कबीर की इस बेलि का अर्थ सामान्य बेलि के विपरीत है। कबीर अपनी अभिव्यंजना शक्ति के बल पर बेलि के सामान्य कर्म के आधार पर आध्यात्मिक जीवन चेतना की अभिव्यक्ति बड़ी सफलता से कर देते हैं —

आंगणि बेलि अकासि फल अण ब्यावर का दूध।

ससा सींग की धनहडी, रमै बांझ का पूत।।⁴

1. डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, कबीर वाङ्मय, बेलि कौ अंग, साखी-3, पृ० 335

2. डॉ० हरिहरप्रसाद गुप्त, कबीर ग्रन्थावली (साखी), पृ० 354

3. डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र, कबीर ग्रन्थावली, साखी, पृ० 180

4. डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, कबीर वाङ्मय, बेलि कौ अंग, पृ० 336

प्रस्तुत साखी में भी बेलि का रूपक विद्वानों को विभिन्न अर्थ संदर्भों की ओर ले जाता है —

एक विद्वान ने बेलि को माया के सन्दर्भ में लिया है कि इसके फल दूर आकाश में शून्य में लगते हैं।

दूसरे विद्वान बेलि को अनन्त—अविनाशी ब्रह्म की महिमा के सन्दर्भ में लेते हैं। उनके अनुसार इसका फल आकाश में है। (परमवृक्ष स्वर्ग में है)।

डॉ० जयदेव सिंह वासुदेवसिंह ने भी उपरोक्त सन्दर्भ को लेते हुए यह अर्थ किया है कि ससार के आगम में माया की बेल फैली है व उसका फल आकाश में है।¹

इस साखी में भी कबीर अपनी रूपक संरचना का आधार उलटवासी नामक काव्य रूप को ही बनाते हैं।

कबीर की काव्य—चेतना कृषक जीवन से सम्बन्धित उपादान अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए रूपक संरचना उससे व्यंजित अनेक संदर्भों की दिशाएँ खोलते हैं। बेलि के रूपक से अनेक संदर्भों की व्यंजना हम अभी देख चुके हैं। इसी रूपक के माध्यम से निषेधात्मक भाव को लेकर कबीर अपनी जीवनानुभूति की जो व्यंजना करते हैं वह देखते ही बनती है—

अब तौ ऐसे हवै पडी, ना तू बडी नौ बेलि।

जालन आँनी लाकडी, ऊठी कूपल मेलिह।²

अधिकांश विद्वानों ने इस रूपक को व्याख्या करते हुए माना है कि — काया योग आदि की साधना से माया रूपी बेलि और विक्षोभ रूप उसके फल नष्ट से प्रतीत होने लगते हैं। जैसे सूखी लकड़ी केवल जलाने के उपयोग की है, वैसे ही माया को सामान्य जीवन—निर्वाह का साधन भर समझने का अहंकार साधक में जाग जाता है, पर पूर्ण तत्त्वज्ञान तथा ईश्वर प्रेम के परिपाक के अभाव में अचानक किसी वासना से यह माया पुनः सक्रिय हो जाती है और उसमें वासना के अकुर फूटने लगते हैं वासना केवल ज्ञान व भक्ति से ही समाप्त होती है।

1 डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, कबीर वाङ्मय साखी, बेलि कौ अग, पृ० 336

1 डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, बेलि कौ अग, पृ० 334

3.4.3 फल-फूल सम्बन्धी रूपक

कबीर की रूपक चेतना पर विचार करने पर स्पष्ट होता है कि तबूडी और बेलि सांसारिक जीवन प्रवाह और उसके प्रति फल स्थूल-जीवन की ओर संकेत करते हैं। एक अवस्था जिसकी ओर कबीर का संकेत है वह सांसारिक मनोभूमि की अभावात्मक बोध की भावभूमि है। उस भाव-भूमि में आने के बाद उसके तत्त्व-बोध की जलाने वाली लकड़ी में नई कोपले लगने लगती है।

एक सामान्य से जीवन-बोध के रूपक से गहनतम अनुभूति की प्रक्रिया कबीर का यह रूपक व्यंजित करता है। इस रूपक के प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों साधर्म्य और सारूप्य भाव के साथ एक उपयुक्त काव्यात्मक भाव-भूमि की संरचना करते हैं -

फल मीठा पै तरवर ऊँचा, कौन जतन करि लीजै।
 नेक निचोई सुधा रस वाकौ, कौन जुगीत सौं पीजै।।टेक।।
 पेड विकट है महा सिलहिला अगह गहा नहिं जावै।
 तन मन मेल्हि चढै सरधा सौं, तब वा फल कौं खावै।।
 बहुतक लोग चढै अनभेदू देखा देखी गहि बांहीं।
 रपटि पॉव गिरि परे अधर तै आइ परे भुइं मांहीं।।
 सील सॉच के खूँटे धरि पग, ग्यान गुरु गहि डोरा।
 कहै कबीर सुनो भाई साधौ तब वा फल कौं तोरा।¹

ऊँचे वृक्ष पर स्थित फल की प्राप्ति के लिए होने वाले दुस्साध्य प्रयत्न के रूपक से कबीर मुक्ति रूपी फल और उसके लिए होने वाली आध्यात्मिक साधना की व्यंजना करते हैं। मुक्ति रूपी फल की प्राप्ति के लिए साधना मार्ग रूपी वृक्ष पर चढ़ने का उपक्रम अनेक लोग करते हैं परन्तु मार्ग दुःसाध्य होने के कारण अनेक लोग इस साधना मार्ग से फिसल जाते हैं, और साधारण लौकिक जीवन में रत हो जाते हैं परन्तु जो सद-आचरण द्वारा सत्य के खूँटे पर पैर रखकर तथा ज्ञान की डोरी पकड़कर साधना रूपी वृक्ष पर चढ़ते हैं तभी ऊँचाई पर लगे फल रूपी मुक्ति की प्राप्ति सम्भव है।

1 डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, कबीर वाङ्मय पद, 178, पृ० 225

प्रस्तुत-अप्रस्तुत विधान को स्पष्ट करते हुए कबीर की रूपक चेतना स्पष्ट है कि साधना का फल अर्थात् मुक्ति या प्रभु मिलन बहुत मधुर होता है, किन्तु वहाँ तक पहुँचने का मार्ग (तरुवर) बहुत कठिन है। वह फल कैसे प्राप्त हो? उसके मधुर अमृत रस को निकालकर किस युक्ति से उसका पान किया जाए। साधना रूपी मार्ग अत्यन्त रपटीला है, वह आसानी से पकड़ में नहीं आता। उस पर कैसे चढ़ा जाए?

जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक तन, मन दोनों के द्वारा इस साधना रूपी वृक्ष पर चढ़ता है, वही उस अमृत फल को चख सकता है। साधना मार्ग का रहस्य न जानने के कारण अनेक लोग साधना रूपी वृक्ष पर चढ़ नहीं पाते व फिसल कर साधारण लौकिक जीवन में पुनः प्रविष्ट हो जाते हैं। सदाचार के खूँटे पर पैर रखकर व गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान की डोरी पकड़कर साधना रूपी वृक्ष पर चढ़ने से ही मुक्ति रूपी फल की प्राप्ति होती है।

वृक्ष और उस पर लगने वाले फल-फूल में कबीर का विशेष आकर्षण है। उसका बिम्ब कबीर की चेतना पर इतना रच बस गया है कि वह कबीर की अनेक अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए रूपक के उपादान प्रस्तुत करता है।

हिन्दी साहित्य में रूपक विधान के लिए कमल और उसके पुष्प की एक अपनी अहं भूमिका रही है। कमल की अनेक विशेषताओं के माध्यम से अनेक जीवन संदर्भों की व्यंजना हुई है। कबीर अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों के लिए कमलिनी के रूपक की ओर आकर्षित होते हैं —

काहे रे नलनि तूँ कुम्हलानी।
 तेरे ही नालि सरोवर पौनी॥टेक॥
 जल मैं उत्पत्ति जल मैं वास, जल मैं नलिनि तोर निवास।
 न तल तपति न ऊपरि आगि, तोर हेतु कहु कासनि लाग॥
 कहै कबीर जे उदिक समौन, ते नहिँ मुए हमारे जान॥¹

आत्मा के लिए कमल का रूपक लेकर कबीर ने लौकिक व आध्यात्मिक अभिव्यंजना प्रस्तुत की है। कमल जल में ही उत्पन्न होकर जल में ही रहता है। जल परम चैतन्य का बड़ा सटीक उपमान है। आत्मा परम चैतन्य रूपी जल से उत्पन्न होती है। यह संसार भी उस परम चैतन्य का रूप है। अतः इसमें आत्मा का विकास उस परम चैतन्य के सान्निध्य में रहना है।

इस सन्दर्भ में डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह ने इस रूपक की व्याख्या करते हुए कहा है कि – जीव की मूल आत्मा जो सच्चिदानन्द है। जीव उससे संयुक्त न होकर सांसारिक विषयों में अनुरक्त रहता है। यही उसकी म्लानता का कारण है, जिसके मूल में आनन्द का अगाध सागर है वह तभी म्लान हो सकता है जब वह उससे सम्पर्क स्थापित न करके उससे प्रेरणा ग्रहण न करके बाह्य विषयों में आनन्द खोजता है।

कबीर ने पेड़-पौधों और फूलों को एक कवि की दृष्टि से देखा है। इनके प्रति कबीर की यह दृष्टि नहीं बनी होती यदि कबीर किसी न किसी रूप में कृषक जीवन के साक्षी नहीं होते। साक्षी होने के कारण ही कबीर किसी भी जीवनानुभूति के लिए उपयुक्त पेड़-पौधे या फल का चयन कर लेते हैं और यह चयन इतना सटीक होता है कि यह किसी भी जीवन संदर्भ की अभिव्यक्ति के लिए सटीक रूपक बनकर आ जाता है।

सेमल का फूल अपने रूपाकर्षण के लिए जाना जाता है, जबकि उसमें इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता। कबीर फूल की इस विशेषता को अप्रस्तुत-विधान की चेतना बनाते हुए जीवन की निस्सारता की सफल अभिव्यक्ति कर देते हैं। यथा –

यह ऐसा असार (संसार) है, जैसा सेंवल फूल।
दिन दस के ब्योहार कौ, झूठै रंगि न भूलि।¹

सेमल का फूल जब तक अस्तित्व में रहता है तो बहुत मनोहर व आकर्षक होता है परन्तु जैसे दो चार दिन गुजरते हैं उसका आकर्षण समाप्त होने लगता है और वह क्षीण

1. डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, (साखी), चितावड़ी कौ अंग, पृ० 105

होकर गिर जाता है। कबीर ने संसार को सेमल के फूल के रूपक में ग्रहण किया है कि यह 'संसार भी क्षणिक व भ्रम में डालने वाला है केवल 'ईश्वर' ही परम-सत्य है और जीव को संसार के क्षणिक एवं झूठे आकर्षण में नहीं फँसना चाहिए व अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं भूलना चाहिए।

आध्यात्मिक साधना और जीवन साधना में सन्तों ने 'मन' की विशेष भूमिका स्वीकार की है। मन जीव का प्रेरक है व मन के अनुसार जीवन को संचालित किया जाता है। जीवन में विषमताएँ ही विषमताएँ हैं। कबीर इसी तथ्य को क्यारी, बीज और उससे उत्पन्न फसल के रूपक से जीवन की विषमता को संकेतित करते हुए मन को काटने की बात करते हैं –

कबीर मारौ मन को, टूक टूक है जाइ।

विष ही क्यारी बोइ करि, लुणत कहा पछिताई।¹

मनुष्य ने अपने अन्तर्मन में विष रूपी क्यारी रोपी है और जब उसका परिणाम विष रूप में ही सामने आ रहा है तो मनुष्य को पछतावा हो रहा है। एक प्रसिद्ध उक्ति में निहित ये पंक्ति सत्य ही कही जाएगी कि जैसा बोओगे वैसा ही काटोगे अर्थात् बोआ पेड बबूल का तो आम कहाँ से आए। किसान जब अच्छा बीज बोता है तो उसे अच्छा अन्न प्राप्त होता है जो हमें जीवन देता है। इस उदाहरण से कबीर यह संदेश दे रहे हैं कि मन को साधना द्वारा इस प्रकार रूपान्तरित किया जाना चाहिए कि उसकी वासना या विष बोने की शक्ति क्षीण हो जाए।

कबीर के इस रूपक की अर्थव्यंजना को विभिन्न विद्वानों की व्याख्याओं से और अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

प्रो० पुष्पपाल सिंह के शब्दों में – चंचल वृत्ति मन को इतना मारूँगा कि टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा। विषय वासना की फसल बोने के बाद उसे काटने में पछतावा होता है। अपने कुकर्मों का फल तो भोगना ही पड़ेगा।²

1 डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, साखी, मन कौ अंग 5, पृ० 126

2 प्रो० पुष्पपाल सिंह, कबीर ग्रन्थावली सटीक, मन कौ अंग, साखी 5, पृ० 150

डॉ० भगवत स्वरूप मिश्र के शब्दों में – मन ने वासनाओं के विष की क्यारी बो तो दी है पर अब उसको काटने में क्यों पछतावा हो रहा है। कबीर कहते हैं कि मन को ऐसा मारो कि वह छिन्न-भिन्न होकर समाप्त हो जाए और उसे वासनाओं में फंसने का अवसर ही न मिले, वह अनासक्त भाव से उसका फल भोगे।¹

डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह के शब्दों में – ‘हे दुष्ट मन तूने विषय वासना रूपी क्यारी बोई है तो उसके फल को काटने से क्यों पछता रहा है? जब तक मेरा साम्राज्य रहेगा तब तक तू बीज वपन करता रहेगा। अतः यह आवश्यक है कि मैं तुझे इस प्रकार मारूँ कि तू सर्वथा छिन्न-भिन्न हो जाए।’²

डॉ० हरिहर प्रसाद गुप्त के शब्दों में – चंचल मन ही सारे विषय विकारों का मूल है। मन माया में फंसकर पथभ्रष्ट करता है मन के अनुसार चलने की आशय है विष की क्यारी बोना अथवा विषयों को बढ़ावा देना। विषय-रस का फल है आध्यात्मिक विनाश, रामरस अथवा मूल (आत्मा) का नाश, विष का बीज विष ही उत्पन्न करेगा। अतः विष के मूल मन को मारना ही श्रेयस्कर है।³

उपरोक्त सभी व्याख्याओं में जैसा बोओगे वैसा ही काटोगे का भाव ही मेरी अभिव्यक्ति के अधिक समीप है। सही प्रक्रिया का ज्ञान होने से ही मनुष्य सही कर्म की ओर प्रवृत्त होता है।

3.4.4 वर्षा सम्बन्धी रूपक

जीवन में सही कर्मों के द्वारा ही आध्यात्म रूपी खेत में लाभ प्राप्त किया जा सकता है। प्रभु की कृपा रूपी बारिश से तो यह और भी हरा-भरा हो जाता है। कबीर का निम्नांकित रूपक इसी भाव की बड़ी सशक्त व्यंजना करता है –

1 डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र, कबीर ग्रन्थावली, मन कौ अंग, पृ० 68

2 डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, साखी, मन कौ अंग, पृ० 126

3 डॉ० हरिहरप्रसाद गुप्त, कबीर ग्रन्थावली, पृ० 131

गगन घटा घहरानी साधो, गगन घटा घहरानी।
 आपन आपन मेडि सम्हारो, बहयो जात यह पानी।
 मन के बैल सुरत हरवाहा, जोत खेत निर्बानी।
 दुविधा दूब छोल करू बाहर, बोवो नाम को घानी।
 जोग जुक्ति करि करू रखवारी, चर न जाए मृग धानी।
 बाली झार कूटि घर लावै, सोई कुसल निसानी।¹

वर्षा होने पर किसान मिट्टी को जगह-जगह ऊँचा करके मेड बनाता है जिससे वर्षा का पानी रुक सके और खेती अच्छी हो सके। बैल और हलवाहे के माध्यम से किसान खेत जोतता है उसी क्रम में घास आदि खरपतवार को निकालकर उसमें बुवाई करता है। बोई हुई फसल की जी-जान से सुरक्षा करता है कि मृग आकर कहीं चर न लें। इतने परिश्रम और सावधानी के बाद तैयार धान की फसल को कुशल कृषक जीवन की जितनी सुन्दर और अर्थपूर्ण व्यंजना है, उतनी ही गम्भीरता के साथ आध्यात्मिक जीवन बिम्ब की प्रस्तुति भी। “भगवद कृपा रूपी घटा जीव पर बरस रही है और जिस प्रकार कृषक मेड संभालता है उसी प्रकार भक्त को भी चित्त को केवल प्रभु में रमाना चाहिए जिसे भक्ति रूपी फसल अच्छी प्रकार से तैयार हो सके। कृषक रूपी साधक मन रूपी चंचल बैल को ध्यान रूपी हरवाहे से नियन्त्रण कर भक्ति रूपी खेत जोतता है। वह दुविधा एवं विषय-विकार रूपी दूब को चित्त से निकाल फेंकता है। उसके स्थान पर केवल भगवान का नाम रूपी बीज बोता है और उसकी यत्नपूर्वक रक्षा करता है जिससे सांसारिकता रूपी मृग जीव को वश में न कर ले। इतने प्रयत्न के बाद जो परमसत्ता रूपी बालि की प्राप्ति जीव को होती है, वही कुसल किसान रूपी साधक की उपलब्धि है।

3.5 सामन्ती जीवन सम्बन्धी रूपक

कबीर कृषक जीवन के सामाजिक पक्ष के भी साक्षी रहे हैं। मध्यकाल का कृषक जीवन सामन्ती और जमींदारी व्यवस्था के बोझ तले पड़ा हुआ पीड़ा से कराह रहा था। कबीर ने

1. क० शब्दा० 1, शब्द 14, पृ० 64

कृषक जीवन की उस पीड़ा को अनुभूत किया। उस रूप से तादात्म्य स्थापित किया और उससे अपनी कविता के रूपक विधान के लिए प्रतिमान ग्रहण किए। कबीर के इन रूपकों की संरचना से एक और सामन्ती और जमींदारी व्यवस्था में किसान की जीवन-दुर्दशा की अभिव्यक्ति होती है वहीं से आध्यात्मिक जीवन बिम्ब की सृष्टि भी होती है जो कबीर के काव्य की मूल चेतना को अभिव्यक्त करने के लिए एक सक्षम और सशक्त आधार देती है।
एक रूपक देखिए –

अब न बसूँ इहि गाँऊ गुसाई।
तेरे नेवगी खरे सयांने हो राम।।टेक।।
नगर एक तहँ जीव धरम हत, बसै जु पंच किसानां।
X X X X X
गाँउ कु ठाकुर खेत कु नेवै काइथ खरच न पारे।
जोरि जेवरी खेति पसारै, सब मिली मोकों मारै हो राम।।
खोटौ महतौ विकट बलाही, सिर कसदम का पारै।
बुरौ दिवांन दादि नहिं लागै, इक बांधै इक मारे हो राम।।
धरमराइ जब लेखा मांग्या, बाकी निकसी भारी।
पॉच किसाना भाजि गए हैं, जीव धर बांध्यौ पारी हो राम।।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, हरि भजि बांधौ भेरा।
अबकि बेर बकसि बंदे कौ, बहुरि न भौजलि फेरा।।¹

इस रूपक में कबीर ने शरीर को गाँव या क्षेत्र माना है। इसमें रहने वाले जीव को मुख्य काश्तकार और पॉच ज्ञानेन्द्रियों को सहायक किसान, पटवारी के लिए कर्म, रूपक लेकर आध्यात्मिक व सामाजिक दोनों अभिव्यंजनाएँ इस प्रकार की हैं कि – शरीर रूपी गाँव का स्वामी मन है जिसके अधीन कार्य करने वाले पॉच किसान अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ (चक्षु, घ्राण, श्रवण, रसना और त्वचा) ये पॉचों इन्द्रियाँ मन के अनुशासन में नहीं रहती। किसान खेत नापने के लिए जरीब का उपयोग करता है, उसी प्रकार तृष्णा और वासना की जेवडी शरीर में व्याप्त रहती है। गाँव के किसान से यदि कोई गलती हो जाए तो गाँव के कर्मचारी उसके

1 डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, कबीर वाङ्मय, सबद पद 10, पृ० 11

साथ कठोर व्यवहार करते थे कबीर का कहना है कि – जीव से भी यदि कोई ऐसा कर्म हो जाए जो गलत है तो प्रभु के कर्मचारी भी उनका दण्ड बड़ी कठोरता से देते हैं अर्थात् कोई बांधता है, कोई मारता है और ऐसे समय में सहयोगी किसान भी साथ छोड़ देते हैं। कबीर का युग वो समय था जब राजा वर्ग अपनी प्रजा का शोषण कर रहा था, गाँव के किसान की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी राजा व सामन्त वर्ग उसका शोषण कर रहा था। उपरोक्त पद में इसी मार्मिक स्थिति को कबीर ने अध्यात्म से जोड़ा है कि कृषि के भरोसे जीने वाला किसान किस तरह राजकर्मचारी ग्राम मुखिया आदि के द्वारा प्रताड़ित होता था। वह कर्ज से लद जाता था उससे बेगार ली जाती थी, निर्ममतापूर्वक दण्ड दिया जाता था। लगान आदि न देने पर हाथी के पैरों में बांधी जाने वाली रस्सी से जकड़कर यातनाएँ दी जाती थीं। किसान की करुण दशा की ओर किसी का ध्यान नहीं था कि उनकी रहन-सहन की स्थिति कितनी जर्जर थी उनकी दयनीय दशा का वर्णन अकथनीय है।

प्रस्तुत रूपक उपर्युक्त व्यवस्था के सन्दर्भ में साधना की मनोभूमि को प्रस्तुत करता है कि जीव शरीर रूपी गाँव में नहीं बसना चाहता क्योंकि पाँच इन्द्रियों रूपी किसान मेरा कहना नहीं मानते, और इस ग्राम का ठाकुर इस शरीर को माप लेता है अर्थात् अपने अधीन कर लेता है, इस ग्राम का कुठाकुर, शरीररूपी ग्राम का कुमाप करता है वह ऐसे कर्मों में शरीर को प्रवृत्त करता है कि कर्म भोग के लेखा-जोखा रूप कायस्थ के लेन-देन का हिसाब कभी पूरा नहीं होता संचित कर्मों से उधार लेने, प्रारब्धों के भोग करने एवं क्रियमाण कर्मों के नए संस्कार बनने का क्रम टूटता ही नहीं है। यह मन आशा, तृष्णा और वासना रूपी जेवड़ियों को जोड़कर इतनी लम्बी बना लेता है कि अपने हिसाब की चुकती में सारे शरीर रूपी खेत को ही नापकर अपने कब्जे में कर लेता है पर तब भी कर्म-भोग का हिसाब चुकता नहीं होता। गाँव का उधार देने वाला प्रारब्ध कर्म अत्यन्त दुष्ट है और क्रियमाण कर्म रूपी बलाही (कर्मचारी) भी विकट है। बुद्धि रूपी दीवान भी अव्यवस्थाओं के प्रति सहानुभूति रखता हुआ न्याय नहीं कर पाता है।

उपरोक्त स्वरूप विश्लेषण व अर्थव्यंजना में जहाँ एक ओर कृषक जीवन की त्रासदी का मार्मिक वर्णन है वहीं गूढ़ परमतत्त्व की सत्ता के रहस्य का उद्घाटन किया है।

3.6 कृषक दुर्दशा सम्बन्धी रूपक

कृषक जीवन अभावों का जीवन रहा है। उसकी आवासीय व्यवस्था व निर्माण की प्रक्रिया उसके अभावों की द्योतक रही है। वह जिस तरह की झोपड़ी में रहता रहा है वह मौसम की मार झेलने में असमर्थ रही है। बरसात कृषक जीवन में कृषि संदर्भ में जहाँ उसके लिए संजीवनी है वहीं उसके गार्हस्थिक जीवन के लिए विषम परिस्थितियाँ लेकर आती है। कबीर ने कृषक जीवन की इस दशा को स्वयं देखा है, अनुभूत किया है। कवि ने अपनी इस दारुण अनुभूति और बरसात से बचने के लिए एक किसान द्वारा किए गए प्रयासों से अपने काव्य में रूपक संरचना की है — कबीर के कृषक जीवन से सम्बन्धित रूपक जहाँ एक ओर कृषक जीवन की त्रासदी का मार्मिक वर्णन करते हैं वहीं गूढ़ परमतत्त्व की सत्ता के रहस्य का उद्घाटन भी करते हैं —

जुगिया न्याय मरै मरि जाइ।
 घर जाजरौ बलीडों टेढौ, औलौति (अरराई) उरराई।
 मगरी तजौ प्रीति पाषै सूं डांडी देहु लगाइ।
 छीको छोडि उपराहिडो बांधो, ज्यूं जुगि जुगि रही समाइ।
 बैसि परहडी द्वार मुंदावे, ल्यावो पूत घर घेरी।
 जेठी धीय सासरे पठवौं ग्यूं बहुरि न आवै फेरी।
 लुहरी धीय सबै कुल खोयौ, तब ढिग बैठन जाई।
 कहै कबीर भाग बपरी कौ, किलकिल सबै चुकाइ।¹

वलीडो — ये छप्पर को आधार प्रदान करने के लिए बल्ली रूप में प्रयुक्त होती है जिसे जीव के शाश्वत ज्ञान के रूप में लिया गया है। ओलौती — यह वर्षा के पानी को दूर फेंकने के लिए होता है जिसे काल के प्रभाव से रोकने की क्षमता के रूपक में लिया गया है। पाषा

1. डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, कबीर वाङ्मय सबद, पद 22, पृ० 200

— ये मिट्टी या कच्ची ईंटों की ढलावदार दीवार के रूप में होता है जिस पर बलींड़ा रखा जाता है जो कि भक्ति ज्ञान व साधना के रूप में ग्रहण किया गया है। कृषक जीवन में छींका भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जो छप्पर में लटका होता है जिसमें बचा हुआ खाद्य पदार्थ रखा होता है जिसे संचित पुण्य कर्मों के रूप में लिया गया है। मगरी — बल्ली रखने की जगह होती है जो कि आसक्ति व अहंभाव का रूपक है। परहड़ी जल रखने का स्थान होता है जिसे आनन्दस्वरूप माना गया है व उपराहड़ी परम तत्त्व या शून्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इन प्रतिमानों से एक सुन्दर रूपक की रचना करते हुए कबीर जीव की स्थिति का निरूपण करते हैं। कृषक के जर्जर छप्पर की भांति ही जीव के शरीर की भी दशा हो गई है और कृषक तेज वर्षा से छप्पर के गिरने की स्थिति से जिस प्रकार भयभीत रहता है, वैसे ही जीव की भी दशा ज्ञान व साधना के अभाव में क्षीण होती जा रही है।

जीव का शरीर रूपी घर तो जर्जर है ही, और उसका आधार (मेरुदण्ड) विषयों के बोझ से टेढ़ा पड़ गया है। इस छप्पर की कच्ची दीवारों की वर्षा के जल से रक्षा करने वाला औलौता भी छिन्न-भिन्न होकर डगमगाने लगा है अर्थात् काल के प्रभाव को रोकने की उसकी सामर्थ्य भी क्षीण होती जा रही है। छप्पर के बलींड़े रखने का स्थान (मगरी) का ध्यान छोड़कर उसको मोटा करने और सजाने का ध्यान छोड़कर उसके पाखों को मजबूत करने और सजाने का ध्यान छोड़कर उसके पाखों को मजबूत करने के लिए सहारा दो, ताकि वे गिरने से बचें। छींका बांधने में सतर्कता बरतने की अपेक्षा छप्पर के ऊपरी हिस्से को मजबूती से बांधो ताकि वह युगों तक बना रह सके अर्थात् भोगेच्छा से प्रेरित होकर विषयों के संचय और संरक्षण की आकांक्षा छोड़कर अपने मन के उच्चतम परम तत्त्व से अथवा गगन से बांध दो ताकि उसमें तदाकार होकर अनन्त काल तक बने रह सको। ... इसके ऊपर का छप्पर भी सुराखों से पूर्ण एवं टूटा हुआ है। किसान के जर्जर घर में ऐसी अवस्था में पानी भर जाता है उसी प्रकार सुराखों से मृत्यु रूपी जल भीतर आना चाहता है। बादल जब गरजते हैं तो जो दशा गरीब कृषक के टूटे मिट्टी के घर में रहने वालों की होती

है कि वह उस गर्जना से बार-बार अपने को बेघर व असहाय अनुभव करने के लिए बाध्य हो जाता है। वही स्थिति काल की है जिसकी गर्जना कबीर ने सुनी व इस जीर्ण-शीर्ण मिट्टी रूपी काया के क्षणिक अस्तित्व का भान होते ही भय उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में समा गया।

इस प्रकार इस रूपक के माध्यम से कृषक जीवन की दुर्दशा और उसकी अर्थव्यंजना से आध्यात्मिक साधना को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है।

कबीर ने ग्रामीण जीवन जो मूलतः कृषक जीवन ही माना जा सकता है को एक नहीं अनेक स्थलों पर अपने रूपक का विषय बनाया है। कबीर के इन रूपकों से एक ओर सामाजिक स्थिति का बोध होता है तो दूसरी ओर इस स्थिति से व्यंजित आध्यात्मिक जीवन बोध की अनुभूत्यात्मक दिशा खुलती हैं कबीर के रूपकों के लिए यह सामग्री कृषक जीवन की दयनीय व्यवस्था से मिली है। एक और उदाहरण देखिए –

इब न रहूँ माटी के घर में।
 इब मैं जाइ रहूँ मिलि हरि मैं।
 छिनहर घर अस झिरहर टाटी, धन गरजत कंपै मोरी छाती।
 दसवैं द्वारि लागि गई तारि, दूरि गवन आवन भयो भारी।
 चहुं दिसि बैठे चारि पहरिया, जागत मुसि गए मोर नगरिया।
 कहै कबीर सुनो रे लोई, भानण घडण संवारण सोई।¹

जब आकाश में बादल गरजते हैं तो किसानों के हृदय में प्रिय की वियोग की पीड़ा व भावुकता के आँसू नहीं उमड़ते बल्कि उनकी छाती काँप उठती है और वे अपने मिट्टी के कच्चे घर में रहने से इंकार कर देते हैं कहीं वह कच्चा घर चू चू कर ढह न जाए। इस मिट्टी के घर को कबीर ने आध्यात्मिक सन्दर्भ में काया कहा है व इसमें रहने से इंकार किया है कि यह शरीर रूपी घर अत्यन्त जीर्ण है।

1. डॉ० श्यामसुन्दर दास, कबीर ग्रंथावली, पद 273, पृ० 135

घर की क्षणिकता व तुच्छता जीवन सन्दर्भों को आध्यात्म से जोड़ते हुए सफल अभिव्यंजना प्रस्तुत की है -

काल के बादल जब गरजते हैं तब कबीर का आध्यात्मिक भय "धन गरजत कंपे मोरी छाती" में पूर्ण रूप से परिलक्षित है। परन्तु ये भय कबीर के निजी जीवन से कदापि नहीं। क्योंकि कबीर के भीतर गाँव का आम आदमी है जो समाज की मारो को चुपचाप झेलता है। कबीर की ये महानता ही है कि कबीर ने परब्रह्म को एकान्त में न खोजकर समाज की भयानक परिस्थितियों में खोजा है। और यही कबीर के चरित्र का वह अन्तर्विरोध है जिसे अधिकांशतः विद्वान समझ नहीं पाए हैं कि वह कर्म जगत में पूर्णतः सामाजिक है वही आंतरिक जगत में एकान्तिक है परन्तु कबीर की समग्रता का ये सशक्त प्रमाण है कि परमतत्त्व को पाने के सारे प्रयास धरती से ही प्रारम्भ होते हैं। धरती के आम आदमी से छिपी दिव्यता को निकालकर ही कबीर ने अपने काव्य रूपकों की संरचना की है।

मध्यकाल में कबीर ने उस सन्त परम्परा का प्रवर्तन किया जो आत्मबोध के साथ समाज बोध को भी साथ लेकर चलता है। कबीर भीतर से परमसत्ता की तलाश में ही नहीं वरन् सामाजिक क्रान्ति के लिए भी बेचैन रहते हैं। इन्हीं दोनों में सामंजस्य बैठाते हुए कबीर ने अपनी काव्य रचना की सुन्दर सृष्टि की जिसका एक प्रमुख तत्त्व रूपक विधान है।

कबीर ने आध्यात्मिक सत्य की अवतारणा कृषक जीवन के लौकिक उपादानों के माध्यम से की है। सूक्ष्म अनुभूतियों के लिए कबीर ने रूपक का आश्रय लिया है व कृषक जीवन के उपादानों जैसे - किसान, खेत, बीज, फल-फूल आदि के उपादानों से परमार्थ बोध की अभिव्यक्ति कराई है। यथा - कालर खेत कृषक जीवन का अनुपयोगी भाग है, उसे भक्ति विहीन हृदय से सम्पृक्त कर कबीर ने अपने रूपकों में नवीन जीवन दृष्टि प्रदान की है। अच्छे व बुरे कर्मों से फल प्राप्ति को उपजाऊ व कालर दोनों भूमियों के अन्तर को आध्यात्मिक सन्दर्भ में स्पष्ट किया है। इसी सन्दर्भ में कुदार, बीज व नय को क्रमशः ज्ञान नाम व ध्यान के रूपकों में सफल प्रस्तुत कबीर ने की है।

कबीर की भावनाएँ एक किसान की भावनाओं के अत्यन्त निकट हैं। निचाई खेत के माध्यम से कबीर ने इस तथ्य की पुष्टि की है कि – सांसारिक सुखों में आसक्ति ढूँढ़ना हृदय को सूखाग्रस्त क्षेत्र में परिवर्तित करना है और उसे विपरीत दिशा में मोड़ना आध्यात्म से जोड़ना है जो निचाई खेत की भांति अवश्य ही अंकुरित होगा।

बीज बोना कृषि कार्य का एक प्रमुख चरण है। प्रस्तुत अध्याय में कबीर ने बीजवपन की अवधारणा को सृष्टि के विकास के रूप में दिखाया है कि ब्रह्मरूपी बीज से ही सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति हुई है।

कृषक की सुरक्षा के उपायों को जीवन में अनियन्त्रित विषय विकारों के साथ जोड़ते हुए कबीर ने इस तथ्य का उद्घाटन किया है कि – जीव को भी सजग होकर अपने जीवन रूपी खेत में भक्ति तत्त्व रूपी उपज की रक्षा यत्नपूर्वक करनी चाहिए।

कृषक जीवन प्रकृति से भी अन्यन्तम रूप से जुड़ा है इस तथ्य को कबीर ने रूपक के रूप में ढाल कर सफल प्रस्तुतियाँ की हैं कि – जहाँ एक ओर वृक्ष के द्वारा जीवन व सृष्टि का स्वरूप प्रस्तुत हुआ है वहीं 'जागतिक बेल' से 'परब्रह्म के गुणों' की अर्थवत्ता की गई है।

'कमल' के उपमान द्वारा परमसत्ता के स्वरूप को समझाते हुए कबीर ने लौकिक व अलौकिक दोनों दिशाओं का बोध कराया है।

'सेमल का फूल' अपने क्षणिक सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध है जिसे संसार की क्षणिकता के साथ कबीर ने सम्बद्ध किया है कि संसार के झूठे आकर्षण में नहीं फंसना चाहिए।

प्रकृति में 'वर्षा' का अपना महत्त्व है, जिसे भगवद कृपा रूपी घटा के माध्यम से आध्यात्मिक जीवन बिम्ब की प्रस्तुति की है।

कृषक जीवन के सामाजिक पक्ष जैसे सामन्ती जीवन और जमींदारी व्यवस्था के कुशासन से पीड़ित जनता की पीड़ा को अनुभूत कर कबीर ने रूपक विधान के लिए प्रतिमान

ग्रहण किए यथा – शरीर के लिए गाँव व पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को सहायक किसान मानते हुए सामाजिक व आध्यात्मिक दोनों पक्षों पर प्रकाश डाला है।

कृषक जीवन के अभावों का वर्णन करते हुए (घर जाजरौ बलींडो टेढो औलोती अरराई) के रूप में जहाँ एक ओर उसकी आवासीय व्यवस्था का वर्णन किया है कि वहीं जीव के शाश्वत ज्ञान के आधारों को भी बताने का उद्देश्य निहित है।

बिन गुरु बजहन जो कोई, लेत है वसन रंगाय।
यह तुम निश्चय जानि लो, तो दोउ ओर से जाय।।

चतुर्थ अध्याय

कबीर के काव्य में शिल्पी जीवन सम्बन्धी रूपक : स्वरूप विश्लेषण एवं अर्थव्यंजना

- 4.1 वयन शिल्प से सम्बन्धित रूपक
 - 4.1.1 कताई से सम्बन्धित रूपक
 - 4.1.1.1 सूत से सम्बन्धित रूपक
 - 4.1.1.2 चरखे से सम्बन्धित रूपक
 - 4.1.1.3 तकुए से सम्बन्धित रूपक
 - 4.1.2 बुनाई से सम्बन्धित रूपक
 - 4.1.2.1 वयन प्रक्रिया से सम्बन्धित रूपक
 - 4.1.2.2 ताने-बाने से सम्बन्धित रूपक
 - 4.1.2.3 मरोरिया या धागा जोड़ने की प्रक्रिया से सम्बन्धित रूपक
- 4.2 काष्ठकार शिल्प से सम्बन्धित रूपक
 - 4.2.1 आरे से सम्बन्धित रूपक
 - 4.2.2 कुल्हाड़ी से सम्बन्धित रूपक
- 4.3 कुम्भकार (कुम्हार) शिल्प से सम्बन्धित रूपक
 - 4.3.1 मिट्टी निर्माण की प्रक्रिया से सम्बन्धित रूपक
 - 4.3.2 कच्चे घड़े से सम्बन्धित रूपक
 - 4.3.3 पक्के घड़े से सम्बन्धित रूपक
 - 4.3.4 बर्तन बनाने की प्रक्रिया से सम्बन्धित रूपक
- 4.4 बाजीगर – नटकला से सम्बन्धित रूपक –
 - 4.4.1 डमरू से सम्बन्धित रूपक
 - 4.4.2 पासे से सम्बन्धित रूपक
 - 4.4.3 बन्दर से सम्बन्धित रूपक

- 4 5 नटकला से सम्बन्धित रूपक
 4 5 1 बहुरूपिया से सम्बन्धित रूपक
 4 5 2 रस्सी से सम्बन्धित रूपक
- 4 6 कलाल व्यवसाय से सम्बन्धित रूपक
 4 6 1 मदिरा से सम्बन्धित रूपक
 4 6 2 शराब की भट्टी से सम्बन्धित रूपक
 4 6 3 मदिरा के प्रभाव से सम्बन्धित रूपक
- 4 7 लोहार व्यवसाय से सम्बन्धित रूपक
 4 7 1 निहाई से सम्बन्धित रूपक
 4 7 2 कोयले से सम्बन्धित रूपक
 4 7 3 तप्त लोहे से सम्बन्धित रूपक
 4 7 4 लोहार शिल्प से गृहीत कतिपय अन्य उपादान और रूपक संरचना
- 4 8 सिक्लीगिरी शिल्प से सम्बन्धित रूपक
- 4 9 रजक व्यवसाय से सम्बन्धित रूपक
- 4 10 पनीहारी के व्यवसाय से सम्बन्धित रूपक
- 4 11 वणिक व्यवसाय से सम्बन्धित रूपक
 4 11 1 नाप-तोल से सम्बन्धित रूपक
 4 11 2 तराजू से सम्बन्धित रूपक
- 4 12 जौहरी की व्यवसाय कला (शिल्प) से सम्बन्धित रूपक

निष्कर्ष

कबीर के काव्य में शिल्पी जीवन सम्बन्धी रूपक : स्वरूप विश्लेषण एवं अर्थव्यंजना

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि कबीर ने अपने रूपक विन्यास के माध्यम से तत्कालीन कृषक जीवन का यथार्थ और सजीव चित्रण किया है। कृषक जीवन और व्यवसायगत प्रक्रिया को कबीर ने बहुत निकट से देखा था। वे समाज के उस वर्ग से थे जो कृषि व्यवस्था एवं ग्रामीण जीवन से सीधे जुड़ा हुआ था। हम देख चुके हैं कि कबीर ने अपने काव्य में कृषक जीवन सम्बन्धी रूपको में अप्रस्तुत विधान के रूप में कृषक जीवन की यथार्थ परक स्वरूप व्यंजना की है तथा प्रस्तुत विधान के रूप में अप्रस्तुत में निहित चेतना तथा प्रक्रिया के माध्यम से अपनी आध्यात्मिक अनुभूति की व्यंजना की है। कबीर के काव्य के अप्रस्तुत विधान से यह स्पष्ट है कि कबीर ग्रामीण अर्थव्यवस्था और सामाजिक व्यवस्था के एक सचेतन सवेदनशील कवि हैं। उन्होंने ग्रामीण अर्थव्यवस्था के व्यावसायिक बिम्बों की रूपको के रूप में रचना करके अपनी सूक्ष्म आध्यात्मिक अनुभूतियों की व्यंजना की है। ग्राम समाज का एक परम्परित रूप है समाज का वर्णों में विभाजन — ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र फिर अनेक उपजातियों का उदय। युगीन परिवेश सम्बन्धी अध्याय में हम देख चुके हैं कि कबीर का काल अनेक विसर्गतियों का काल था, मुस्लिम संस्कृति की टकराहट, सल्तनत का विघटन और उससे उत्पन्न समस्याएँ। सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक अवस्थाएँ ऐसी थी कि नए समाज की रचना असम्भव थी। स्थितियाँ गड़मड़ थीं व दृश्य स्पष्ट नहीं था। कबीर के आगे एक दिग्भ्रमित पतनोन्मुखी समाज है, जिसमें सामाजिक मूल्य प्रायः नष्ट हो गए हैं और कबीर एक ऐसे सन्त थे जो सामाजिक व्यवस्था को एक नया और क्रान्तिकारी आयाम देने का सिर्फ सपना ही नहीं पाल रहे थे वरन् इस सपने को चौराहों और गली कूचों में उगते व पनपते हुए देखना चाहते थे। समाज के अन्दरूनी हल्कों में उनकी पैठ थी और इसीलिए कबीर की जीवन साधना लौकिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन का समन्वय करती हुई

चलती है, वह अपनी अध्यात्मिक उपलब्धि को कर्मक्षेत्र के बीच में ही देखते हैं। कबीर के काव्य में लोक-जीवन उनकी अध्यात्मिक अनुभूति का सशक्त माध्यम बनकर आ खड़ा हुआ है। सन्तों की साधना लोक से पलायन की नहीं है। वरन् दिनचर्या में घटित यथार्थ की तलाश कबीर का लक्ष्य रहा जिससे सामाजिक जीवन की रेखाएँ मनुष्य के आगे स्पष्ट हो सकें। कबीर की साधना सारे आसपास के जीवन को समेटकर चलती है। कबीर का काव्य लोक उपादानों को स्वीकारता है और ये उपादान रूपक के रूप में हमारे सामने आते हैं, जो सहज सामान्य जीवन से लिए गए हैं। इन रूपकों के माध्यम से कबीर ने सशक्त भावों की अभिव्यक्ति की है और इसकी पुष्टि के लिए कबीर दूर न जाकर आसपास के उपादानों से वे अपनी बात को बेधड़क सामने रखते हैं। कृषक जीवन की भाँति ग्रामीण अर्थव्यवस्था और सामाजिक अर्थव्यवस्था का सहगामी वहाँ का शिल्पी जीवन भी था। लुहार, सिकलीगर, तेली, कलवार, कुम्हार, बढई आदि ग्रामीण शिल्पी व्यवसाय के एक-एक अंग में शिल्प प्रतिभा को कबीर ने निकट से देखा था। शिल्प चेतना के साथ किसी भी शिल्प की बारीकियाँ शिल्पकार के मानस के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती हैं, वे उसके चिन्तन व अनुभूति का अंग बन जाती हैं। ऐसी अवस्था में कवि मानस और अधिक सचेत और सक्रिय हो उठता है। वह हर कार्य व्यापार में अपनी अनुभूति के दर्शन करने लगता है और उसकी रचना प्रक्रिया में शिल्प की बारीक प्रक्रियाएँ उसकी अनुभूति की अभिव्यक्ति का माध्यम बन जाती हैं।

कबीर की काव्य प्रतिभा से स्पष्ट है कि कबीर प्रखर प्रतिभा चेतना से सम्पन्न सचेत व्यक्तित्व के धनी थे।

कबीर ने अपने व्यवसाय तथा ग्रामीण शिल्पी व्यवसाय की बारीक प्रक्रियाओं के साथ तादात्म्य स्थापित करते हुए उन्हें अपने चिन्तन और अनुभूति का आधार बनाया। उन्होंने अपनी काव्य रचनाओं को इसी शिल्प चेतना और विभिन्न शिल्पी व्यवसाय की बारीक प्रक्रियाओं को रूपक का आधार देकर अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है।

अतः हम कबीर के काव्य में विभिन्न शिल्पी व्यवसाय से सम्बन्धित रूपकों का अनुशीलन करेंगे, कबीर के काव्य में शिल्पी जीवन की जिस दिशा का सर्वाधिक प्रभाव

दिखाई देता है वह बुनकर जीवन से सम्बन्धित है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि कबीर स्वयं वयनजीवी थे और यह व्यवसाय उनके जीवन के साथ प्रारंभ से लगा हुआ था। अतः हम कबीर के रूपकों पर विचार करते हुए सबसे पहले वयन व्यवसाय से सम्बन्धित रूपकों को लेंगे।

4.1 वयनशिल्प से सम्बन्धित रूपक

मध्यकाल में वयन व्यवसाय जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं से जुड़ा हुआ था। कबीर तो इस व्यवसाय के शिल्प सिद्ध कारीगर थे। उन्होंने इस व्यवसाय से सम्बन्धित सभी प्रक्रियाओं को सचेतन होकर अपनी काव्य चेतना का विषय बनाया है।

कबीर के काव्य में बुनकर शिल्प की विशेष भूमिका इसलिए है क्योंकि कबीर ने स्वयं उस वातावरण में न केवल आँख खोली वरन् स्वयं उस पेशे को अपनाया भी था, इसीलिए उनके काव्य में बुनकर शिल्प का अंकन प्रमुखतः से हुआ है। कबीर का मानना था कि वो जिस पेशे में है क्यों न वहीं से अपनी बात शुरू करें। कताई, बुनाई, व ताने-बाने से कबीर ने अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों को व्यंजित किया है।

ये क्रमानुसार उनके रूपकों पर विचार करके स्पष्ट किया जा रहा है —

वयनक्रम व्यवसाय में सर्वप्रथम चरण कताई का आता है। कबीर के काव्य में कताई से सम्बन्धित रूपकों में अनेक प्रकार से उनकी भाव-भूमियों की अत्यन्त गूढ़ अनुभूतियों प्रस्तुत हुई हैं —

4.1.1 कताई से सम्बन्धित रूपक

भारत में सूत कातने की प्रथा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। प्रायः चरखे से सूत कातने का कार्य स्त्रियाँ करती थीं। सूत जितना महीन होता था कपड़े का मूल्य उतना ही बढ़ जाता था। अतः प्रयास यह रहता था कि सूत बारीक से बारीक हो जिससे उत्तम कपड़ा बन सके कबीर ने महीन सूत की कताई के उपमान से आध्यात्मिक जीवन की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की है —

चरखा जिनि जरै।
 कातौंगी हजरी का सूत, नणद के भइया की सौं।।टेक।।
 जलि जाई थलि ऊपजी, आई नगर मैं आप।
 एक अचंभा देखिया, बिटिया जायौ बाप।।
 बाबल मेरा ब्याह करि, बर उत्थम ले चाहि।
 जब लीग बर पावै नहीं, तब लग तू ही ब्याहि।।
 सुबधी कै धरि लुबधी आयौ, आन बहू कै भाइ।
 चूल्हे अगनि बताइकरि, फल सौ दीयौ उठाइ।।
 सब जगही मर जाइयौ, एक बढइया जिनि मरै।
 सब रौडनि कौ साथ चरखा को धरै।।
 कहै कबीर सो पंडित ज्ञाता, जो या पदहि बिचारै।
 पहलै परचे गुर मिलै तौ पीछैं सतगुर तारै।।13।।¹

कबीर ने उपरोक्त पद में जीवन के लिए चरखा वृत्तियों के लिए सूत परमसत्ता के लिए बढई का उपमान लिया है। बढई रूपा परमसत्ता चरखा रूपी जीवन उपकरण का निर्माता है। “चरखा जिनि जरै” कहकर कबीर जीवन उपकरण के नष्ट न होने की बात करते हैं क्योंकि जीवन उपकरण और जीवन चक्र के बने रहने के साथ ही “हजरी का सूत” रूपी आध्यात्मिक वृत्तियाँ विकसित हो सकती है, जिसका कबीर आश्वासन देते हैं कि इन आध्यात्मिक वृत्तियों के माध्यम से आध्यात्मिक भाव-भूमि का निर्माण होता है। दृष्टवृत्तियों जो विषय वासना के लिए इधर दौडती है वे जीवन रूपी चरखे को कैसे सुरक्षित रख सकती हैं और अध्यात्म की ओर उन्मुख होने के लिए इस शरीररूपी चरखे का होना बहुत आवश्यक है, क्योंकि मैं बिना इस देहरूपी चरखे को उस परमसत्ता तक पहुँचने के लिए जो भक्ति यात्रा तय करनी है वह कैसे करूँगी अर्थात् अध्यात्म रूपी कीमती वस्त्र कैसे कातूंगी इसीलिए मेरा शरीर रूपी यह चरखा बना रहे कभी नष्ट न हो।

कबीर ने जिस प्रकार चरखे के माध्यम से जीवन के आध्यात्मिक स्वरूप विकास व प्रक्रिया की बड़ी सरस अर्थ व्यंजना की है वह उनकी अद्भुत कवित्व शक्ति का परिचायक है।

4.1.1.1 सूत से सम्बन्धित रूपक

वयन व्यवसाय में सूत वस्त्र का उपादान कारण है। एक व्यवस्थित प्रक्रिया के माध्यम से सूत संयोजन ही व्यवस्थित रूप से वस्त्र निर्माण का कारण बनता है। मानव जीवन में कर्म जाल भी वयन व्यवसाय के सूत संयोजन से अद्भुत साम्य रखता है। सूत का उलझना व सुलझना अर्थात् कर्मजाल में लिप्त होना व उससे निवृत्ति के सन्दर्भ में कबीर का ये रूपक द्रष्टव्य है –

नौ मण सूत अलूझिया, कबीर घर घर बारि।
तिनि सुलझाया बापुड़े, जिनि जाणीं भगति मुरारि।।¹

प्रस्तुत रूपक में कबीर ने कर्मजाल के लिए उपमान के रूप में सूत तथा साधना प्रक्रिया के लिए उलझे हुए सूत के उपमान से सांसारिक कार्यों में संलग्न रहने की सुन्दर अभिव्यंजना की है। वयन व्यापार में सूत आपस में उलझ जाता है, यह सांसारिक कर्मजाल भी उलझे हुए धागों की भाँति है, जो मनुष्य के जीवन लक्ष्य को अवरुद्ध कर देता है। बुनकर जो धागा सुलझाना जानता है, वही आगे वस्त्र बुनने में समर्थ हो सकता है। कबीर इस लौकिक व्यापार के रूपक से इस कर्मजाल के सुलझाने की बात करते हैं कबीर का मानना है कि मनःसृष्टि से बने हुए कर्मजाल को वही कुशल बुनकर भक्त सुलझा सकता है, जो ईश्वर की भक्ति के तात्त्विक स्वरूप को जानता है। भक्ति-साधना कर्मजाल से जुड़े हुए मायावी जगत् को सुलझाकर एक ऐसी जीवन दृष्टि प्रदान करती है जो जीवन व्यापार को सहज और रचनात्मक बनाती हुई उसे चिरन्तन लक्ष्य की ओर ले जाती है।

वयन व्यवसाय में सूत का उलझना कबीर की चेतना को निरन्तर झकझोरता रहा है। वह परिदृश्य कबीर की चेतना उलझे हुए कर्मजाल और उससे जन्म संसार का बिम्ब देता रहा है। “नौ मन” शब्द भी यहाँ विशेष अभिप्रेत के साथ प्रयुक्त रहा है जो मन और सहचारी

1. कबीर ग्रन्थावली – विचार को अंग 33, साखी 5, पृ० 43

वृत्तियों की ओर सकेत करता है। कबीर ने इस रूपक को बार-बार प्रयोग किया है। एक और उदाहरण देखिए -

नौ मन सूत उरझे नही सुरझै, जनमि जनमि उरझेरा।
कहै कबीर एक राम भजहु रै, बहु दिन हैगा फेरा।।¹

इस रूपक में सूत से जीवन का रहस्य सुलझाया है। सूत के उलझने व सुलझने को क्रमशः मोह में फँसना व मोह से निवृत्ति के सन्दर्भ में प्रयुक्त किया गया है। 'सुलझना' चेतन के आशय में है व्यक्ति प्रमाद आलस्य छोड़कर सत्य की अनुभूति में जुट जाए यही चेतना है - नकारात्मक विचारों से उलझाव और सकारात्मक से सुलझना।

नौ मन सूत उलझिया" तमोगुण का सूचक है, उसे सत्वगुण द्वारा ही दूर किया जा सकता है। अधिक मात्रा में उलझ जाने के बाद उसे सुलझाना बहुत कठिन है। कबीर का मानना है कि उनके जन्म के संस्कारों के परिणाम स्वरूप जीवन कर्मजाल में उलझता जाता है। नौ मन से तात्पर्य पाँचों इन्द्रियों तथा अन्तःकरण चतुष्टय का उलझाव है और इसमें जीव तब तक उलझता रहता है, जब तक भगवान से लौ नहीं लगा लेता है। अतः कबीर के माध्यम से चेतावनी देते हुए कहते हैं कि जीव को इस सासारिक विषय वासनाओं से अपने को दूर करके प्रभु भक्ति में लीन करना चाहिए क्योंकि जागतिक व्यापार मनुष्य को उलझान में डाल देते हैं, इसके सुलझने के साथ ही जीवन की लक्ष्य सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

बुनकर सूत को कूची से माजता है, माजते समय टूटे हुए सूत को मरोरिया प्रक्रिया से उसे जोड़ देता है फिर पाई को शुद्ध करने के लिए भरना की प्रक्रिया अपनाई जाती है। आध्यात्मिक अर्थ में पंचतत्त्व माडी से बने शरीर द्वारा साधना की कूची से उसे माजता है और साधना का सूत्र कहीं टूट जाए तो उसे पुनः साधना के द्वारा जोड़ लेता है और भरना प्रक्रिया मन को ऊर्ध्व कर प्रभु भक्ति में लगाने की प्रक्रिया है जिससे मन की गति को बाधा जा सकता है।

1 कबीर वाङ्मय - पदावली, 238

कबीर ने एक नहीं ऐसे अनेक रूपकों की रचना की है जिनमें वयन प्रक्रिया के साथ अपना भावात्मक तादात्म्य बिठाते हुए आध्यात्मिक जीवन साधना को स्वर दिया है। निम्नलिखित रूपक को देखिए —

माधौ चले बुनौवन माहा,
जग जीतै जाइ जुलाहा ॥टेक॥
नव गज दस गज गज उगनींसा, पुरिया एक तनाई।
सान सूत दे गंड बहुतरि, पाट लगी अधिकाई ॥
तुलह न तोली, गजह न मापी, पहजन सेर अढाई।
अढाई मैं जै पाव घटे तो, करकस करै बजहाई ॥
दिन की बैठि खसँम सू कीजै, अरज लगी तहाँ ही।
भागी पुरिया घर ही छाडी चले जुलाह रिसाई ॥
छोछी नली कॉमि नहि आवै, लपटि रही उरझाई।
छाँडि पसारा रॉम कहि बोरै, कहै कबीर समझाई ॥193॥¹

कबीर ने इस पद में वयन प्रक्रिया और उसमें प्रयुक्त सम्पूर्ण उपादानों के माध्यम से जिन जीवन बिम्बों की प्रतिछाया दिखायी है, वह कबीर जैसे समर्थ कवि के लिए ही संभव है।

बुनकर शिल्प में नौ गज, दस गज अथवा इक्कीस गज की पुरिया तानी जाती है। उस पुरिया के फँलाव में सात सूत की गुण्डी रखी जाती है और उसे नौ खण्डों में राछ (यन्त्र) के द्वारा बहत्तर भाग कर लिए जाते हैं, इस प्रकार जो अटेरन पर लिपटी हुई ऑंटी होती है उस सूत को चरखी के सहायता से नली पर लपेटते हैं। इसके दो गोडे (खूँटे गाडकर तानी को माडी के लिए तानते हैं। एक कठौते में बहुत महीन मैदा पीसकर, उसे दो बार छानकर तैयार करते हैं, मैदे तथा पानी के घोल को माडी कहते हैं। इसमें सूत की आंटियो को डूबो लिया जाता है। इस डुबोने की क्रिया को पाई करना कहते हैं। सूत के इस लम्बे फँलाव के बीच-बीच में थोड़ी-थोड़ी दूर के फासले पर सटे या पतली लकड़ियाँ डाल देते हैं जिन्हें सरकण्डे कहते हैं। ये प्रायः तीन फीट लम्बी होती है। सूत को सरकण्डों में डालकर

तानों के सिरों को रस्सियों द्वारा बांधकर कूँची को कठौते में माड़ी के घोल में फैले हुए सूत पर बार—बार फेरते हैं। कूच मांझा भी कहलाता है, इसीलिए इसे फेरने की क्रिया को मांझा या पान करना कहते हैं। तानी के तार आपस में उलझ न जाए उसमें सरकण्डे इसीलिए डाले जाते हैं। कूँची से सूत की सफाई करना और सुलझाना एक साथ होता है। पाई करने के बाद उस सूत को एक—एक तार करके भरने में भर दिया जाता है। इस क्रिया को भरना कहा गया है। कभी—कभी बुनते समय तार उसमें उलझ जाता है, जिसे झुंझलाकर कभी छोड़ भी देना पड़ता है या टूट जाने पर मरोरिया द्वारा दोबारा जोड़ना भी पड़ता है। आध्यात्मिक पक्ष में इस पद की व्यंजना इस प्रकार है कि — स्थूल शरीर रूपी पुरिया में त्वक—मांसादि सात धातु सात सूत लगते हैं और तब बाड़ी या नव दरवाजा नव गाँठ लगते हैं और बहत्तर से भी अधिक जिसमें पाट लगते हैं व बहत्तर करोड़ से भी अधिक बहत्तर कोटि दस हजार एक सौ एक नाड़ी जिसमें पाट किनारी लगते हैं या इस पट में सात सूत, नव गाँठ और वायु के स्थान रूप बहत्तर गाँठ और इनसे भी अधिक सामग्री लगती है और दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि इस पट में कोई वास्तविक कारण तूल के सदृश नहीं है किन्तु मायिक है और इसको कोई गज आदि से मापा नहीं जा सकता है।

इस रूपक में कबीर आध्यात्मिक जीवन साधना के स्वरूप की जो व्यंजना करते हैं, वह एक उलझी हुई दार्शनिक गुत्थी है। इस गुत्थी को कबीर सामान्य उपमानों से सुलझाकर जिस प्रकार जीवन बोध के निकट ले जाते हैं वह देखने योग्य है। इस रूपक द्वारा व्यंजित जीवन—बोध को इस प्रकार समझा जा सकता है —

जीव माया के द्वारा समष्टि अथवा व्यष्टि शरीर रूपी वस्त्र बनवाने में अर्थात् जगत की सृष्टि में तन्मय होकर अपने विशुद्ध चैतन्य स्वरूप को भूल गया है। अज्ञान से उत्पन्न मन रूपी जुलाहे ने अपने मोह के वस्त्र से सम्पूर्ण जीवों को वश में कर लिया है। प्रारम्भ में इस माया ने समष्टि चैतन्य से व्यष्टि चैतन्य को पृथक करने वाले अहं रूपी गज भर को एक सूत की पुडिया ली। आवरण रूप अज्ञान का प्रथम विकार या विक्षेप अहंकार ही है। उसी से

विभिन्न शरीरादिक की सृष्टि करती है उसी अह से बाद में माया ने शरीर के नव द्वार रूपी नौ गज तथा इन्द्रियाँ रूपी दस गज अर्थात् कुल उन्नीस गज सूत निकाल कर इस शरीर की रचना की है। इस शरीर के निर्माण में सप्त धातु—रूपी तथा बहत्तर माडी रूपी गाठों का उपयोग हुआ है। इस पर वासना की बाहरी चमक और उसके आकर्षण की गहरी पाण (कलफ) लगा है। जगत और शरीर चैतन्य पर ही अधिष्ठित है, न कोई तौलने वाला इसे तराजू लेकर तौल सका है न नापने वाली गजी इसे गज से नाप सका है। अतः यह अमेय है। पर यह पहजन ढाई सेर हैं। अगर वह अविद्या और चैतन्य का सामान्य योग मात्र होता तो दो ही कहलाता पर इसमें विक्षेप रूप कार्य की नवीन जागृति से इसे ढाई कहा गया है। सासारिक विषयों के कारण भूत विक्षेप में जहाँ थोड़ी सी कमी होने लगती है तभी कर्कशा माया उन विषयों की आकांक्षा बनाए रखने के लिए सघर्ष करती है। जाग्रतावस्था में यह अपने स्वामी जीव के साथ बैठकी करता है, और अपनी इच्छाओं की प्रार्थना उसे सुनाकर उन्हें पूर्ण करने के लिए बाध्य कर देता है। दिन की जीविका अपने पति के साथ की पर वहाँ पर इस माया का उच्चाटन ही रहा। यही जीवन का क्रम है। जब यह शरीर रूपी पुडिया ससार रूपी घर को छोड़कर चली जाती है, तो यह जीव रूपी जुलाहा भी इस शरीर से रूष्ट हो जाता है और इसका पीछा करता है। मृत शरीर रूप खाली सूत की पुडिया उस जुलाहे के किस काम की? निर्जीव पंच तत्त्वों के विषय भोग लिए अनुपयोगी शरीर उलझे हुए सूत के समान है क्योंकि ये जीवन दुर्लभ है अतः इसे उलझे हुए सूत की भाँति न छोड़कर इसे धीरे-धीरे सुलझाना ही अभीष्ट है अर्थात् साधना के सूत्र के द्वारा इस जीवन रूपी सूत को सुलझाकर ब्रह्म में लगाना ही मनुष्य योनि को पाने की सार्थकता है।

अपनी जीवन साधना में कबीर आध्यात्मिक सिद्धि के लिए प्रयत्नशील है। उनका मानना है कि जीवन की अवधि और उसके रचना सूत्र बहुत कम हैं। कबीर सूत के उपमान से अभेदमयी जीवन दृष्टि के विकास के साथ आध्यात्मिक साधना की व्यञ्जना निम्नलिखित रूपक में करते हैं —

मैं डोरै डारे जाऊँगा, तो मैं बहुरि न भौजलि आऊँगा ॥टेक॥
 सूत बहुत कुछ थोरा ताथैं, लाइ ले कंथा डोरा।
 कंथा डोरा लागा, तथ जुरा मरण भौ भागा ॥
 जहाँ सूत कपास न पूनी, तहाँ बसै एक मूनी।
 उस मूनी सँ चित लौऊँगा, तो मैं बहुरि भौजलि आऊँगा ॥¹

प्रस्तुत रूपक में साधना के लिए डोरा, परमार्थ साधना के लिए कंथे का, व परमतत्त्व के लिए मूनी का उपमान लेकर इसका सांसारिक व आध्यात्मिक अर्थ दोनों पक्ष स्पष्ट हैं। कंथा बनाने की प्रक्रिया में छोटे-छोटे टुकड़ों को डोरे डालकर जोड़ा जाता है। कबीर आध्यात्मिक दृष्टि के डोरे डालना और जगत को अभेद जगत में परिवर्तित करना ही जीवन का लक्ष्य मानते हैं, इसी आध्यात्मिक साधना और उसकी लक्ष्य सिद्धि को कबीर उपर्युक्त रूपक के माध्यम से व्यक्त करते हैं।

साधना के डोरे के द्वारा ही परमसत्ता से निरन्तरता बनी रहती है। कबीर ने साधना को सूत कातने की सम्पूर्ण प्रक्रिया के साथ अधोलिखित रूपक में प्रस्तुत किया है जिसके लिए चरखे के उपमान द्वारा साधना के अंगों की व्याख्या की है।

4.1.1.2 चरखे से सम्बन्धित रूपक

चरखा वयन व्यवसाय का मूलभूत उपकरण है। कबीर ने अपनी रचना सृष्टि में चरखे को रूपक प्रतिमान के रूप में विशेष महत्त्व दिया है। वे चरखे के माध्यम से विभिन्न आध्यात्मिक भावभूमियों का वर्णन करते हैं –

मन मोर रहँटा रसना पिउरिया।
 हरि कौ नाऊँ लै काति बहुरिया ॥टेक॥
 चार खँटी दोइ चमरख लाई, सहजि रहटवा दियौ चलाई।
 छौ मास तागा बीरस दिन कुकुरी, लोग बोलैं भलकातल बपुरी।
 कहै कबीर सूत भल काता, रहटा नहीं परम पद दाता ॥²

1 कबीर ग्रन्थावली, पद 31, पृ० 76

2 कबीर वाङ्मय (सबद), पद 215, पृ० 271

कबीर ने चरखे को मन, तकुली को जिहवा और धागे को ईश्वर स्मरण के रूप में लिया है, उनका कहना है कि मन को चरख बना लो और जिहवा की तकुली द्वारा ईश्वर स्मरण रूपी तागे को कातो, जिस तरह चरखे में चार खूटियाँ व दो चमरख होते हैं, आध्यात्मिक अर्थ में वही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष है। दो चमरख जीवन में प्रवृत्ति व निवृत्ति की व्यंजना करने वाली दो जीवन दिशाएँ हैं, जिस प्रकार तकुली, चमरख व चार खूटियों द्वारा वस्त्र तैयार किया जाता है। आध्यात्मिक अर्थ में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष साधना के अंग हैं, जिसके द्वारा परम पद रूपी वस्त्र तैयार होता है।

उपर्युक्त कताई की प्रक्रिया और उससे सम्बन्धित प्रतिमानों से कबीर के रूपकों का जो स्वरूप बना है उससे उनकी आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति सामान्य व्यक्ति के लिए भी अनुभूति ग्राह्य बन जाती है। डॉ० रघुवंश का मत इस सन्दर्भ में सही है – “भक्ति के क्षेत्र में यह काव्याभिव्यक्ति अपनी लोकोत्तर विशिष्ट भाव व्यंजना से आलौकिक परम-परात्पर अनुभव की ओर प्रवृत्त करने का प्रयास है।¹ निःसन्देह कबीर साधारण से असाधारण की अभिव्यक्ति में सफल रहे हैं।

सूत कातने के लिए जिन उपादानों का प्रयोग किया जाता है, उनमें चरखे और तकुए का विशेष महत्त्व है। कबीर की दृष्टि इन उपादानों पर उनकी सूक्ष्म चेतना के साथ जगती है। यही चेतना आगे जाकर उनके रूपकों के लिए सामग्री प्रदान करती है। इनसे सम्बन्धित अनेक रूपक कबीर के काव्य में देखे जा सकते हैं।

4.1.1.3 तकुए से सम्बन्धित रूपक

कबीर ने वयन व्यवसाय को नज़दीक से देखा था, इसीलिए उसके सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयव का वर्णन कबीर अत्यन्त स्वाभाविक रूप से करते हैं।

1. रघुवंश, कबीर एक नई दृष्टि, पृ० 52-56

एक रूपक देखिए जिसमें 'ताकू' को मन के अर्थ में लेकर कबीर ने सफल प्रस्तुति की है -

मन कै मते न चालिए, छाडि जीव की बॉणि।

ताकू केरे सूत ज्यौ, उलटि अपूठा ऑणि॥¹

चरखे से सूत कातने की प्रक्रिया का आरोपण कबीर आध्यात्मिक साधना में परिपक्वता प्राप्त होने वाली प्रक्रिया के रूप में करते हैं। प्रस्तुत रूपक में मन का उपमान ताकू है, जिस प्रकार ताकू के घूमने के साथ सूत का निर्माण होता है, उसी तरह मन की गति के साथ वृत्तियों का उद्भव होता है। अतः सूत और वृत्तियाँ उपमान व उपमेय है।

कबीर ने सूत कातने की प्रक्रिया का भी सटीक आरोपण किया है कि सूत कातते समय जब तक सूत को उलट कर ताकू पर नहीं चढ़ा दिया जाता तब तक वह अपुष्ट रहता है। कबीर के अनुसार मन की वृत्तियाँ जगत की ओर उन्मुख होकर अपने सासारिक उपादान को तैयार करती हैं लेकिन उसका आत्मभाव पुष्ट नहीं होता जब यही सूत्र रूपी वृत्तियाँ मन रूपी ताकू पर परमसत्ता की ओर उलट कर चढ़ा दी जाती है तो आत्मभाव पुष्ट होकर आध्यात्मिक भावना से प्रसूत ससार का उपादान कारण बनता है।

कताई शिल्प के माध्यम से कबीर ने आध्यात्मिक साधना के स्वरूप को स्पष्ट किया है।

इसके पश्चात् वयनक्रम व्यवसाय में बुनाई की प्रक्रिया आती है।

4.1.2 बुनाई से सम्बन्धित रूपक

वयन प्रक्रिया से सम्बन्धित रूपकों में कबीर ने 'जुलाहे' को ब्रह्म रूप में तथा वयन प्रक्रिया पर ब्रह्म की सृष्टि प्रक्रिया का आरोपण करते हुए एक गूढ़ दार्शनिक विचार की सफलतम अभिव्यक्ति की है। एक रूपक देखिए -

अस जोलाहा का मरम न जाना, जिन जग आय पसारिन्हि ताना।

महि अकास दुइ गाड खँदाया, चौद सुरुज दुइ नरीं बनाया।

1. कबीर ग्रन्थावली - मन कौ अग (13), साखी 1, पृ० 21

सहस तार लै पुरिन पूरी, अजहुँ बिनब कठिन है दूरी।
कहहिं कबीर करम सो जोरी, सूत-कुसूत बिनै भल कोरी।¹

प्रस्तुत रूपक में ईश्वर के लिए जुलाहा, माया के लिए ताना, और शुभाशुभ कर्म के लिए सूत-कुसूत उपमान लेकर गूढ़ प्रस्तुति हुई है —

जुलाहा कपडा बुनने के लिए ताना तैयार करके ढरकी में रखी हुई नली के द्वारा बाना तैयार करता है, वह पूरी या भरनी को हजारों तागों से भरता है और फिर ताने-बाने के द्वारा सभी प्रकार के धागों को सूत-कुसूत मिलाता हुआ कपडा तैयार करता है। ऐसे विश्व-विधाता रूपी जुलाहे के रहस्य को कोई समझ न सका जिसने जगत रूपी ताने को पसारा है। जुलाहा करघे को स्थापित करने के लिए दो गड़ढे तैयार करता है, उसी प्रकार विधाता सृष्टि के लिए पृथ्वी व आकाश नामक दो गड़ढे बनाता है। चन्द्रमा और सूर्य रूपी दो नरीके द्वारा जगत् का क्रम चलता रहता है। जुलाहे के पास दो प्रकार की नरी होती है एक बाने के लिए दूसरा ताने के लिए वस्त्रों को तैयार करने के लिए जुलाहे को अनेक तागों से युक्त भरनी की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार विधाता को सृष्टि के लिए सूर्य चन्द्र रूपी नरी के अतिरिक्त असंख्य नक्षत्र रूपी तागों की आवश्यकता होती है।

उपरोक्त पद में ब्रह्म रूपी जुलाहे के द्वारा ही समस्त जगत का प्रसार माना गया है।

वयन प्रक्रिया से सम्बन्धित एक और रूपक में कबीर द्वारा की गई व्यंजना को देखिए—

जोलाहा बीनहु हो हरिनामा, जाकेसुर नरमुनि धरै ध्याना।
ताना तनै को अहूठा लीन्हा, चरखी चारो वेदा।
सर खूँटी एक राम नारायन, पूरन प्रगटे भेदा।।
भवसागर एक कठवत कीन्हा तायेँ माडी साना।
गाडी का तन माडी रहो, माडी विरलै जाना।
चौद सुरुज दुइ गोडा कीन्हां, मांझा दीप मांझा कीन्हा।
त्रिभुवननाथ जो मांजन लागे, स्याम मरोरिया दीन्हा।।

पाई करि जब भरना लीन्हो, बै बाधन को रामा ।
 बै भरा तिहु लोकहि बाधे, कोई न रहत उबाना ।।
 तीनि लोक एक करिगह कीन्हों, दिममग कीन्हों ताना ।
 आदि पुरुष बैठावन बैठे, कबीरा जोति समाना ।।¹

इस पद में कबीर ने जीव के लिए जुलाहा, भवसागर के लिए कठवत पंचभूत के लिए माडी, तीनों लोक के लिए करिगह नाम का योग के लिए मरोरिया उपमान को लेकर इस रूपक को पूर्णता प्रदान करते हुए अपनी आध्यात्मिक अनुभूति को पुष्ट किया है। जुलाहे शिल्प के उपकरण जैसे – अहूठा—(साढ़े तीन हाथ का साधन) चरखी (सरकण्डे या बॉस की छड़ी जिसका प्रयोग ताना ठीक करने के लिए किया जाता है)। खूंटी (एक पतली लकड़ी, जिसके सिर पर काँच का चुल्ला फोड़कर बांधा जाता है और चुल्ले में रेशम के महीन तागे डालकर बुना जाता है। माडी (जोड़ने और मजबूती के लिए गाढ़ा द्रव्य)।

गोडा (कैंची की तरह बंधी हुई ताने के दोनों और की लकड़ियां जो ताने को रोके रहती हैं, मांझा (एक प्रकार का ढांचा जो मोड़ई के बीच रहता है और पाई को जमीन पर गिरने से रोकता है) पाइ (पतली छड़ियों का बेत का ढांचा जिस पर तागे को फैलाकर खूब मांजते हैं)। बै (करघे में सूत का एक जाल), भरना (करघे की ढरकी), उबाना (कपड़ा बुनने में राछ के बाहर जो सूत रह जाता है)। इन सब उपकरणों के माध्यम से जुलाहा कपड़ा बुनता है। इडा (चौद), पिंगला (सुरुज), का गोडा या पाया बनाया गया है और उसके मध्य में सुषुम्ना (दीप) का मांझा तैयार किया गया है। राम के नाम के द्वारा जीवन के धागों को एकसूत्र में बाट दिया तागे का एक जाल बुनने के लिए (बै) सूत को भांजकर (पाई) ढरकी को उससे भर दिया अर्थात् राम नाम का अभ्यास कर भीतर सुषुम्ना में उदान वायू को भर दिया जिससे कुण्डलिनी का जागरण हो सके। तागे के इस जाल को भरने से साधकों में जागरण हो जाता है।

इस रूपक को साधना के पक्ष में इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि साधक हरिनाम रूपी ताना-बाना तैयार करे। जिसके लिए अहूठा अर्थात् साढ़े तीन हाथ का साधन

ले। जुलाहे के ताने का आधार जिस प्रकार खूंटी है उसी प्रकार साधना की खूंटी या एकमात्र आधार नारायण है। जुलाहा कठौते में माडी भरकर ताने में माडी लगाता है जिससे सूत बैठ जाए वैसे ही ये संसार भी एक कठौता है जिसमें पंच भौतिक शरीर माडी से बना है। बुनकर शिल्प में जुलाहा दो गोडा लगाकर और उसके मध्य में सुषुम्ना (दीप) का मॉझा तैयार करता है। मन अर्थात् (त्रिभुवन नाथ) उसी के भीतर अनाहत नाद या राम नाम का अभ्यास करने लगा और स्याम के नाम द्वारा जीवन के धागों को एकसूत्र में बँट दिया। तागे का जाल बुनने के लिए (बै) सूत को भोजकर (पाई) ढरकी को उससे भर दिया अर्थात् राम नाम का अभ्यास कर भीतर सुषुम्ना में उदान वायु को भर दिया, जिससे कुण्डलिनी का जागरण हो सके। तागे के इस जाल के भरने से अर्थात् सुषुम्ना में रामनाम के द्वारा उदान वायु के भरने से साधकों में जागरण हो जाता है।

यह सारा संसार ही वस्त्र बुनने का कारखाना है, सभी दिशाओं में ताना तैयार होता है अर्थात् प्राणियों की सृष्टि होती है। प्रभु इस सृष्टि का निर्माण करते हैं और साधना द्वारा जीव ज्योति में पुनः समा जाता है।

इसी ताने-बाने के अनेक रूपक कबीर के काव्य में सर्वत्र फैले हुए हैं।

4.1.2.1 ताने-बाने से सम्बन्धित रूपक

ताना बाना वयन शिल्प प्रक्रिया के संरचनात्मक रूप की एक महत्त्वपूर्ण दिशा है। ताना बाना तथा इसकी प्रक्रिया जीवन संरचना के संदर्भ भाव और विचारों को उद्बोधित करती हुई एक दिशा देती है। कबीर वयन शिल्प की इस दिशा को अपने आध्यात्मिक जीवन-बिम्बों की अभिव्यक्ति के लिए रूपक संरचना का माध्यम बनाया है —

भाई रे सकहुत तानि बुनि लेहु रे, पीछै रॉमहि दोस न देहु रे।।टेक।।

करगहि एकै बिनॉनी, ता भीतरि पंच परॉनी।।

तामैं एक उदासी, तिहि तणि बुणि सबै बिनासी।।

जे तूँ चौसठि बरियों धावा, नहीं होइ पंच सूँ मिलॉवा।।

जे तै पौसै छसै तौणी, तौ तू सुख सँ रहै परौणी॥
 पहली तणियाँ ताणों, पीछै बुणियाँ बौणों॥
 तीण बुणि मुरतब कीन्हों, तब राम राइ पुरा दीन्हों॥
 राछ भरत भई संझा, तारुणी त्रिया मन बंधा॥
 कहै कबीर विचारी, अब छोछी नली हँमारी॥289॥¹

इस पद में कबीर ने हरि स्मरण के लिए ताना बुनना, शरीर के लिए करघा, आत्मा के लिए बिनानी, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त तथा उनमें प्रतिबिम्बित चैतन्य के लिए पंच प्राणी, पाँचो ज्ञानेन्द्रियों को ईश्वरोन्मुख करने अथवा षट्चक्रों में पंच प्राणों के संचार के लिए बाना बुनना, अज्ञानता के लिए राछ, वासना के लिए छोछी नली उपमान लेकर भौतिक जीवन से पलायन कर आध्यात्मिक जीवन की ओर उन्मुख होने की व्यजना की है। बुनकर वस्त्र तैयार करने की प्रक्रिया में बुनाई में पहले ताना तानता है फिर बाना बुनता है, इस प्रक्रिया को काफी समय तक करने के पश्चात् वस्त्र तैयार होता है।

इस रूपक से भक्ति साधना की सुन्दर व्यंजना भी की गई है। ताना तानने से तात्पर्य इन्द्रियों को वश में करने से है तथा बाना बुनने से तात्पर्य वृत्तियों को ईश्वरोन्मुख करने से है। ताने-बाने से हरि स्मरण रूपी वस्त्र बुनने पर स्वयं ही राम पूर्ण तत्त्व के दर्शन रूपी मजदूरी देगे। सामान्य व्यक्ति को तो करघे से सम्बन्ध रखने वाले औजारों को भरने में ही अर्थात् वस्त्र को बुनने की पूजापाठ आदि प्रारम्भिक तैयारी में ही सायंकाल हो जाता है, अर्थात् जीवन की सन्ध्या आ जाती है।

अतः शरीर रूपी करघे पर यह आत्मा ही बुनने वाली है इसमें मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा चैतन्य ये पाँच प्राणी है जिसे संसारी जीव ने अनेक विषय वासनाओं में भटकाकर नष्ट कर दिया है, इसके लिए यदि जीव अपनी पाँचों कर्मेन्द्रियों को हरि स्मरण में लगाए अर्थात् ईश्वरोन्मुखी होकर ताना तानने व षट्चक्रों में पंच प्राणों का संचार रूप बाना बुनने पर ही भक्ति रूपी थान का निर्माण हो सकता है।

प्रस्तुत रूपक में जहाँ एक ओर वयन शिल्प प्रक्रिया का अप्रस्तुत रूप में सुन्दर वर्णन है।

भक्ति रूपी वस्त्र निर्माण के द्वारा ही जीव को परम आनन्द प्राप्त हो सकता है इस आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति भी हो रही है। साधना को स्वर देने वाले ऐसे अनेक रूपको की सरचना हमें कबीर के काव्य में मिलती है। एक रूपक और देखिए —

तेरा हरिनॉमै जुलाहा,
मेरै रॉम रमण को लाहा।।टेक।।
दस सै सूत्र की पूरिया पूरी, चंद सूर दोइ साखी।
अनत नॉव गिनि लई मजूरी, हिरदा कंवल मैं राखी।।
सुरति सुमृति दोइ खूँटी कीन्हीं, आरंभ कीया बमेकीं।
ग्यान तत की नली भराई, बुनित आतमां पेषी।।
अबिनासी धन लई मँजूरी, पूरी थापनि पाई।
रस बन सोधि सोधि सब आये, निकटै दिया बताई।।
मन सूधा को कूच कियौ है, ग्यान बिथरनि पाई।
जीव की गॉठि गुडी सब भागी, जहाँ की तहाँ ल्यौ लाई।।
बेठि बेगारि बुराई थाकी, अनमै पद परकासा।
दास कबीर बुनत सच पाया, दुख संसार सब नासा।।¹

प्रस्तुत रूपक में वयन प्रक्रिया में उसके उपादानों की स्थिति और उनके साथ होने वाली क्रिया के माध्यम से कबीर सन्त साधना के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं — अन्तःकरण की भावनाओं के लिए “दससै सूत्र” इडा पिंगला के चन्द्र व सूर्य, विवेक रूपी वस्त्र के लिए ‘बमेकी’ ज्ञान के लिए बिथरनी परमतत्त्व के साक्षात्कार के लिए ‘सच’ उपमान लेकर अभिव्यक्ति को सशक्त बनाया है।

जुलाहा निरन्तर बुनते हुए वस्त्र तैयार करता है उसी प्रकार हरिनाम स्मरण में निरन्तर रत रहने से ही उसका लाभ मिलता है। जुलाहा वस्त्र बुनने से पहले सूत्रों को भरता है, जीव के अन्तःकरण की सहस्रो भावनाएँ ही इस नाम-स्मरण से आपूरित हो गयी हैं। सूत्रों को उलझने न देने के लिए जुलाहा दो गोडों का प्रयोग करता है। शरीर में इडा पिंगला नामक

1 कबीर ग्रन्थावली, पदावली, पद 288, पृ० 139

दो नाडियों हैं जो ईश्वर के ध्यान रूपी सूत्र को उलझने नहीं देती। जुलाहा नली भरकर वस्त्र बुनता है, जीव भी ज्ञान तत्त्व से नली भरकर विवेक रूपी वस्त्र बुनता है। जुलाहा धागे से माड़ी को हटाने के लिए बिथरनी का प्रयोग करता है, भक्त भी उसी प्रकार हरिनाम स्मरण की कूँची द्वारा विषय वासनाओं एवं मैल को दूर करता है। जीव के विवेक रूपी वस्त्र को तैयार करने में ज्ञान रूपी बिथरनी का प्रयोग करने से जीव के मन की गॉठ व घुड़ियाँ सब समाप्त हो जाती हैं।

मन की गॉठ के समाप्त होने व विवेक जग जाने के बाद वह यह भली प्रकार समझ चुका है कि जागतिक प्रपंच में पडकर वह ईश्वर से दूर हो रहा है और ये सारा पसारा या ताना बाना उसी ईश्वर या ब्रह्म के द्वारा ही संचालित है। और इस चेतना के जाग्रत होते ही वह इस जागतिक प्रपंच से दूर होकर साधना में लग गया है। एक रूपक और देखिए—

यह विधि कहो कहा नहि माना, मारग मॉहि पसारिन ताना।
 रात दिवस मिलि जोरिन तागा, ओटत काटत भरम न भागा।
 भरमै सभ जग रहा समानी, भरम छोडि कतहूँ नहि जाई।
 परै न पूरी दिनहु दिन छीना, तँहई जाय जँह अँग विहीना।
 जो मद आदि अंत चलि आवा, सो मत सभ उन प्रगट सुनावा॥¹

इस रूपक में वयन प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कबीर कहते हैं कि बुनकर मार्ग में अपना ताना बाना फैलाता है। वह दिन—रात अपना ताना बुनने और जोड़ने में लगा रहता है। वह कपास की ओट कर रूई बनाता है फिर उसे कातकर तागा बनाने में लगा रहता है। जुलाहे शिल्प के इस ताने—बाने के माध्यम से कबीर ने जागतिक प्रपंचों का वर्णन बहुत सुन्दर ढंग से किया है कि सांसारिक जीवों की दशा भी जुलाहे के ताना—बाना बुनने की ही भाँति है जिस प्रकार जुलाहा ताने—बाने की भाँति सम्पूर्ण वस्त्र तैयार करता है उसी प्रकार जीव भी संसारी रूपी मार्ग में अपना ताना—बाना फैलाता है। मत—मतान्तर के ओटने—काटने अर्थात् वाद—विवाद या तर्क—वितर्क के चक्कर में पड़े रहते हैं दिन—रात परिश्रम कर किसी

1 कबीर वाङ्मय, रमैनी, पद 38, पृ० 67

एक मत का तागा जोड़ पाते हैं, किन्तु वास्तविकता से दूर ही रहते हैं। सभी सांसारिक जीवों में अज्ञान रूपी भ्रम समाया हुआ है। इसी भ्रम को जीव ने अपने लिए प्रिय बना लिया है, इसी कारण जीव पूर्णता या परमार्थ को नहीं प्राप्त कर पाते वे दिन-प्रतिदिन वाद-विवाद के कारण क्षीण होते जाते हैं। जहाँ अंग विहीन अर्थात् ज्ञान चक्षु से रहित वे लोग हैं जो ब्रह्म की वास्तविकता को अस्वीकार कर जीव को दिग्भ्रमित कर रहे हैं और अज्ञानी जीव भी जागतिक प्रपंच में पड़कर ईश्वरसे दूर हो रहा है, और प्रभु-भक्ति रूपी वस्त्र को साधना के ताने-बाने से बुनना नहीं चाह रहा है, परन्तु इनमें सच्चे साधक भी हैं जो इस वस्त्र निर्माण में लगे हुए हैं जिससे वो दोबारा इस सांसारिक ताने-बाने में न उलझे।

सांसारिक ताने-बाने का आकर्षण ऐसा है कि जीव उसमें फँसकर ईश्वर की ओर उन्मुख होना नहीं चाहता और साधना की बिनाई की अपेक्षा उसे सांसारिक ताना-बाना ही अच्छा लगता है, लेकिन इसके विपरीत जो इस ताने-बाने से निकल कर ईश्वरोन्मुखी होता है, उसे सांसारिक ताने बाने में मन लगाना अच्छा नहीं लगता।

इस सन्दर्भ में कबीर का एक और रूपक देखिए —

को बीनै प्रेम लागी री, माई कौ बीनै।
 राम रसोइण माते री, माई को बीनै।।टेक।।
 पाई पाई तूँ पुतिहाई, पाई की तुरियाँ बेचि खाई री, माई को बीनै।।
 ऐसी पाई पर बिथुराई, तूँ रस आँनि बनायौ री, माई को बीनै।।
 नाचै तौनों नाचै बौनों, नाचै कूँ पुराना री, माई को बीनै।।¹

विद्वानो ने इस रूपक के विभिन्न अर्थ दिए हैं। डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र ने इस पद का अर्थ जीवात्मा व माया के सन्दर्भ में लिया है, जीवात्मा माया से कह रही है कि मुझे तो भगवान से प्रेम हो गया है अब कौन बुने अर्थात् सांसारिक कर्मजाल में क्यों पड़े?²

1 डॉ० श्यामसुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, पद 19, पृ० 74

1 डॉ० भगवत स्वरूप मिश्र, कबीर ग्रन्थावली, पद 19, पृ० 198

डॉ० हरिहर प्रसाद गुप्त के अनुसार राम रसाइन प्रेम रस है जिससे वे मस्त रहते हैं। प्रेम सर्वोत्तम रसायन है, क्योंकि प्रेम ही आनन्द है, यही आलोक है, यही शांति है, यही समाधि है, यह व्यवहार जगत और अध्यात्म जगत दोनों का आधार है। भाव ये है कि ताना-बाना (जप-तप) आरम्भिक स्थिति है, जब एक हो जाए तब ध्यान गौण हो जाता है, तब तो समाधि की मस्ती फूट जाती है, तब साधक आनन्द में वास करता है।¹

ईश्वरीय प्रेम जगत व अध्यात्म का आधार व ऐसा आलोक है जो जीव के अन्दर के अंधकार को दूर कर देता है। इसी ईश्वरीय प्रेम में साधक इतना उन्मुक्त है कि वह ताने बाने का होश कहीं रख पाएगा क्योंकि जब साधक का हृदय प्रभु भक्ति से परिपूर्ण हो जाता है। परिपूर्ण हो जाता है तो उसके अन्तर्मन में प्रकाश की ऐसी दिव्य ज्योति उद्दीप्त होती है जिससे सारे अवगुण दूर हो जाते हैं।

ताने बाने के प्रपंच में कबीर का आध्यात्मिक मन इतना रम गया है कि वह अपनी आध्यात्मिक मनोभूमि के साथ इस प्रक्रिया से एकाकार हो गया है। चाहे हठयोग की शब्दावली के साथ भाव साधना हो अथवा भक्ति भावना जन्म मनोभूमि सभी स्थितियों में ऐसे रूपकों की संरचना का ही सहारा लेते हैं। प्रस्तुत रूपक देखिए —

तननों बुनता तज्या कबीर,
राम नॉम लिखि लिया शरीर।।टेक।।
जब लग भरौं नली का बेह, तब लग टूटै रॉम सनेह।।
ठाढी रोवै कबीर की माइ, ए लीरका क्यूँ जीवै खुदाइ।
कहैं कबीर सुनहुँ री माइ, पूरणहारा त्रिभुवन राई।।21।।²

कबीर ने वस्त्र बुनने का कार्य छोड़ दिया है, और उनके रोम-रोम में राम नाम भर गया है। इस कारण कबीर की माँ ठगी सी रोती हुई कहती है कि हे प्रभु ये बालक कैसे जीवन निर्वाह करेगा? कबीर माँ को समझाते हुए कहते हैं कि मैं एक क्षण के लिए भी राम को नहीं

1 डॉ० हरिहर प्रसाद गुप्त, कबीर ग्रन्थावली, पृ० 24

2 डॉ० श्याम सुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, पद 21, पृ० 75

भुला सकता। मैं जब तक नली के छेद में तागा भरता रहूँगा, तब तक राम नाम बिसरा रहेगा। ऐ माँ! तू मेरे लिए चिंता मत कर। प्रभु सब आवश्यकताओं को पूरा करने वाला है।¹

कबीर अपनी भावभूमि के आधार पर आध्यात्मिक साधना के ताने-बाने से अपनी चदरिया बुन लेते हैं। चदरिया के बुनने की प्रक्रिया ही उनकी भाव साधना का आधार बनती है। भाव साधना की पूर्णता उसकी अनुभूति उनके रूपकों के माध्यम से ही होती है। कबीर के निम्नलिखित रूपक में कबीर योग साधना और अन्य आध्यात्मिक साधनाओं से संदर्भित अपनी अनुभूतियों का आरोपण कितनी कुशलता से करते हैं —

‘झीनी-झीनी बीनी चदरिया।

काहे का ताना, काहे की भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया।

इडा पिंगला ताना भरनी, सुषमन तार से बीनी चदरिया।।

आठ कँवल दल चरखा डोले, पॉच तत्त गुन तीनी चदरिया।

साई को सियत मास दस लागे, ठोंक ठोंक के बीनी चदरिया।।

सो चादर सर नर मुनि ओढिन, ओढ के मैली कीनी चदरिया।

दास कबीर जतन से ओढिन, ज्यों के त्यों धर दीनी चदरिया।।²

जुलाहा व्यवसाय की कपड़ा बुनने की प्रक्रिया द्वारा आध्यात्मिक भाव व्यंजना का सफल प्रस्तुतीकरण हुआ है। जुलाहा कपड़ा बुनता है तो जितना बारीक धागा निकालना होता है, उतना ही जतन से निकालना पड़ता है। आध्यात्मिक सन्दर्भ में कबीर भक्ति रूपी चादर के निर्मित होने की बात करते हैं कि साधना रूपी चादर की बुनाई इतनी महीन बुनी है जिसको बुनते समय पूरे होश व हवास में रहना पड़ता है, जरा भी चेतना का कंपन नहीं होना चाहिए क्योंकि ईश्वरीय अराधना वह महीनतम कला है जिसको करने में सजग रहना आवश्यक है, जरा सी चूक होने पर सब विकृत हो जाता है। दूसरे शब्दों में जीवन को जितना जाग के जिया जाए उसे उतने ही बारीक और सूक्ष्म जीवन के अनुभव होंगे।

1 कबीर वाङ्मय, (सबद), पृ० 172

2 कबीर साहब की शब्दावली

ताना व भरनी के माध्यम से जुलाहा चादर तैयार करता है। जीवन रूपी चादर स्थूल व सूक्ष्म का ताना-बाना है। 'इडा पिंगला' सुषमन तार ये योगियों के पारिभाषिक शब्द हैं। सुषुम्ना 'रीढ़' के लिए प्रयुक्त होता है। रीढ़ बाह्य आवरण है रीढ़ के मध्य से एक अति सूक्ष्म ज्योति धारा, सूक्ष्म ऊर्जा विद्युत की भाँति प्रवाहित होती है। यह ऊर्जा शरीर और मस्तिष्क के जीवन का आधार है उसी के दाहिने व बायीं ओर से दो नाडियाँ निकलती हैं इडा ओर पिंगला। जो कि जुलाहे के ताने-बाने के सदृश हैं, इस ताने बाने को बुनने के लिए जुलाहा भरनी भरता है जो कि चेतना का जाग्रत होना है और इस चेतना के माध्यमसे जो कि कीमती तार के रूप में जीव रूपी जुलाहे के पास है वह भक्ति रूपी चादर बुनता है।

ब्रह्म को जुलाहे के रूप में लेते हुए इस रूपक की अर्थवत्ता इस प्रकार की जा सकती है कि ब्रह्म ने सृष्टि रूपी जो चादर निर्मित की है वह बहुत झीनी अर्थात् महीन ही नहीं वरन् बड़ी भिन्न-भिन्न चादर बीनी है और इस चादर के निर्माण में परमात्मा को भी समय लगता है जो निर्माण किया जा रहा है वह इतना बहुमूल्य है क्योंकि हम स्वयं अपनी कीमत नहीं समझते जबकि परमात्मा पूरे दस माह हमें बनाने में खर्च करता है। अतः चादर रूपी शरीर के साथ कबीर ने पूरा जीवन विवेक के साथ जिया और बिना विकृत किए जैसी परमात्मा ने दी थी वैसी ही लौटा दी।

ऐसी भिन्न-भिन्न धागों से जोड़कर रंग-बिरंगी चदरिया बनाना जिससे देह भी ढकती हो और प्राण को ऊष्मा भी मिलती हो यह साधारण बिनाई नहीं है और ऐसी असाधारण बिनाई कबीर के लिए सायास नहीं वरन् अनायास हो गई जिसे बुनकर शिल्प के रूपक द्वारा प्रस्तुत किया गया है। रूपक जीवन के जितने निकट हो सत्य को प्रकट करने में उतने ही सक्षम होते हैं और जीवन से दूर होने पर उनमें सत्य की अभिव्यक्ति की क्षमता कम हो जाती है।

“जो साधारण कृत्यों में जागने लगेगा वह असाधारण को उपलब्ध हो जाएगा।” कबीर भी साधारण जीवन के अत्यन्त निकट हैं और सत्य भी यही है कि साधारण में असाधारण

छुपा हुआ है जैसे उठना, बैठना, कपड़ा बुनना, खाना-पीना जीवन तो इन छोटी-छोटी चीजों से बना है और जो भी असाधारण होने की कोशिश करेगा वह जीवन से वंचित हो जाएगा।

इसी क्रम में ताने बाने से सम्बन्धित रूपक के बाद, धागा जोड़ने की प्रक्रिया से सम्बन्धित रूपक प्रस्तुत है जिसके माध्यम से सार्थक आध्यात्मिक अभिव्यंजना प्रस्तुत की गई है— तानने व बुनने की प्रक्रिया में ही धागा कभी टूट भी जाता है, इसे मरोरिया प्रक्रिया से जोड़ा जाता है। इस उपादान को ग्रहण करके कबीर ने साधना के टूटे हुए सूत्र को पुनः जोड़ने की सुन्दर अभिव्यंजना की है।

4.1.2.2 मरोरिया या धागा जोड़ने की प्रक्रिया से सम्बन्धित रूपक

वयन प्रक्रिया में धागे की एक सूत्रता एक अहम पहलू है। धागे की एक सूत्रता टूटने पर उसे पुनः जोड़ने पर ही वयन प्रक्रिया आगे बढ़ती है। धागा जोड़ने की प्रतीक व्याख्या आध्यात्मिक साधना में ध्यान की निरन्तरता की सार्थक व्यंजना कर सकती है। कबीर अपने इस व्यवसाय में इतने रच बस गए थे। कि उन्हें इसकी हर क्रिया में अपनी आध्यात्मिक जीवन साधना की झलक दिखायी दे जाती है और वे इसकी सहज क्रिया से एक रूपक का निर्माण कर देते हैं। कबीर का यह रूपक देखिए —

धागा ज्यूँ टूटै त्यूँ जोरि।
तूटै तूटनि होयगी, नाँ ऊँ मिलै बहोरि।।टेक।।
उरझयो सूत पॉन नहि लागै, कूच फिरे सब लाई।
छिटके पवन तार जब छूटै, तब मेरौ कहा बसाई।।
सुरझयो सूत गुढी सब भागी, पवन राखि मन धीरा।
पैचूँ भईया भए सनमुखा, तब यहु पान करीला।।
नॉन्ही मैदा पीसि लई है, छॉणि लई द्वै बारा।
कहै कबीर तेल जब मेल्या, बुनत न लागि बारा।।¹

1 कबीर ग्रन्थावली, पद 109, पृ० 94

कबीर धागा जोड़ने की महत्ता में आध्यात्मिक साधना की प्रतिच्छाया की अनुभूति करते हुए कहते हैं कि प्रेम की डोर प्रभु से सदैव लगी रहनी चाहिए। यदि कदाचित् वह टूट जाए तो उसे तत्काल जोड़ लेना चाहिए। उसके टूटने पर पूर्ण विच्छेद हो जाएगा। विषयों में उलझे हुए तागे पर प्रभु प्रेम की माड़ी नहीं लग पाएगी, चाहे साधना रूपी कूची चतुर्दिक क्यों न लगायी जाए। विषयों के झोंके से जब प्रेम का तागा प्रभु से विच्छिन्न हो जाएगा, तब जीव का क्या वश चलेगा? जब प्रेम का तागा विषय विमुक्त हो जाएगा, सुलझ जाएगा, तब विघ्न बाधाओं की सारी ग्रन्थियाँ समाप्त हो जाएंगी। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के सहयोग से प्रेम रूपी माड़ी का क्रम ठीक बैठेगा अर्थात् सच्चा प्रेम पैदा होगा। वासनामय मन रूपी मैदे को साधना द्वारा पीस कर, ज्ञान रूपी छलनी से भली प्रकार छान लिया और उसमें प्रेम रूपी तेल डालकर तैयार माड़ी से जो भक्ति रूपी वस्त्र तैयार किया जाएगा उससे भक्ति रूपी वस्त्र तैयार करने में विलम्ब नहीं होगा।

इस रूपक में कबीर द्वारा यह आध्यात्मिक व्यंजना जुलाहे के ताना-बाना, माड़ी देना, कूच से मोजना तेल डालने का वर्णन है। जुलाहा जूत्र अथवा धागा जोड़ने वाला बुनकर है, धागा वह ध्यान है जिसे निरन्तर बुनते रहना है। बुनकर प्रक्रिया में जुलाहा तागे पर माड़ी लगाता है, मैदे को पीसकर उसमें चिकना द्रव्य मिलाकर उसमें माड़ी तैयार की जाती है व उसे तागे पर लगाकर वस्त्र तैयार किया जाता है, आध्यात्मिक सन्दर्भ में यह धागा प्रभु प्रेम का है जिस के लिए वासनामय मन को पीस कर मैदा बनाया जाता है, उस मैदे में सुरति का तेल मिलाकर माड़ी बनाई जाती है। इस प्रक्रिया से जो प्रेम रूपी एकतानता का सूत्र तैयार हुआ वह जितना अधिक परम विषय से जुड़ेगा भक्ति का वस्त्र उतना ही अधिक घना तैयार होगा।

कबीर के जीवन का विचित्र ताना बाना था वे इसे गुनते रहे, बुनते रहे, वे न केवल स्वभाव से वरन् कवि कर्म से भी जुलाहा थे, कबीर के अवचेतन में कहीं गहरे यह बात बैठ गई थी कि जिस पेशे में हम होते हैं तो क्यों न यही से अपनी बात शुरू करें इसीलिए कबीर

ने करघे पर बैठे हुए जुलाहे से अपनी बात शुरू की। इसीलिए वे बुनने, कातने, ताने बाने व धागा जोड़ने से अपनी बात उठाते हैं, क्योंकि कबीर ने अपने युग के उच्च वर्ग के लोगों के परिवेश से कुछ नहीं लिया जो उनके पास है उसी में वे अपनी काव्य सामग्री खोजते हैं। कबीर जागे हुए लोगों में से हैं जो सोते नहीं क्योंकि सोता तो वह है जो भरपेट खाता है। कबीर भूखे लोगों के बीच रहे थे। दिन भर कपड़ा बुनते थे लेकिन ठिकाना नहीं था कि शाम को बिक हो जाएगा और रोटी मिल ही जाएगी, तो ऐसे भूखे-प्यासे आदमी के सचेतन व्यक्तित्व की चेतना अपने व्यवसाय और अपने आस-पास के परिवेश के साथ ही तादात्म्य स्थापित करती है और उसे अपनी लक्ष्य सिद्धि की ओर ले जाने वाली भावभूमि की ओर मोड़ देती है। यह सामंजस्य एक अलग काव्य संस्कृति की रचना करता है जिसमें लोक के स्वर में शास्त्र की रचना होने लगती है। कबीर के इन रूपकों में भी यही हुआ है। वहाँ काव्य भी अपने शास्त्र की आधारभूमि लोक में तलाश करता है और अध्यात्म भी अपने शास्त्र की व्याख्या लोक व्यापारों के माध्यम से करने लगता है।

अपने आस-पास के परिवेश से रूपक ग्रहण करके कबीर ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उनकी संवेदना मानव-मूल्यों से होती हुई अध्यात्म लोक तक जाती है।

वयन शिल्प तो कबीर का अपना व्यवसाय था लेकिन अन्य व्यवसायों की भाव सृष्टि भी कबीर की चेतना से ओझल नहीं हो सकी। कबीर के वर्ग से जुड़े अन्य शिल्पी व्यवसाय में 'काष्ठकार' का व्यवसाय भी आता है। कबीर ने अस व्यवसाय की आत्मा को भी गंभीरता से देखा और उसे अपने काव्य में रूपकों का आधार बनाया।

4.2 काष्ठकार शिल्प से सम्बन्धित रूपक

समाज के सभी वर्गों में एक वर्ग 'काष्ठकार' का भी है। लकड़ी के औजार बनाने वाले को 'काष्ठकार' अथवा 'बढ़ई' के नाम से अभिहित किया जाता है। जिस तरह बढ़ई लकड़ी को आरे से चीरता है, बसुला से काटता छँटता है, रूखानी से छेद करता है और रन्दे से

सफाई करता है तत्पश्चात् औजार का रूप देता है इसी तरह काष्ठकार शिल्प के सम्पूर्ण उपादानों से कबीर ने अपने रूपकों का निर्माण किया है।

4.2.1 आरे से सम्बन्धित रूपक

सच्चे भक्त को स्वरूप के सन्दर्भ में कबीर ने अपनी एक अभिव्यक्ति में आपत्ति के रूप में बढई के आरे का वर्णन किया है कि सच्चे भक्त का ईश्वर रूपी प्रेम इतना दृढ़ हो गया है कि — चाहे आपत्ति रूपी आरा उसे चीर ही क्यों न दे, अर्थात् नष्ट ही क्यों न कर दे किन्तु वह अपने पथ से विचलित न हो यथा —

यहु मन दीजे तास कौं, सुठि सेवग भल सोइ।

सिर ऊपरि आरास है, तऊ न दूजा होई॥¹

आरा काष्ठकार शिल्प का महत्त्वपूर्ण उपकरण है। काष्ठकार द्वारा लकड़ी चीरने की प्रक्रिया में आरा और लकड़ी में भावनात्मक आरोपण करते हुए कबीर इस रूपक के माध्यम से भक्त के स्वरूप की व्यंजना करते हैं। ऐसा भक्त सिर पर आरा रूपी विपत्तियाँ सहने पर भी कभी भक्ति से विचलित नहीं होता।

4.2.2 कुल्हाड़ी से सम्बन्धित रूपक

कबीर अपनी अनुभूति के क्रम में काष्ठकार द्वारा कुल्हाड़ी से वन के वृक्षों को काटने की क्रिया द्वारा शरीर और तज्जन्य कर्मों के प्रभाव की व्यंजना करते हैं कि बुरे कर्म उसी कुल्हाड़ी की भांति है जो हमारे शरीर को नष्ट कर रहे हैं —

यह तन तौ सब बन भया, करंम भए कुहाडि।

आप आप कूँ काटिहै, कहै कबीर बिचारि॥44॥²

यह शरीर वन के समान है और कर्म कुल्हाड़ी बन गए हैं। जीवन अपने ही कर्म रूपी कुल्हाड़ी से अपने जीवन रूपी वन को काट रहा है अर्थात् नष्ट कर रहा है।

1 कबीर ग्रन्थावली, पृ० 38 सगति को अग साखी

2 कबीर ग्रन्थावली, चितावडी कौ अग, पृ० 19, साखी 44

वन और कुल्हाड़ी से शरीर सन्दर्भित जीवन और कर्मों के प्रभाव की व्यंजना कबीर की सूक्ष्म साहित्यिक दृष्टि की परिचायक है। शरीर रूपी वन के अंगों को हम अपने कर्म के मिथ्याचरण से नष्ट करते हैं। कबीर सचेत करते हैं कि झूठे कर्मों, अभिमान व मोह में न फँसे। शरीर की अपेक्षा आत्मा का परिष्कार करें।

कबीर के इन रूपक चेतना जन्य उपमानों की और व्याख्या की जाए तो कबीर की रूपक चेतना की अद्भुत क्षमता हमारे सामने उभरकर आती है। कुल्हाड़ी के निर्माण में लकड़ी का भी योग होता है। लकड़ी से युक्त कुल्हाड़ी अपने मूल उपादान वृक्षों को काटने का कार्य करती है। शरीर और तज्जन्य कर्मों के स्वरूप की व्यंजना करते हुए कबीर कहते हैं कि शरीर रूपी वन को कर्म रूपी कुल्हाड़ी काटती है अर्थात् क्षय करती है। क्षय की यह प्रक्रिया शरीर और कर्मों के सम्बन्ध भाव को भी स्पष्ट करती है। कर्मों के द्वारा शरीर का क्षय अपने को अपने ही द्वारा काटना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'काष्ठकार' जैसे साधारण शिल्प से रूपक संरचना द्वारा आध्यात्मिक अनुभूतियों की गम्भीर अभिव्यंजना कबीर के रचना कर्म को सशक्त बनाती है।

शिल्प की इसी शृंखला में अगला शिल्प 'कुम्हार' का है जो ब्रह्म के सर्जनकर्ता स्वरूप को प्रस्तुत करता है।

4.3 कुम्भकार (कुम्हार) शिल्प से सम्बन्धित रूपक

शिल्पी जीवन में कुम्भकार कर्म की रचनाधर्मिता सृष्टि रचना के स्वरूप की सुन्दर व्यंजना करती है। कुम्भकार मिट्टी के पात्र बनाने के लिए विभिन्न प्रक्रियाओं का सहारा लेता हुआ सामान्य मिट्टी से उसे विभिन्न पात्रों का स्वरूप प्रदान करता है। सृष्टि रचना में जीव (मनुष्य) को भी जीवन के विभिन्न संदर्भों में अपनी पात्रता का स्वरूप ग्रहण करने के लिए विभिन्न प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है। आध्यात्मिक जीवन सन्दर्भ में पात्रता ग्रहण करने के लिए सन्त कवि जीवन क्रम को उस परमसत्ता की निर्मिति के रूप में देखते हैं।

सन्तों की धारणा है कि जीव (मनुष्य) का सामान्य स्वरूप मिट्टी की तरह होता है। परमसत्ता की इच्छा से जीवन की विभिन्न भूमिकाओं के द्वारा अपरिपक्व शरीर और मन अध्यात्म साधना की अग्नि में परिपक्व होकर आध्यात्मिक पात्रता का स्वरूप ग्रहण करता है। सन्तों ने जीवन साधना को कुम्भकार द्वारा पात्र निर्माण की विभिन्न प्रक्रियाओं के रूप में अभिव्यक्त किया है। अपनी इस व्यंजना के लिए उन्होंने रूपकों का सहारा लिया है। कबीर के इन रूपकों में कुम्भकार शिल्प की विभिन्न प्रक्रियाएँ इस सुन्दर ढंग से प्रस्तुत की गई हैं कि उनसे एक ओर जहाँ कुम्भकार शिल्प की प्रक्रियाओं का स्वरूप प्रस्तुत होता है वहीं उससे आध्यात्मिक जीवन साधना की प्रक्रिया की व्यंजना भी होती है।

कुम्भकार शिल्प प्रक्रिया की प्रथम अवस्था पात्र निर्माण के लिए मिट्टी तैयार करना है। इस प्रक्रिया के रूपक द्वारा कबीर ने आध्यात्मिक साधना की प्रथमावस्था की व्यंजना की है। जो शरीर—शोधन व मन—शोधन की अवस्था है। अब हम कबीर काव्य से कुछ ऐसे रूपकों को देखेंगे।

4.3.1 मिट्टी निर्माण की प्रक्रिया से सम्बन्धित रूपक

माटी मलिण कुम्हार की, घडीं सहै सिरि लात।
इहि औसरि चेत्या नही, चूका अब की घात।¹

विभिन्न विद्वानों ने प्रस्तुत साखी की व्याख्या विभिन्न रूपों में की है। डॉ जयदेव सिंह वासुदेव के शब्दों में जिस प्रकार मिट्टी को आकार ग्रहण में कुम्हार द्वारा रौंदने की क्रिया में अनेक लाते सहनी पड़ती है, उसी प्रकार जीव को संसार में रूप ग्रहण करने में काल और कर्मों की अनेक यातनाएँ सहनी पड़ती है। परन्तु वह इस सांसारिक रूप में इतना मोहित रहता है कि वह प्रभु की ओर प्रवृत्त होकर संसार से मुक्त नहीं होना चाहता। यद्यपि उसे जीवन में केवल दुःख ही सहन करना पड़ता है, क्षणिक सुख भी अन्ततः दुःख में परिणित हो

1. कबीर ग्रन्थावली, चितावड़ी को अंग, साखी 29, पृ० 18

जाता है। फिर भी वह उसी में रत रहता है। मानव जीवन ही एक ऐसा अवसर है जब वह अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। यदि वह इस अवसर में नहीं चेतता तो अपना दौंव सर्वथा के लिए चूक जाता है, और उसे मुक्ति की प्राप्ति कठिन हो जाती है।

डॉ० भगवत स्वरूप मिश्र ने भी प्रस्तुत साखी को मिट्टी रौंदने के सन्दर्भ में लिया है कि मिट्टी की तरह यह मानव भी भाग्य की लातों की गहरी चोट अपने सिर पर सहता रहता है। अगर इस बार भी अर्थात् इस जन्म में भी इसे सुबुद्धि नहीं जागी तो उसने यह अवसर भी खो दिया है, इस बार उसका निशाना चूक गया। भगवान की भक्ति एवं मुक्ति न प्राप्त कर सकने के कारण जीव का यह जीवन भी कृतार्थ नहीं हुआ।¹

इस प्रकार मनुष्य की दशा कुम्भकार की उस मिट्टी के समान है, जो गूंथे जाने पर बार-बार लातों के आघात सहती है। जीव भी अपने कुकृत्य के अनुरूप इस जीवन में सांसारिक यातनाओं को भोगता है। मनुष्य योनि में जीव ने जन्म लिया है तो उसे सावधान होकर ऐसे सुकृत्य करने चाहिए जिससे वह सांसारिक आवागमन के चक्र में न पड़े।

प्रस्तुत साखी में ब्रह्म के लिए कुम्हार, अहंकार मर्दन के लिए सिरि लात, जीवन संघर्ष के लिए 'मलनि' उपमान ग्रहण करते हुए कबीर ने कुम्भकार कर्म में पात्र निर्माण के लिए उसके मूल उपादान को पात्र निर्माण के योग्य बनाने की भूमिका एवं प्रक्रिया को जीवन के स्वरूप पर आरोपित करके जीव की उपयुक्त पात्रता की व्यंजना की है। कुम्हार बर्तन बनाने से पूर्व मिट्टी को गूंथता है। मिट्टी को जितना अधिक रौंदा व मला जाता है वह उतनी ही चिकनी होती है और पात्र निर्माण की पात्रता को प्राप्त करती है। कबीर का मानना है कि जीव (मनुष्य) का जीवन और उसका संघर्ष उसकी उपयुक्त पात्रता के निर्माण के लिए है। परमसत्ता रूपी कुम्हार मनुष्य को विभिन्न जीवन संघर्षों में डालकर उसके अहंकार का मर्दन करते हुए उसे आध्यात्मिक विश्वास को प्राप्त करने के लिए उन्मुख करता है। जीव अपने

1. डॉ० भगवत स्वरूप मिश्र, कबीर ग्रन्थावली, चितावड़ी को अंग, साखी 29, पृ० 60

इस मनुष्य जीवन में जीवन सघर्षों को उस परमसत्ता की इच्छा के रूप में लेते हुए सचेत होकर उन्मुख नहीं होता है तो यह उसके जीवन की बड़ी चूक होती है।

इस प्रकार कबीर इस रूपक के माध्यम से कुम्हार शिल्प की सामान्य चेतना से एक विशेष जीवन दृष्टि की व्यजना करते हैं।

कबीर का यह रूपक काव्यशास्त्रीय दृष्टि से रूपक चेतना का सार्थक मूर्त रूप है। यह प्रस्तुत और अप्रस्तुत योजना का वह सश्लिष्ट रूप है जो कबीर की अनुभूति को आत्मसात् करते हुए उसे पाठक के भावन योग्य बनाता है।

इस रूपक का सदेश यही है कि जीवन के स्वरूप को रचनात्मक दृष्टि के साथ लेकर यही मानना चाहिए कि मानव जीवन एक ऐसा अवसर है जिसमें वह सुन्दर स्वरूप को प्राप्त कर सकता है।

कबीर की जीवनदृष्टि केवल आध्यात्मिक चेतना की ही व्यंजना ही नहीं करती वरन् जीवन के व्यावहारिक स्वरूप की व्याख्या भी करती है। कबीर आध्यात्मिक और व्यावहारिक जीवन के समन्वय को लेकर चलना चाहते हैं। कबीर के रूपकों में आध्यात्मिक चेतना के साथ सामाजिक चेतना की भी सार्थक व्यजना मिलती है।

इस सन्दर्भ को लेकर कबीर का एक और रूपक दृष्टव्य है जिसमें कबीर की उपमेयगत दृष्टि दो दिशाओं की ओर संकेत करती है —

माटी कहे कुम्हार से तू क्या रूधै मोहि।

इक दिन ऐसा होइगा, मै रूँधूँगी तोहि।¹

प्रस्तुत रूपक की अप्रस्तुत व्यजना कुम्भकार शिल्प को दार्शनीकरण की ओर ले जाती है। अप्रस्तुत व्यजना मिट्टी तैयार करने की प्रक्रिया में मिट्टी की वास्तुस्थिति को भावनाओं

के साथ जोड़कर कुम्हार को जीवन के तात्त्विक स्वरूप का बोध कराने का प्रयास है। कबीर इस अप्रस्तुत संयोजन से कुम्हार को संदेश देते हैं कि उसे भी एक दिन मिट्टी में मिलना है।

रूपक की अप्रस्तुत योजना से जिस प्रस्तुत योजना की व्यंजना होती है, उसका सामाजिक सन्दर्भ कुम्हार के रूप में सामन्ती भावना और शोषक की वृत्ति की ओर भी जाता है। मिट्टी (माटी) यहाँ सामान्य अर्थात् शोषित वर्ग के अर्थ में है। सामन्ती शोषण के विरोध में यहाँ चेतावनी देते हुए माटी रूपी शोषित जनसामन्ती रूपी शोषक से मार्मिक अपील करता हुआ कह रहा है कि आज तेरे द्वारा मेरा शोषण हो रहा है लेकिन एक दिन ऐसा भी आएगा जब मैं इस यातना का बदला लूंगा।

प्रस्तुत साखी की रूपक चेतना में सामाजिक सन्दर्भ की व्यंजना के साथ आध्यात्मिक सन्दर्भ की व्यंजना स्पष्ट दिखाई देती है। यहाँ सन्त कबीर अपने को मिट्टी के रूप में मानता हुआ ब्रह्म को कुम्हार के रूप में प्रस्तुत करता है। ब्रह्म द्वारा जीवन संघर्षों में डालकर जीव की दुर्दशा की ओर संकेत करता हुआ कबीर आत्मविश्वास के साथ परमसत्ता को ललकारता हुआ उस पर अपने शक्तिसम्पन्न होने के प्रति आश्वस्त होता है। उसे विश्वास है कि वह अपनी साधना के बल पर उस सत्ता को अपने अनुकूल बना लेगा। कबीर इसी तथ्य के माध्यम से अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति करते हुए कहते हैं कि इस जीवन में अपात्र मिट्टी के रूप में मुझे जिन जीवन संघर्षों में डालकर मेरी दुर्दशा की जा रही है वह सब मैं सह रहा हूँ। मुझे विश्वास है कि साधना के माध्यम से एक दिन मैं तुझे समर्पण करने को बाध्य कर दूँगी। उस समय तुझे मेरी इच्छाओं के अनुसार चलना होगा।

कुम्भकार शिल्प में पात्र निर्माण की प्रक्रिया में मिट्टी तैयार करने के पश्चात् अगला चरण पात्र निर्माण का होता है। मिट्टी से निर्मित पात्र जब तक अग्नि में पकाया नहीं जाता वह किसी प्रकार की चोट को सहन करने की क्षमता नहीं रखता। कबीर मानव की जन्म से प्राप्त स्थूल शारीरिक संरचना को अपरिपक्व मानते हैं। मानव का अपरिपक्व शरीर जन्य बोध विभिन्न सांसारिक वृत्तियों में लय होता हुआ जीवन की विभिन्न चोटों को सहन करता

है। जब यही बोध राम नाम की अग्नि में परिपक्व होकर सांसारिक वृत्तियों की चपेट को सहन करने में समर्थ हो जाता है। कबीर प्रस्तुत साखी में कच्चे घड़े के रूपक से इसी अर्थ की व्यंजना करते हैं। अब हम कबीर के काव्य से कुछ ऐसे रूपक देखेंगे।

4.3.2 कच्चे घड़े से सम्बन्धित रूपक

यह तनु काचा कुंभ है, चोट चहूँ दिसि खाइ।
एक राम के नौव बिन, जदि तदि प्रलै जाइ।¹

डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह प्रस्तुत साखी की व्याख्या, मानव शरीर और जीवन साधना के सन्दर्भ में करते हुए कहते हैं कि शरीर कच्चे घट के सदृश है जो चारों ओर से कुम्भकार की थपकी की चोट खाता है। यह शरीर की सांसारिक यातनाओं के आघात सह रहा है। एक राम नाम के अभाव में ही पुनः संसार में जन्म लेकर वासना अग्नि में दहकता है, यदि राम नाम का सम्बल ले तो इस आवागमन से मुक्त हो जाए।

भारतीय दार्शनिक परम्परा के सन्दर्भ में देखा जाए तो कबीर के इस रूपक से शरीर की तात्त्विक व्याख्या की व्यंजना होती है, मनुष्य शरीर की 6 अवस्थाएँ मानी गयी हैं – स्थूल, सूक्ष्म, करण, महाकरण, कैवल्य तथा हंस। इनमें से प्रथम पाँच कच्चे और नाशवान हैं।

कबीर का यह रूपक कच्चे घड़े के रूप में जीव के शरीर के स्वरूप को स्पष्ट करने का एक सुन्दरतम प्रयास है। कच्चे घड़े में बाहरी चोट सहने की क्षमता बहुत कम होती है, उस पर चारों तरफ की चोटें अपना प्रभाव छोड़ती हैं वहीं घड़ा अग्नि में पक जाने के बाद चोटों को सहने में समर्थ हो जाता है। एक अग्नि के अभाव में उसकी यह गति होती है। कबीर इस रूपक के माध्यम से कहते हैं कि कच्चे घड़े की तरह ही हमारा शरीर है यह संसार के माया-मोह कर्मजन्य चतुर्दिक प्रहारों को झेलता हुआ अस्थिरता पर आधारित जीवन बिताता है। राम नाम की अग्नि इस शरीर रूपी कच्चे घड़े को पकाकर इस योग्य बना

1 कबीर ग्रन्थावली, चितावडी को अग 12, साखी 38, पृ० 19

सकती है जिससे सांसारिक प्रभावों का इस पर असर न पड़े। राम नाम के अभाव में ही सांसारिक प्रभाव इसे प्रभावित करते हैं। कबीर द्वारा इस रूपक में शरीर की अपरिपक्वता की व्यंजना के कच्चे घड़े का उपमान बड़ा सटीक चुनाव है। अग्नि का संचार घड़े को परिपक्व बनाता है। इसी प्रकार राम नाम का संचार राम की चेतना के साथ शरीर बोध को उस चेतना पर ला देता है जहाँ सांसारिक विषय और तज्जन्य प्रवृत्तियाँ प्रभावी नहीं रह जाती। कबीर के इस रूपक से कबीर की आध्यात्मिक साधना के एक अंग के रूप में शरीर साधना की ओर भी संकेत है और राम नाम के रूप में उसके साधन की ओर भी।

कच्चे घड़े के रूपक से शरीर साधना की प्रक्रिया और महत्ता की व्यंजना के बाद कबीर पके हुए घड़े के रूपक से भी इसमें परिपक्व जीवात्मा के स्वरूप की व्यंजना करते हैं।

4.3.3 पक्के हुए घड़े से सम्बन्धित रूपक

कबीर हरि रस यो पिया, बाकी रही न थाकि।

पाका कलस कुम्भार का, बहुरि न चढहि चाकि।।¹

कबीर ने भगवान के साक्षात्कार एवं प्रेम का रस और इतना पी लिया है कि अब उसकी सांसारिक यात्रा की थकान बिल्कुल दूर हो गई है। भक्त कबीर भगवान रूपी कुम्भकार का घड़ा है उसके अनुग्रह एवं ज्ञान से शरीर रूपी घट पक गया है इसीलिए संसाररूपी चाक पर उसे फिर नहीं चढ़ना है। जिस प्रकार पक्के हुए घड़े के लिए चाक पर चढ़ने की आवश्यकता नहीं होती।

प्रस्तुत रूपक में घड़े द्वारा पक जाने की अवस्था द्वारा साधना सम्पन्न साधक की परिपक्वस्था की व्यंजना की गई है। कबीर एक सामान्य सी कुम्भकार शिल्प की वस्तु स्थिति से आध्यात्मिक जीवन साधना की व्यंजना कर देते हैं।

इस प्रकार इस रूपक के माध्यम से कबीर साधनाजन्य अनुभूति की व्यंजना बड़े सरल शब्दों और एक शिल्पी जीवन के उपादानों से कर देते हैं।

1. कबीर ग्रन्थावली, रस कौ अंग साखी 1, पृ० 13

4.3.4 बर्तन बनाने की प्रक्रिया से सम्बन्धित रूपक

एक ही कुम्हार द्वारा निर्मित विविध प्रकार के बर्तनों में उसकी आत्मा या कला विद्यमान है उसी प्रकार ब्रह्म की कला प्रत्येक मानव में समान रूप से वर्तमान है। निम्नलिखित रमैनी में कबीर ने कुम्भकार के शिल्पी जीवन से सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया की व्यंजना की है –

आपुहि करता भया कुलाला, बहु विधि बासन गढ़ै कुंभारा।
विधिना समै कीन्ह यक टाँऊँ, जतन अनेक के बने बनाऊँ।
जठर अग्नि मँह दीन्ह प्रजारी, तामे आपु भया प्रति पाली।
बहुत जतन करि बाहर आया, तब सिव सक्ती नाम धराया।¹

कुम्भकार परमात्मा सदृश है। केवल सामग्री लेने में ही भेद है – कुम्भकार मिट्टी आदि उपादान बाहर से लेता है। एक ही मिट्टी से कुम्भकार विभिन्न आकार वाले बर्तनों को बनाता है। वैसे ही परमात्मा पंचमहाभूत, मन, इन्द्रिय आदि साधनों से जीवों की सृष्टि करता है। कुम्भकार आँवे के माध्यम से बर्तनों को पकाता है और परमात्मा गर्भाशय रूपी आँवे में।

इस प्रकार वह परमसत्ता भी कुम्हार की तरह निर्माता है और नाना प्रकार के बर्तन के रूप में नाना प्रकार के जीवों की सृष्टि करता है। संचित कर्म के विधान द्वारा उपयुक्त द्रव्य एकत्र किए जाते हैं और फिर वह बड़े यत्न से भिन्न-भिन्न प्रकार के अर्थात् जीवों को परमात्म बनाता है। वह जठराग्नि अर्थात् गर्भाशय में जीवों को नौ मास तक विकसित होने में सहायक बनता है, और उस दशा में उनकी पूरी रक्षा करता है तब जीव स्त्री या पुरुष के रूप में प्रकट होता है।

सृष्टि संरचना के कर्म को कुम्भकार कर्म के रूपक से स्पष्ट करता हुआ कबीर एक नया रूपक और खड़ा कर देते हैं – वह सम्पूर्ण सृष्टि रचना की एक चित्र के रूप में अनुभूति करता है। चित्र निर्माण करने वाले की चेतना पर स्थित बिम्बों के बहिर्प्रकाशन की भांति यह सृष्टि रचना भी कुम्भकार रूपी परमसत्ता की अनुभूति रूपी बिम्बों का चित्र रूप प्रकाशन है।

1. कबीर वाङ्मय, रमैनी, पृ० 48, पद 26

कबीर संत जनों को इस सृष्टि संरचना को चित्रवत अनुभूत करने की सलाह देते हैं, कबीर का यह रूपक कुम्भकार की रचना-प्रक्रिया में उसकी बाह्य और मानसिक भूमिका के रूप में परमसत्ता द्वारा सृष्टि रचना प्रक्रिया की सहज और मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति होते हैं। इस साखी में ऐसे ही भावों का प्रस्फुटन हुआ है —

जिन यह चित्र बनाइया, सांचा सो सुतधारि।

कहहिं कबीर ते जन भले, (जे) चित्रवंतहि लेंहि बिचारि।¹

आलौकिक सत्ता अर्थात् ब्रह्म के लिए सूत्रधार शब्द का प्रयोग हुआ। जिसने चित्र-विचित्र नाम रूप जीव-जगत की सृष्टि की है। 'सूत्रधार' शब्द में कबीर की सूझ-बूझ बहुत सुन्दर रूप निखरी है। इसमें वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ दोनों सुन्दर रूप में घटित होता है। कुम्भकार बर्तन बनाने से पहले उसके बारे में मस्तिष्क में अर्थात् चेतन स्तर पर सोचता है कि किस प्रकार से कौन सा बर्तन बनना है उसके पश्चात् वह उपादान जुटाकर बर्तन निर्माण की प्रक्रिया आरम्भ करता है। इसी प्रकार परमात्मा रूपी कुम्भकार भी जीवों को भिन्न-भिन्न रूप देता है। अतः परमात्मा के लिए सूत्रधार शब्द वाच्यार्थ व लक्ष्यार्थ दोनों दृष्टि से उपयुक्त है क्योंकि सारे जीव जगत का नियन्ता वही है। कुम्भकार हाथ में एक सूत्र लिए रहता है और एक बर्तन बन जाने के बाद उसे तागे से काट देता है। एक ही मिट्टी से परमात्मा ने भी भिन्न-भिन्न जीवों की सृष्टि की है।

एक साखी देखिए —

माटी एक अनेक भांति करि साजी साजन हारै।

न कछु सोच माटी के न कछु पोच कुम्हारे।²

एकै मटिया एक कुंभारा, एक समन्हि का सिरजनहारा।

एक चाक सभ चित्र बनाया, नाद बिन्द के मध्य समाया।³

1. कबीर वाङ्मय, रमैनी, पृ० 49

2. कबीर ग्रन्थावली, अष्टपदी रमैणी, पृ० 240

3. कबीर वाङ्मय, विप्रमतीसी, पृ० 460

कबीर के कुम्हार का रूपक अपनी लौकिक पृष्ठभूमि के कारण काफी आकर्षक रहा है। कबीर के काव्य में कुलाल के चाक मिट्टी मृत्तमाण्ड का व्यापक सन्दर्भ मिलता है। कुम्हार मिट्टी से विविध प्रकार के बर्तन गढ़ता है। वह युक्तिपूर्वक मिट्टी बनाकर चाक में चढ़ाकर विविध आकृतियों को भाड़े पर उतारता है, परन्तु कार्य भिन्न होने से उनके नाम अलग होते हैं इसी प्रकार कुम्भकार रूपी ब्रह्म ने एक ही चाक पर सारे जगत का निर्माण किया है जिस पर विभिन्न प्रकार के बर्तन एक ही चाक पर बनकर उतरते हैं। उसी प्रकार सभी जीवों में एक ही ज्योति समानरूप से व्याप्त है, केवल भौतिक शरीर के द्वारा नाम रूप का भेद है।

कुम्हार लोक जीवन में बहुत पहले ही अपना एक विशेष स्थान बनाए हुए थे। मिट्टी के बर्तनों की उपयोगिता समाज के लिए अनिवार्य सी वस्तु थी। आज के ग्रामीण समाज में भी वह उतना ही महत्त्व रखता है। सन्तो ने अपने चारों ओर के समाज में कुम्हार के इस वैशिष्ट्य को देखा था अतएव उनकी रचनाओं में उनका उल्लेख स्वाभाविक ही है। कबीर ने भी सृष्टिकर्ता के सृष्टि निर्माण के लिए कुम्हार के शिल्प से रूपक उठाकर अपनी आध्यात्मिक अभिव्यक्तियों को जीवंतता प्रदान की है।

4.4 बाजीगर – नटकला से सम्बन्धित रूपक

मध्यकालीन धर्मसाधना अपने निर्गुण व सगुण रूपों में परम सत्ता के प्रति रागात्मक भावों की अभिव्यंजना करती है। साधारण शब्दों की सम्प्रेषणीयता इस अभिव्यंजना में सर्वथा समर्थ रहती है, इसीलिए संतों और भक्तों ने तथा अन्य सभी साधकों ने रूपकों के माध्यम से भावाभिव्यक्ति की है। ये रूपक दृश्य-अदृश्य के प्रगाढ़ सम्बन्ध की अनुभूति की सांकेतिक व्यंजना करते हैं।

कबीर का प्रेम आत्मा का परमात्मा के प्रति पूर्ण समर्पण है, सृष्टि के कण-कण में कबीर ने अपने प्रियतम का साक्षात्कार किया है। कबीर के काल में बाजीगर का खेल लोक में बहुत प्रचलित था जो लोकजीवन में तरह-तरह के खेलों द्वारा जनसमाज का मनोरंजन

करता था। वह वन्य प्राणियों को (भालू बन्दर आदि) पशुओं को पालतू बनाकर उन्हें अनेक तरह के खेल सिखाता था व उसके बदले में जो रूपया-पैसा मिलता था उससे अपनी जीविका चलाता था। कबीर के काव्य में बाजीगर परमसत्ता का प्रतीक है और उसका खेल सांसारिक प्रपंचों का जिसने सबको ठग लिया परमसत्ता रूपी बाजीगर एक प्रकार से निर्माणकर्ता है, प्रभु की तरह जो लीला की सृष्टि करता है, और सारी सृष्टि उसके लिए तमाशा है।

परमसत्ता रूपी सत्य की प्रतीति कराने के लिए कबीर ने बाजीगर शिल्प से उपादान ग्रहण कर अनेक आध्यात्मिक अभिव्यंजनाएँ की हैं। बाजीगर दर्शक को भुलावे में डालकर अवास्तविक में भी सत्य की प्रतीति करा देता था। गाँव में आज भी जब इस तरह का खेल तमाशा दिखाने के लिए एक प्रकार का वाद्ययंत्र बजाया जाता है जिसे सुनकर लोग तमाशा देखने के लिए इकट्ठे हो जाते हैं। इस भाव की व्यंजना कबीर ने ब्रह्म की सृष्टिलीला के सन्दर्भ में इस साखी में की है।

4.4.1 डमरू से सम्बन्धित रूपक

बाजीगर डंक बजाई, सम खलक तमासे आई।

बाजीगर स्वांग सकेला, अपने रंग रबै अकेला।।¹

बाजीगर जिस प्रकार डंक (डमरू या डुगडुगी, बजाकर अपने चतुर्दिक तमाशा देखने वालों की भीड़ एकत्र कर लेता है, फिर अपनी अद्भुत कला को दिखाकर सभी को भ्रम में डाल देता है। और बाजीगर जब अपना खेल समेट लेता है। तो समस्त भीड़ चली जाती है और वह अकेला रह जाता है। जिस प्रकार उसके अद्भुत कारनामों को वह सत्य ही जानता है वैसे ही परमसत्ता रूपी बाजीगर की बाजीगरी को केवल वह ही जानता है और दूसरा कोई उसके रहस्य को जान नहीं पाया है।

1. कबीर ग्रन्थावली, 116 पद, पृ० 227

परन्तु यदि कोई विवेकी या सच्चा भक्त हो तो वह कठिन परिश्रम व साधना से उसे परमसत्ता के रहस्य को जान भी लेता है जैसा कि कबीर इन साखियों में अद्भुत करते हैं—

बाजी को बाजीगर जाँनै, कै बाजीगर का चेरा।
चेरा कबहूँ उझिक न देखै, चेरा अधिक चितेरा।।¹

इसमें संसार के लिए बाजी परमसत्ता के लिए बाजीगर उपमान ग्रहण कर कबीर का मत है कि संसाररूपी जो बाजी उस परमसत्ता रूपी बाजीगर ने बिछायी है उसे वही जानता है और कोई उस रहस्य को नहीं जान पाया है। कबीर का एक और रूपक द्रष्टव्य है जिसमें कबीर ने यह मत व्यक्त किया है कि उन्होंने परमसत्ता की बाजीगरी को जान लिया है —

अब हम जानिया हो, हरि बाजी का खेल।
डंक बजाय देखाय तमासा, बहुरि सो लेत सकेल।
हरिबाजी सुर नर मुनि जंहडे, माया चाटक लाया।
घर में डारि सकल भरमाया, हृदया ज्ञान न आया।
बाजी झूठ बाजीगर साँचा, साधुन की मति ऐसी।
कहै कबीर जिन जैसी समुझी, ताकी गति भई तैसी।²

इस पद में कबीर ने प्रभु की माया के लिए हरिबाजी देह के लिए हाट का रूपक लेकर माया का विवेचन किया है कि संसार प्रभु की माया का खेल है, जिस प्रकार बाजीगर डंक बजाकर तमाशा दिखाकर सारी सामग्री समेट लेता है वैसे ही प्रभु पूरे संसार को अपने में समेट लेते हैं।

प्रभु की माया के खेल से देवता, मनुष्य, मुनि सभी ठगे जाते हैं। माया रूपी बाजीगर ने अपना जादू का खेल पसारा है। उसने सभी देहाभिमान उत्पन्न करके सभी को भ्रम में डाल दिया है। कबीर का यह विश्वास है कि जिस प्रकार बाजीगर सत्य होता है, उसका खेल भ्रममात्र होता है, वैसे ही ईश्वर सत्य है, उसका यह खेल (संसार) मिथ्या है। कबीर

1. कबीर ग्रन्थावली, पद 238, पृ० 126

2. कबीर वाङ्मय (सबद) खण्ड-2, पद 18, पृ० 23, 24

कहते हैं कि जिन्होंने संसार को जैसा समझा है उनको वैसे ही गति प्राप्त होती है। जो आत्मा को संसार से अलग समझ लेते हैं वे मुक्त हो जाते हैं, जो देहाभिमान से अलग नहीं हो पाते, वे जन्म मरण के चक्कर में पड़े रहते हैं। और कबीर इस सत्य से अवगत हो चुके हैं कि ये संसार प्रभु का फैलाया हुआ माया का जाल है, क्षणिक है जैसा कि इस पंक्ति से स्पष्ट है।

4.4.2 पासे से सम्बन्धित रूपक

बाजीगर संसार कबीरा, जाँनि ढारौ पासा।¹

कबीर ने इस नश्वर संसार के माया-मोह को बाजीगर के अद्भुत कौतुक के समान आकर्षक किन्तु क्षणिक निरूपित किया है। ये क्षणिक संसार माया-मोह के पासों की भांति है, इससे बचने के लिए पुरुष को विवेकी होना चाहिए जो परमसत्ता की रहस्यमयी सृष्टि को समझ सके। क्योंकि परमसत्ता रूपी बाजीगर के हाथों में हम बाजीगर के बन्दर के समान हैं और वह हमें जैसे चाहता है वैसे नचाता है इस भाव की अभिव्यक्ति कबीर ने इस पंक्तियों में बहुत सशक्त रूप में की है यथा —

4.4.3 बन्दर से सम्बन्धित रूपक

“बाजीगर बन्दर करि राखै, ले जाय संग लगाई।”²

बाजीगर बन्दर के गले में डालकर अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहता है ले जाता है — उसी प्रकार माया या बाजीगर रूपी परमसत्ता मानव को लुभावने बंधन से बांध रखती है, पुरुष या जीव रूपी बन्दर उसकी रुचि के अनुसार ही गति करता है।

इसी प्रकार की दूसरी अभिव्यक्ति में कबीर ने कहा है कि —

“सकल बटोर करै बाजीगर, अपनी सुरति नचाया।”³

1. कबीर ग्रन्थावली, पद 240, पृ० 126

2. कबीर शब्दावली भाग-2, शब्द 15

3. कबीर शब्दावली भाग-3, मिश्रित 3

बाजीगर रूपी परम सत्ता अपनी इच्छानुसार बंदर से नृत्य कराकर दर्शकों का मनोरंजन करता है। कबीर कहते हैं कि जीव की सांस रूपी डोर परमसत्ता के हाथ में है और वह इसी के सहारे इच्छानुसार नचाता है और इसके माध्यम से कबीर ने यह शिक्षा देनी चाही है कि यदि जीव विवेकी नहीं है तो उसे इस संसार रूपी मायाजाल में फंसकर आशाओं की डोर द्वारा नाचने वाले बन्दर की भांति स्वाभिमान शून्य जीवन बिताने के लिए विवश होना पड़ेगा।

4.5 नटकला से सम्बन्धित रूपक

बाजीगर की तरह लोकजीवन का मनोरंजन करने वालों में नट-नटी का नाम प्रमुख है। ये विभिन्न प्रकार के वाद्य संगीतों के ज्ञाता होते थे, और बांस रस्सी के सहारे अपनी कला का प्रदर्शन कर जीविकोपार्जन करते थे। कबीर के काव्य में नट सिद्ध योगियों के रूप में आए हैं, जो अपने तमाशे से अज्ञानियों को भ्रम में डाल देते हैं और सांसारिक माया के खेल को कबीर ने नट की कला कहा है और इस शिल्प के माध्यम से कबीर ने अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की है।

ब्रह्म रूपी नट विविध व्यापारों द्वारा अपनी सत्ता सिद्ध करके नट के वेश से नृत्य करता है, यथा नट अपनी कला से बांस में बंधी तन्तु पर नृत्य करता हुआ दिखायी देता है, किन्तु वस्तुतः वह सत्य नहीं है कला मात्र है और उसे केवल विवेकनी बुद्धि वाला पुरुष ही समझ सकता है। जैसा कि प्रस्तुत पद से द्रष्टव्य है —

4.5.1 बहुरूपिया से सम्बन्धित रूपक

नाना रूप बरन यक कीन्हा, चारि बरन उन्ह काहु न चीन्हा।
 नष्ट गए करता नहिं चीन्हा, नष्ट गए औरहिं मन दीन्हा।
 नष्ट गए जिन्ह वेद बखाना, वेद पढ़ै पै भेद न जाना।
 विमलख करै नैन नहिं सूझा, भया अयान तब कछुवौ न बूझा।।
 नाना नाच नचाय के, नाचै नट के भेख।
 घट घट अविनासी बसै, सुनहु तकी तुम सेख॥¹

1. डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, रमैनी (63), पृ० 99

जिस प्रकार नटवर विभिन्न प्रकार की क्रियाओं द्वारा विभिन्न मुख मुद्राओं द्वारा लोगों का दिल बहलाता है। ठीक उसी प्रकार एक प्रभु ने अनेक प्रकार के रूप और वर्ण (रंग) की सृष्टि की परन्तु उस पर ब्रह्म को उसको चारों वर्णों (जातियों) में से कोई न पहचान सका। जिस ब्रह्म ने उसे बनाया उस स्रष्टा को वह जीव नहीं पहचान सका। वह नट (अभिनेता) के रूप में नाना प्रकार के शरीर धारण करते हुए, नाना प्रकार के शरीर को धारण करते हुए नाना प्रकार की भूमिकाओं का अभिनय करते हुए विद्यमान रहता है, परन्तु वह इन भूमिकाओं में से किसी में आसक्त नहीं होता है। वह प्रत्येक घट (शरीर) के भीतर सदा अविनाशी और अनासक्त रूप में विद्यमान रहता है उसी से चित्त का संयोग होने पर मार्मिक ज्ञान होता है।

इसी प्रकार के भाव एक अन्य साखी में प्रस्तुत है, जिसमें संसार की समस्त लीला नट की नट-सारी है और सृजक ब्रह्म रूपी नट ने इस सृष्टि की रचना की है। संसार के विविध वेश और रूप में वह एक ही सत्ता है लेकिन इसे कोई विरला विवेकी ही जान पाता है—

नटवर विधा खेल जो जानै, तेहिका गुन सो ठाकुर मानै।

उहै जु खेलै सब घट मांही, दूसर के लेखा कछु नाहीं।¹

इस रमैनी में नटवर का रूपक लेकर उसे परमसत्ता माना है। नटवर नट-कला में पारंगत होता है और विभिन्न प्रकार की नट-कला दिखाता है, अर्थात् विभिन्न भूमिकाओं का अभिनय करता रहता है। परम चेतन भी उस नटवर के समान है जो संसार में विभिन्न जीवों की भूमिकाओं का अभिनय करता रहता है। जो उसके खेल के रहस्य को जानता है, उसके गुण का वेत्ता स्वामी है अर्थात् सद्गुरु उसी को सबसे श्रेष्ठ मानते हैं।

वही परमचेतन सभी जीवों में नाना प्रकार से अभिनय करता रहता है, किसी दूसरे की उसमें गणना नहीं है। अच्छा या बुरा जो अवसर मिल जाए और किसी प्रकार से भी जो भक्त सद्गुरु को प्राप्त कर सके, वही पूर्णता को प्राप्त कर सकता है।

लेकिन इस पूर्णता को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन विद्या है, क्योंकि जो अन्तःकरण से प्रभुभक्ति नहीं करेगा उसे प्रभु के चरणों की प्राप्ति नहीं होगी।

4.5.2 रस्सी से सम्बन्धित रूपक

कबीर कठिनाई खरी, सुमिरताँ हरि नाम।
सूली ऊपरि नट विद्या, गिरूँत नाही ठाम॥¹

प्रस्तुत साखी की व्याख्या करते हुए डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह ने प्रभु के नाम स्मरण में अर्थात् वास्तविक भक्ति में अत्यन्त कठिनाई है और इस कठिनाई को नट की शूली के समान माना है 'शूली पर खेल' में अहं के विनाश की ओर संकेत हैं। इसी खेल का जो पूर्णरूप से निर्वाह नहीं कर पाता, वह भक्ति के चरम लक्ष्य से पतित हो जाता है।²

प्रो० पुष्पपाल सिंह ने भी हरिनाम स्मरण में कठिनाईयों की अतिशयता को माना है जो नट की उसी कुशलता के समान है, जो मृत्यु की सूली पर चढ़कर अपने आंगिक कौशल दिखाता है, यदि वह वहाँ से गिर भी जाय तो उसके बचने का उपाय नहीं। इसी प्रकार भक्ति-साधना से पथभ्रष्ट भक्त का भी रक्षक कोई नहीं क्योंकि उसके लोक व परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं।³

डॉ० भगवत स्वरूप मिश्र ने भी भगवान के नाम स्मरण में आने वाली कठिनाईयों को खाण्डे की धार पर चलने के समान बताया है। यह भी नट के सूली पर चढ़कर किए जाने वाले खेलों के समान है। इस सूली पर से गिरने पर जैसे नट के बचने की कोई आशा नहीं है, वैसे ही इस भक्ति-साधना से पथ-भ्रष्ट होने पर जीव के उत्थान का कोई मार्ग नहीं है।⁴

इस साखी में नटवर शिल्प की नट-विद्या से रूपक ग्रहण कर भक्ति मार्ग की कठिनाईयों का वर्णन किया है। नट अपनी नटकला में दो सिरों पर डंडा गाड़ता है और

1. कबीर ग्रन्थावली, सुमिरन कौ अंग, साखी 29, पृ० 6
2. कबीर वाङ्मय, खण्ड-3, सुमिरन कौ अंग, पृ० 29
3. कबीर ग्रन्थावली सटीक, सुमिरन कौ अंग, पृ० 92
4. कबीर ग्रन्थावली, सुमिरन कौ अंग, पृ० 18

उसमें रस्सी बाँध कर उस रस्सी पर चलता है। जिसमें यह भयावह स्थिति निरन्तर बनी रहती है कि वहाँ से गिरने पर उसका कोई सहारा नहीं, अर्थात् यह नट विद्या के मार्ग में बहुत कठिनाई है ठीक इसी प्रकार कबीर ने इस साखी में भक्ति की साधना की सबसे बड़ी कठिनाई की ओर संकेत किया है कि यों तो तन्त्र, हठयोग आदि की साधनाओं के समान भक्ति में आसन-प्राणायाम मुद्रा बन्ध आदि की यन्त्रणा नहीं है। ज्ञानयोग के समान प्रखर बुद्धि की भी भक्ति में आवश्यकता नहीं है। वरन् इन सबके अतिरिक्त भक्ति की सबसे बड़ी शर्त अहं का पूर्णरूपेण त्याग और खुदी का खात्मा।

केवल नाम जप वास्तविक भक्ति नहीं है। भक्ति नट के सूली पर खेलने के समान है। 'सूली पर खेल' में अहं के विनाश की ओर ही संकेत है। इस खेल में जो पूर्णरूप से निर्वाह नहीं कर पाता वह जीवन के चरम लक्ष्य से पतित हो जाता है।

जीवन के चरम लक्ष्य से व्यक्ति पतित न हो वह सही मार्ग पर चले सांसारिक मायामोह के बन्धन में न पड़े और वास्तविक सत्ता को पहचान सके इसके लिए कबीर ने नट-कला व बाजीगर शिल्प से सजीव रूपक ग्रहण कर अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों को जीवंत अभिव्यक्ति प्रदान की है। जो आज भी हमें दिशा दिखाती है व सचेत करती हुई प्रतीत होती है।

“बाजीगर के पश्चात् समाज में तिरस्कृत समझे जाने वाला शिल्प “कलाल” का था जो मदिरा बनाने का कार्य करता था। मदिरा बनाने व पीने वाले दोनों ही को समाज में सम्मानजनक स्थान प्राप्त नहीं था। परन्तु निकृष्ट समझे जानेवाले इस शिल्प के माध्यम से जैसी गम्भीर अभिव्यंजना कबीर ने की है वह सम्पूर्ण साहित्य में दुर्लभ है।

4.6 कलाल व्यवसाय से सम्बन्धित रूपक

मदिरा बनाने वाले को कलाल कहा जाता है। मदिरा का पान करना व बनाना दोनों ही निकृष्ट कोटि के कार्यों में आते हैं। कबीर ने इस तुच्छ समझे जाने वाले कर्म को अपनी आध्यात्मिक भावभूमि का आधार बनाया है। प्रस्तुत प्रकरण में वो रूपक उठाए गए हैं जिनमें

कलाल शिल्प के उपादान व प्रक्रिया के माध्यम से गम्भीर ईश्वरीय अनुभूतियाँ प्रस्तुत हुई हैं यथा –

4.6.1 मदिरा से सम्बन्धित रूपक

कबीर को आध्यात्मिक रस की अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए मदिरा पान से अधिक उपयुक्त और कोई उपमान नहीं मिलता। कबीर ने एक नहीं अनेक स्थानों पर मदिरा पान और उसके सन्दर्भों के माध्यम से आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति की है अब हम कबीर काव्य से कुछ ऐसे रूपकों को लेंगे –

छाकि परयो आतम मतिवारा। पियत रॉम रस करत बिचारा।।
 बहुत मोलि मँहगे गुड़ पावा, लै कसाव रस रॉम चुवावा।
 तन पाटन मैं कीन्ह पसारा, माँगि माँगि रस पिए बिचारा।
 कहै कबीर फाबी मतिवारी, पियत राम रस लागी खुमारी।।¹

प्रस्तुत पद में कबीर का मत है कि बड़ी कीमत चुकाकर भक्ति रूपी गुड़ की प्राप्ति हुई। साधना रूपी कषाय से मैंने उसमें से रामरस टपकाया। राम-रस रूपी वारूणी का प्रसार सारे तन में ऊपर से नीचे तक हो गया, फिर भी साधक उससे अघाता नहीं और बार-बार उसे पीने की इच्छा प्रकट करता है। कबीर कहते हैं कि उस रसास्वाद का उद्रेक बहुत प्रिय है, जिसे पाकर आत्मा तृप्त हो गयी।

प्रस्तुत पद द्वारा मदिरा निर्माण की प्रक्रिया से कबीर ने अपने रूपक की संरचना की है। इस रूपक में मदिरा पीने के बाद की तृप्ति की अवस्था को आत्मा की तृप्ति से जोड़ा गया है। जिस प्रकार मदिरा के पान द्वारा भोगी मस्त हो जाता है। आध्यात्मिक रस रूप मदिरा में डूब जाने के बाद साधक की भी वही दशा होती है। मदिरा के लिए मूल्य चुकाना पड़ता है, आध्यात्मिक भक्ति की प्राप्ति स्वयं के समर्पण के पश्चात् होती है। आध्यात्मिक

1. कबीर वाङ्मय, सबद (खण्ड-2), पद 108, पृ० 135

मदिरा के रस में साधक अपने में रम जाता है, आत्माराम हो जाता है वह बाहरी संसार से विरक्त होकर अनुभूति खुमारी में डूबा रहता है।

इसी भावभूमि पर कबीर की एक अन्य साखी द्रष्टव्य है —

राम रसाइन प्रेम रस पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवण दुलभ है, माँगे सीस कलाल।¹

प्रस्तुत साखी प्रेम को उस रसायन के रूप में प्राप्त करती है जो देहात्म भाव को स्वरूप भाव में परिणित कर देता है, यह पीने में मधुर व स्वादिष्ट अवश्य होता है परन्तु इसका पीना कठिन है क्योंकि इसको पिलाने वाला कलावार अर्थात् गुरु मूल्य रूप में आपा का विनाश चाहता है।

कबीर के अनुसार प्रेमरूपी रसायन मानव में आमूल परिवर्तन करके नवजीवन का संचार करने वाली मदिरा के समान है। गुरु रूपी कलाल के समक्ष जब तक जीव अपने अहंकार एवं अपने सम्पूर्ण जीवन का समर्पण नहीं करता है, तब तक वह इस प्रेम रस का पान नहीं कर सकता।

प्रस्तुत साखी में निहित रूपक से यही व्यंजना होती है कि कलावार परब्रह्म है जो अपना मूल्य चाहता है, उसका मूल्य है अहंकार का नाश और उसका प्रतिमूल्य है मुक्ति।

4.6.2 शराब की भट्ठी से सम्बन्धित रूपक

कबीर भाठी कलाल की, बहुतक बैठे आइ।
सिर सौँपै सोई पिवै, नहीं तौ पिया न जाइ।²

कलाल रूपी गुरु (मदिरा बनाने वाला) की भट्ठी पर बहुत से पियक्कड़ रूपी शिष्य आकर बैठ गए हैं पर शर्त इसको पाने को फिर वही है कि अहंकार रूपी सर कलार को सौपने के बाद ही प्रेमानुभूति अथवा भक्ति का रस प्राप्त हो पाएगा। जो साधक अपने अहंकार

1. कबीर ग्रन्थावली, रस कौ अंग (6), साखी 2, पृ० 13

2. कबीर ग्रन्थावली, रस कौ अंग 6, साखी 3, पृ० 13

को समाप्त कर भगवद्भक्ति में अपने को रमाता है, वह विरला भक्त ही इस भक्ति रस का सेवन कर पाता है।

मदिरा बनाने में प्रयुक्त समस्त सामग्री व प्रक्रिया से सम्बन्धित रूपक

है कोई संत सहज सुख अंतरि, जाकौ जप तप देउ दलाली।
 एक बूंद भरि देइ राम रस, ज्यौ महु देइ कलाली॥टेक॥
 काया कलाली लाहनि मेलेऊँ, गुरु का सबद गुड़ कीन्हा।
 त्रिस्नां काम क्रोध मद मतसर, काटि काटि कस दीन्हा।
 भवन चतुरदस भाठी पुरइ ब्रह्म अग्नि परजारी।
 मुद्रा मदन सहज धुनि लागी, सुखमन पोतनहारी॥
 नीझर झरै अमीरस निकसै, इहि मद रावल छाका।
 कहै कबीर यहु बा विकट अति, ग्यौन गुरु लै बांका॥¹

मदिरा 'गुड' से तैयार होती है व उसमें खमीर उठाने के लिए जो पदार्थ डाला जाता है उसे लाखन कहते हैं, उसमें तीखापन लाने के लिए जो पदार्थ डाला जाता है उसे 'कस' कहते हैं। शराब तैयार करने के लिए एक भाटी या भट्ठी तैयार की जाती है। जिसमें ईंधन द्वारा आग प्रज्वलित की जाती है। उस माटी के ऊपर भभका रखा जाता है, उसमें मदिरा बनाने की सामग्री रहती है, उस भभके के मुख को कार्क से बंद कर देते हैं। कार्क में एक छिद्र रहता है जिसमें एक नली लगाते हैं। कार्क के छिद्र को पूरी तरह बंद करने के लिए नली के चारों ओर मोम लगा देते हैं जिससे भाप बाहर न निकल सके। नली के ऊपर एक गीला कपडा लपेटते हैं और उसे पानी से भिगोते रहते हैं जिससे भभके से निकलने वाली भाप शीतल द्रव्य बनकर नली के नीचे रखे हुए पात्र में मद्य के रूप में गिरती रहती है।

कबीर मदिरा तैयार करने की इस प्रक्रिया से अध्यात्म साधना का रूपक निर्माण करते हैं वे कहते हैं कि मदिरा रूपी राम रस को तैयार करने के लिए मैं कलाली को लाइन के रूप में अपनी काया को देने को प्रस्तुत हूँ। उसमें गुरु के शब्दों को गुड के रूप में डालूँगा।

अपने भीतर विद्यमान तृष्णा, काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि विकारों को मैं कस के रूप में डालूँगा। शरीर में विद्यमान स्थूल-सूक्ष्म कोषों से भाठी निर्मित करूँगा और ब्रह्मज्ञान रूपी अग्नि से उस भट्ठी को प्रज्वलित करूँगा। प्रेमरूपी मोम से भपके को अच्छी तरह बंद कर दूँगा। सुष्मुना नाडी में अनाहत नाद की सहज ध्वनि उत्पन्न होते ही भीतर कपाल कुहर के झरने से अमृत रस झरेगा। इस मदिरा की गंध इतनी तीक्ष्ण है कि कोई विरला ज्ञान सिद्ध पुरुष ही इस मदिरा को सहन करने की क्षमता रखता है। इस रूपक की व्यंजना स्पष्ट करते हुए डॉ० भगवत स्वरूप मिश्र के शब्दों में – कलाली जिस प्रकार मदिरा का प्याला भर देता है, वैसे ही यह संत भक्ति, ज्ञान और ध्यान के समन्वित रूप के महारस की एक बूँद ही दे दे और इस रस की दलाली में जप-तप आदि की सम्पूर्ण कृच्छ्र साधनाएँ देने के लिए कबीर तत्पर हैं। इस मदिरा-पान के लिए काया रूपी कलश के संयम की लाक्षा से बन्द करने व काम, क्रोध, मद मत्सर आदि को काट-काट कर ईधन के स्थान पर काम में लूँगा। सम्पूर्ण चौदह भुवनों को भट्ठी बनाकर ज्ञानरूपी अग्नि अथवा चाण्डाग्नि से इसे प्रज्वलित करूँगा। कामदेव को डाट लगाकर इस मदिरा के कलश के छिद्रों को बन्द कर दूँगा। तब इस कलश में उबाल की ध्वनि के रूप में सहज ध्वनि या अनाहत नाद सुनाई पड़ने लगेगा। कायायोग से प्राप्त आनन्द तो क्षणिक ही होता है अतः ज्ञान, ध्यान और भक्ति के महारस को प्राप्त करना ही कबीर ने जीवन का लक्ष्य माना है।¹

इस प्रकार कबीर का यह रूपक सहस्रार से झरते हुए अमृत रस के पान करने का चित्र अंकित करता है। कलाल द्वारा मदिरा बनाने के लिए जलाई गई अग्नि को ब्रह्म अग्नि का रूप देकर आध्यात्मिक मदिरा अथवा महारस की अनुभूति को मुक्ति एवं भगवद् भक्ति का वास्तविक साधन और साध्य बताया है।

अप्रस्तुत विधान के रूप में मदिरापान का लौकिक स्वरूप भी जीवंत हो उठा है। ऐसे रूपकों के साधना व साध्य को देखकर ही डॉ० यतीन्द्र लिखते हैं – “संत कबीर ने व्यक्ति

और समाज के अन्तः में व्याप्त द्वैत भाव नष्ट करके अद्वैत की स्थापना परमात्मा और जीवात्मा की एकता स्थापित कर अद्वैत भक्ति के आलौकिक आनन्द को लौकिक आनन्द में परिवर्तित कर जो भक्ति योग का मार्ग प्रशस्त किया उसी पर चलकर हरि रस का आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। वह हरिरस आनन्द जिसे प्राप्त कर सारी थकान क्षण-भर में गायब हो जाती है और यही अनुभव होने लगता है कि जो पाना था पा लिया।¹

कबीर ने एक नहीं अनेक स्थानों पर योग साधना द्वारा आध्यात्मिक अनुभूति की प्राप्ति और इसके आनन्द की अभिव्यक्ति के लिए मदिरा निर्माण की प्रक्रिया से रूपक की संरचना की है। यथा —

कोई पीवै रे रस रॉम नॉम का, जो पीवै सो जोगी रे।
 संतौ सेवा करौ रॉम की, ओर न दूजा भोगी रे।।टेक।।
 यह रस तौ सब फीका भया, ब्रह्म अग्नि परजारी रे।
 ईश्वर गौरी पीवन लागे, राम तनीं मतिवारी रे।
 चंद सूर दोइ भाठी कीन्हीं, सुषमन चिगवा लागी रे।
 अमृत कूँ पी सॉचा पुरया, मेरी तृष्णां भागी रे।
 यह रस पीवै गूँगा गहिला, ताकी कोई न बूझे सार रे।
 कहै कबीर महारस मँहगा, कोई पीवेगा पीवनहार रे।।²

ब्रह्माग्नि प्रज्वलित होने पर अर्थात् चित्त स्वरूप का अनुभव होने पर रामरस का आनन्द मिलता है। इसके लिए इड़ा-पिंगला की भट्ठी द्वारा सुष्मुना की नलिका से राम रस टपकाया जाता है जिसे पीकर जीव की सारी तृष्णा समाप्त हो जाती है।

इस पद में कलाल के मदिरा बनाने के रूपक द्वारा आध्यात्मिक अभिव्यक्ति हुई है। कलाल मदिरा बनाने के लिए सर्वप्रथम भट्ठी जलाता है व उसमें अग्नि प्रज्वलित करता है। दो पात्र या बर्तन लेकर एक बर्तन को, अग्नि पर चढ़ाता है वो पात्र नलिका द्वारा दूसरे बर्तन से जुड़ा होता है। दो बर्तनों के आपस में जुड़े होने के कारण बाहर की वायु अन्दर नहीं आ

1. डॉ० यतीन्द्र तिवारी, कबीर की भक्ति साधना, पृ० 7

2. कबीर वाङ्मय, सबद (87) पदावली, पृ० 109

पाती। भट्ठी के ऊपर रखे पात्र में जब पदार्थ खोलता है तो उसके बर्तन के ऊपर पुचारा देते हैं जिससे पदार्थ नली के माध्यम से दूसरे पात्र में ठंडा होकर गिरता है। इसी प्रकार योग में शरीर संरचना और मानसिक संरचना का समन्वय होता है। चित्त-वृत्तियों के निरोध को योग कहा जाता है। मनोभूमि की दो दिशाएँ होती हैं। इड़ा आध्यात्मिक मनोभूमि का आधार देती हैं और पिंगला लौकिक मनोभूमि का आधार देती है। मनुष्य के मेरुदण्ड के मूल में स्थिति सुष्मुना नाडी रूपी नलिका में साधक ने साधना प्रक्रिया द्वारा राम रस एकत्रित किया और इस मदिरा बनाने की पूरी प्रक्रिया के बाद मदिरा पीकर व्यक्ति स्वयं को तृप्त अनुभव करता है। वैसे ही सम्पूर्ण साधना-प्रक्रिया को अपनाने के बाद साधक की भी वही दशा होती है, और कबीर के कलाल का यह रूपक सार्थक हो जाता है। मदिरा पान के बाद शराबी मस्त हो जाता है, साधक भी जब लौकिक मनोभूमि में आध्यात्मिक मनोभूमि का आस्वादन करता है तब वह परमानन्द की अवस्था को प्राप्त करता है।

योग साधना और उसकी अनुभूति की अभिव्यंजना करने वाला कबीर का एक और रूपक देखिए —

बोलौ भाई रॉम की दुहाई।
 इहि रसि सिव सनकादिक माते, पीवत अजहूँ न अघाई।।टेक।।
 इला पिंगला भाठी कीन्हीं, ब्रह्म अगनि परजारी।
 ससिहर सूर द्वार दस मुँदे, लागी जोग जुग तारी।।
 मन मतवाला पिए रॉम रस, दूजा कछु न सुहाई।
 उलटी गग नीर बहि आया, अमृत धार चुवाई।।
 पंच जन सो संग करि लीन्हे, चलत खुमारी लागी।
 प्रेम पियालै पीवन लागै, सोवत नागिनी जागी।।
 सहज सुनि मैं जिनि रस चाखा, सतगुरु तै सुधि पाई।
 दास कबीर इहि रसि माता, कबहूँ उछकि न जाई।।¹

रामरस की तैयारी के लिए इडा पिंगला की भट्ठी बनाई और उसे ज्ञानाग्नि से प्रज्वलित किया। चन्द्र और सूर्य अर्थात् इडा पिंगला नाडियों में प्राण और अपान की गति बंद हो गयी। शरीर के दसों छिद्र से पवन का प्रवाह भी बंद हो गया और समाधि लग गई। गंगा का जल उलटा बहने लगा अर्थात् कुण्डलिनी के जागरण से चेतना का प्रवाह ऊर्ध्वमुखी हो गया और ब्रह्मरन्ध्र से अमृतधार टपकने लगी। चित्त के साथ पॉचों ज्ञानेन्द्रियों आनंद भोग व अमृत वारुणी के नशे में मस्त है।

कबीर यहाँ जिस आध्यात्मिक राम रस की बात करते हैं। सादृश्य के आधार पर मदिरा की मादकता से ही उसकी अनुभूति पाठक को कराई जा सकती है। मदिरा एक ऐसा लोक सामान्य का द्रव्य है जिसकी प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष अनुभूति सामान्य जन को होती है। मदिरा निर्माण की प्रक्रिया भी ऐसी जटिल और मनुष्य की संरचना से मिली हुई है कि योग की सारी शब्दावली उसके साथ संगत बैठती है। यही कारण है कि कबीर का आकर्षण उस रूपक संरचना के प्रति अधिक दिखाई देता है। कबीर साधक और आध्यात्मिक थे। मदिरा खींचने की प्रक्रिया के रूपक द्वारा हठयोगी साधना से ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग बताते हैं कि मन प्रभु भक्ति में मदमस्त हैं, वह उन्मनी अवस्था द्वारा शून्य में पहुँच कर अमृत का पान करता है। इस महारस के पान से जीव को प्रत्येक लोक का ज्ञान प्राप्त है इसी आध्यात्मिक भाव को कबीर ने कलाल या कलावार के द्वारा मदिरा बनाने की प्रक्रिया को साधना की प्रक्रिया से जोड़ते हुए उपर्युक्त पद्यों की सशक्त रचना की है।

4.6.3 मदिरा के प्रभाव से सम्बन्धित रूपक

अवधू मेरा मन मतिवारा।

उनमनि चढा मगन रस पीवै, त्रिभुवन भया उजिआरा।

गुड करि ग्यांन ध्यांन कर महुवा, भव भाठी करि भारा।

सुषमन नारी सहज समौनी, पीवै पीवन हारा।

दोइ पुड जोरि चिगाई भाठी, चुआ महारस भारी।

काम क्रोध दोइ किया बलीता, छूटि गई संसारी।

सुनि मंडल मैं मँदला बाजै, तहाँ मेरा मन नाचै।
 गुरु प्रसादि अमृत फल पाया, सहजि सुषमुनां बुझानी।
 कहै कबीर भव बंधन छूटै, जोतिहि जोति समानी॥¹

ज्ञान रूपी गुड़ तथा ध्यान रूपी महुआ से संसार रूपी भट्ठी में इस मदिरा का निर्माण हुआ है। सुषम्ना नाड़ी इस रस को चुवाने की नाली है अथवा पिलाने वाली नारी है। यह सहज में समाहित होकर इस साधक जीव को इस महारस का पान करा रही है। लोक और परलोक दोनों को मिलाकर तैयार किए गए घर को भट्ठी पर चढ़ाकर उससे रस चुआया गया है। इस भट्ठी में काम क्रोध का ईंधन दिया गया है। वासनाएँ इस रस से नष्ट हो गयी हैं। अब शून्य मण्डल में मादल की ध्वनि सुनाई देने लगी है और जीव का मन उस ध्वनि में मस्त होकर नाचने लगा है। इस महारस के पान ने परमतत्त्व से तदाकारता स्थापित कर दी है।

डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह ने प्रस्तुत पद का अर्थ मदिरा बनाने की प्रक्रिया के रूपक द्वारा ब्रह्मानुभूति के सन्दर्भ में किया है। इसके निर्माण में ज्ञान का गुड़ व ध्यान का महुआ डाला गया है तथा विषय—वासनाओं की भट्ठी बनाई गई है। काम क्रोध का पलीता लगाकर अग्नि को प्रज्वलित किया। सुषुम्ना नाड़ी सहज में लीन हो गई और साधक छककर इस मदिरा का पान कर रहा है। डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह ने मानव के भीतर एक दिव्य चेतना मानी है जो 'सहज' है — वह जीवन के साथ विद्यमान रहती है। किन्तु जीव का उससे सम्पर्क नहीं हो पाता। मेरुदण्ड के भीतर सुषुम्ना नाड़ी के जागरण पर कुण्डलिनी उत्थित होकर इसी राजपथ से सहस्रार तक पहुँच जाती है। यही जीव और शिव का मिलन है। भागवती चेतना में डूबकर ही जीव अपना पृथक अस्तित्व खो देता है। डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह ने इसी खोने में पाने का उल्लेख मदिरा के रूपक द्वारा किया है।

1. डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, कबीर वाङ्मय, पद 35, पृ० 46

प्र० पुष्पपाल सिंह भी मदिरा खींचने की विधि द्वारा महारस की प्राप्ति बतायी है कि ज्ञान को गुड़ ध्यान को महुआ अथवा जौ बनाकर संसार को ही अपनी भट्ठी बना लिया। इस भट्ठी में अग्नि प्रज्वलित करने के लिए काम व क्रोध का पलीता बना दिया एवं इंडा पिंगला का समन्वय कर इस भट्ठी को तैयार किया। इस साज के पूरा होने पर अमृत का स्रवण होने लगा। सुषुम्ना नाड़ी सहजावस्था में पहुँच गई और इस प्रकार जीव महारस का पान कर पाया।¹

इस पद में कबीर ने मदिरा बनाने की प्रक्रिया के रूपक द्वारा ब्रह्मानुभूति की अवस्था का वर्णन किया है कि मदिरा बनाने के लिए भट्ठी बनाई जाती है उसी प्रकार रामरस रूपी मदिरा बनाने के लिए इस सांसारिक विषय-वासनाओं की भट्ठी बनाई गई है और जिस प्रकार मदिरा को गुणकारी बनाने के लिए सुगन्धित अर्क डाले जाते हैं इस रस के निर्माण में गुड़ रूपी ज्ञान व महुआ रूपी ध्यान डाला गया है जिस प्रकार दो मदिरा पात्रों को एक नली से जोड़ा जाता है उसी प्रकार इंडा-पिंगला में बहने वाले प्राण व अपान को समन्वित करके भट्ठी तैयार की काम और क्रोध का पलीता लगाकर अग्नि को प्रज्वलित किया। सुषुम्ना नाड़ी सहज में लीन हो गई अर्थात् गुरु की कृपा से अमृतरूपी महारस की प्राप्ति होना या पूर्ण का साक्षात्कार होना अर्थात् जिस प्रकार शराबी शराब पीने के बाद मस्त हो जाता है उसे असीम आनन्द की प्राप्ति होती है उसी प्रकार भव बन्धन के समाप्त होते ही जीवात्म रूपी ज्योति परम ज्योति में लीन हो गई।

कबीर ने आध्यात्मिक आनन्द की अभिव्यक्ति के लिए मदिरा के रूपक को अत्यधिक प्रयुक्त किया है। मदिरापान से आने वाले नशे की तुलना आध्यात्मिक मस्ती से की है, आध्यात्मिक महारस के माध्यम से लौकिक मदिरा का उल्लेख किया है साथ ही हठयोग की साधना से किस प्रकार अमृतत्व प्राप्त किया जा सकता है, इसकी तुलना लौकिक मदिरा चुआने की प्रक्रियाओं से की है।

1. प्र० पुष्पपाल सिंह, कबीर ग्रन्थावली सटीक, पद 62 45, 334

इस सन्दर्भ में डॉ० आर्या प्रसाद के कथन के साथ कलाल शिल्प सम्बन्धी विवेचन भी समाप्त करती हूँ कि रस का पान करने वाला साधक झूमता नहीं है, उसे अद्भुत मधुरता की प्रतीति होती है और यदि वह नशे में मदमस्त होकर झूम कर गिरता भी है तो प्रभु के अंक में गिरता है जबकि सामान्य जन शराब को पीकर गन्दी नालियों में गिरते हैं।¹

इसी क्रम में आगे बढ़ते हुए कलाल शिल्प की भांति समाज में 'लोहार' शिल्प भी प्रचलन में था व कबीर ने इस शिल्प को बहुत गहराई के साथ अपनी अनुभूतियों से जोड़ा है। जिसका विशद वर्णन आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

4.7 लोहार से सम्बन्धित रूपक

डॉ० सूर्य प्रसाद दीक्षित के इस कथन से मैं पूर्णतया सहमत हूँ कि – “संत कबीर ने हिन्दी कविता में श्रमिक साधुता की नींव डाली कुबिंद कर्म और कवि कर्म के साथ-साथ।”²

हम देख चुके हैं कि कबीर के काव्य रूपकों के निर्माण में बढ़ई, कलाल, कुम्हार, धोबी आदि शिल्पियों के शिल्प व्यापार की अहम् भूमिका है। कबीर की दृष्टि जिस तरह से शिल्प व्यापार के साथ एकाकार होकर चलती है वह उनके लोहार (लोहकार) के जीवन सम्बन्धी रूपक में देखी जा सकती है।

कबीर ने लोहार के शिल्प व्यवसाय को देखा था। लोहार लोहे को तपाता, गलाता, पीटता व गढ़ता है। गरम लोहे को लोहार आवश्यकतानुसार मोड़ता या ढालता है क्योंकि ठंडा होने पर यह संभव नहीं इस पूरी प्रक्रिया को आत्मसात् कर कबीर ने लोहार शिल्प की विविध प्रक्रियाओं को उठाकर अपने काव्य रूपक की संरचना करते हुए अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों को स्वर दिया है। अब हम कबीर के काव्य में लोहार शिल्प से सम्बन्धित कतिपय रूपकों पर दृष्टिपात करेंगे।

1. डॉ० आर्याप्रसाद त्रिपाठी, कबीर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 413

2. डॉ० सूर्यप्रसाद दीक्षित, संत कबीर की जनवादी रणनीति, पृ० 26

4.7.1 निहाई से सम्बन्धित रूपक

कबीर केवल राम की, तू जिनि छाड़ै ओट ।
घण अहरणि बिचि लोह ज्यूँ, घणी सहै सिरी चोट ॥¹

प्रस्तुत रूपक लौह पीटने की प्रक्रिया से जीव की सांसारिक स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। लौह को जीवात्मा व हथौड को सांसारिकता के रूप में लेते हुए कबीर कहते हैं कि एकमात्र परमसत्ता ही सत्य है। उसके आश्रय में ही इस जीवन की सार्थकता है। परमसत्ता के आश्रय के बिना जीव उसी प्रकार चोट खाता रहेगा जिस प्रकार निहाई पर रखे हुए लौह पर भारी हथौडे की निरन्तर चोटे पड़ती हैं। निरन्तर चोट सहने के बाद लोहा सीधा व सपाट हो जाता है उसके बाद लोहार को लौह को तपाने के लिए भट्ठी जलानी पड़ती है। भट्ठी जलाने के लिए कोयले की आवश्यकता पड़ती है। कबीर ने 'कोयले' जैसे सूक्ष्म उपादान को लेकर बहुत गूढ़ अभिव्यंजना प्रस्तुत साखी में की है।

4.7.2 कोयले से सम्बन्धित रूपक

दौं की दाधी लाकडी ठाढी करे पुकार ।
मति बसि पडौ लुहार कै, जलौ दूजी बार ॥²

कर्माग्नि के लिए लुहार की भट्ठी का रूपक ग्रहण करते हुए कबीर का कथन है कि सांसारिक तापों से दग्ध जीवात्मा कर्माग्नि से भयभीत है। लकड़ी एक बार जलकर जब कोयला बनती है तो उसका प्रयोग दोबारा नहीं होता। इसी प्रकार जीवात्मा रूपी लकड़ी भी इस सांसारिक अग्नि में जलने के पश्चात् अब इस संसार रूपी भट्ठी में नहीं आना चाहती।

इसी भाव का निरूपण करते हुए कबीर का एक और रूपक द्रष्टव्य है —

4.7.3 तप्त लोहे से सम्बन्धित रूपक

सतगुर सौंचा सूरिवाँ, ताते लोहिं लुहार ।
कसणी दे कंचल किया, ताई लिया ततसार ॥³

1 कबीर ग्रन्थावली, चितावडी को अग, साखी 51, पृ० 20

2 कबीर ग्रन्थावली, काल कौ अग, साखी 10, पृ० 57

3 कबीर ग्रन्थावली, गुरुदेव कौ अग, साखी 28, पृ० 43

प्रस्तुत रूपक लौह शिल्प की प्रक्रिया के माध्यम से आध्यात्मिक साधना में गुरु की महत्ता और दीक्षा प्रक्रिया की व्यंजना करता है। लौह की शुद्धिकरण की प्रक्रिया शिष्य के शुद्धीकरण की व्यंजना करती है। लुहार कसाव का पुट लगाकर अर्थात् कसनी लगाकर उसे तप्त लौह में डालकर उसे योग्य बना देता है। आध्यात्मिक साधना में लोहार रूपी गुरु भी अपने शिष्य को ज्ञान की अग्नि में तपाकर उसके सारभूत अंश की उसके वास्तविक स्वरूप को माया के विजातीय तत्त्व से पृथक कर देता है, और साधक भी स्वयं को साधना की अग्नि में तपाकर स्वरूप प्रदान करता है।

कबीर लोहार शिल्प की चेतना से इस तरह एकाकार हो गए हैं कि उनकी आध्यात्मिक अनुभूति इससे सम्बन्धित रूपकों के माध्यम से पूरी चेतना के साथ अभिव्यक्त होती है। एक ओर रूपक देखिए –

ज्युँ मन मेरा तुझ सौँ यौँ जे तेरा होइ।
ताता लोहा यौँ मिलै, संधि न लखई कोइ।।¹

कबीर का मन प्रभु में अनुरक्त है, उनकी धारणा है यदि प्रभु का मन भी कबीर को अपनाने को तैयार हो तो व्यक्ति और समष्टि मन एकाकार हो सकते हैं। कबीर अपनी इस भावना और धारणा को लौह के गर्म टुकड़ों को जोड़ने की स्थिति से व्यंजित करते हैं। भट्ठी में लौह का टुकड़ा तपकर दूसरे तप्त टुकड़े को साथ मिलकर ही अछेद और अभेद भाव से जुड़ता है। वह जोड़ ऐसा होता है कि उस सन्धि को कोई पहचान नहीं सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे दोनों एक ही टुकड़े हों। कबीर की जीव भाव और परमात्म भाव के एकाकार होने की साधना स्थिति के सम्बन्ध में यही अनुभूति है। कबीर का मानना है कि जीव भी प्रभु में अनुरक्त होकर साधना रूपी अग्नि में स्वयं को तपाता है जिससे प्रभु उस जीव को उसी प्रकार अपना ले जैसे लोहा लोहे से जुड़ता है यह अद्वैत की स्थिति है। अद्वैत के भाव बोध की इससे सटीक व्यंजना और क्या हो सकती है।

1. कबीर ग्रन्थावली, विनती कौ अंग, साखी 7, पृ० 67

ये ही ऐसे रूपक हैं जो कबीर की कवित्व शक्ति से अभिभूत कर देते हैं। श्रेष्ठ कवि वही होता है जो अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए अपने साधारण परिवेश से ही उपादान जुटा सके।

4.7.4 लोहार शिल्प से गृहीत कतिपय अन्य उपादान और रूपक संरचना

कबीर ने लोहार शिल्प की स्थितियों से जीवन की विभिन्न स्थितियों की भी व्यंजना की है। जीवन चेतना ही आत्मा की स्वीकृति है। इसी अनुभूति को कबीर के इस रूपक में देखा जा सकता है —

धवणि धंवती रहि गई, बुझि गए अंगार।
अहरणि रहया ठमूकड़ा, जब उठि चले लुहार।।¹

जब तक लोहार बैठा काम करता रहता है, तब तक उसकी धौंकनी चालू रहती है। अंगारे जाज्वल्यमान रहते हैं, और उसकी निहाई पर लौह का घन चलता रहता है।

उपर्युक्त रूपक में शरीर से आत्मा के विलग होने का चित्रण है। 'लुहार' जीवात्मा का 'धवणि' प्राणवायु का अंगार शरीर के चैतन्य का तथा 'ठमूकड़ा अहरणि' कूटस्थ चैतन्य का प्रतीक है। जीवात्मा के सारे कार्य प्राणवायु के सहारे कूटस्थ चैतन्य के आश्रय पर चलते हैं।

लोहार रूपी जीवात्मा के शरीर में रहते हुए श्वास-प्रश्वास रूपी धौंकनी चलती रहती है, उसके भीतर जीवन-तत्त्व रूपी अंगारे की उष्णता बनी रहती है, लेकिन जब जीवात्मा इस शरीर को छोड़कर प्रमाण करता है तब श्वास रूपी धौंकनी हवा देते देते बंद हो जाती है और जीवन-तत्त्व की गर्मी समाप्त हो जाती है और शरीर क्रियाशून्य हो जाता है। यह रूपक जीवन की इसी क्षणभंगुरता की ओर संकेत करता है।

लोहार को अपने उद्योग के लिए भट्ठी, कोयला, धौंकनी, निहाई या अहरन, हथौड़ा, फूंकनी और जल की आवश्यकता पड़ती है। कबीर ने इन समस्त उपादानों का प्रयोग अपने अध्यात्मपरक रूपकों की संरचना में किया है।

1. कबीर ग्रन्थावली, काल कौ अंग, साखी 21, पृ० 59

लोहार शिल्प के अधिकांश उपादानों से निर्मित हुए रूपक को देखिए —

अस कोइ मनहि लोह सम तावै।
 करम जोरि के कोइला करि दे, ब्रह्म अग्नि परचावै।
 ताप तूप के निर्मल करि ले, सील के नीर बुझावै।
 इतनी जोरि जुगत करि लावै, लगन लुहार कहावै।
 ज्ञान विवेक जतन से करि ले जा विधि अजर झरावै।
 सुरति निरति की सडसी करि ले, जुगत निहाई जमावै।
 नाम हथौडा दृढ करि मारै, करम की रेख मिटावै।
 पाँच आत्मा दृढ हरि राखै, यौं करि मन समुझावै।
 कहै कबीर सुनो भई साधो, भूला अर्थ लगावै।¹

उपरोक्त पद में कबीर ने मन के लिए लोहा, कर्म के लिए कोयला, ब्रह्म के लिए अग्नि, प्रभुनाम के लिए हथौडा, सुरति-निरति के लिए सडसी, उपादान ग्रहण कर सहज साधना पद्धति को कबीर ने सुन्दर रूप में समझाया है कि — लोहार पहले लोहे को तपाता है (अग्नि में) फिर उसे जल में धोकर स्वच्छ करता है और निहाई की प्रक्रिया में सडसी हथौडा आदि साधनों का उपयोग करता है, इस कठिन प्रक्रिया के बाद वह उस लौह को मनचाहा स्वरूप प्रदान कर सकता है। साधक भी जब अपने मन रूपी लौह को साधना की अग्नि में प्रज्वलित करता है ओर अपने समस्त प्रकार के कर्मों (संचित, क्रियमाण, प्रारब्ध) को ब्रह्मज्ञान की अग्नि में भस्मसात् कर देता है, तब उसे ब्रह्माग्नि के ताप से शुद्ध मन को पुनः शील व सदाचरण रूपी जल से शीतल करता है। पुनः उसे मन रूपी लोहे को मनचाहा रूप (उन्मन) प्रदान करने के लिए सुरति व निरति की सडसी से सुरति शब्द योग की निहाई या भट्ठी में जब राम नाम रूपी हथौडे से पीट-पीटकर अपने संचित कर्मों को जीव पूर्णतया नष्ट कर दे तभी साधक अपने मन को वास्तविक उन्मन दशा तक पहुँच सकता है। इन कर्मों को करने के पश्चात् वह मन को नियन्त्रण में रखने वाला जीव सच्चा साधक या लोहार कहलाने योग्य बन पाता है।

जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं कि कबीर ने अपने समय के प्रचलित विभिन्न शिल्पों से अपने रूपकों के लिए उपादान ग्रहण किए हैं। मध्ययुगीन शिल्प परम्परा में सिकलीगर का व्यवसाय भी कबीर के परिवेश के पूर्णतः निकट रहा है। अब हम इस शिल्प के सन्दर्भ में कबीर के रूपकों पर विचार करेंगे।

4.8 सिकलीगिरी शिल्प से सम्बन्धित रूपक

कबीर के युग में विभिन्न प्रकार के धारदार औजारों पर सान चढ़ाने का काम सिकलीगर करता था। ये लोहे आदि से बने औजारों से मोरचा (जंग) छुड़ाकर उसे काम के योग्य बनाया करते थे। सिकलीगर का काम शीशे को दर्पण का रूप भी देना था। कबीर ने सिकलीगर और उसके कार्य को गुरु और उसके द्वारा शिष्य को साधना की पात्रता देने के सन्दर्भ में समानता देखते हुए अपने काव्य रूपकों का निर्माण किया है। एक उदाहरण देखिए—

सतगुरु ऐसा चाहिए, जैसा सिकलीगर होइ।
सबद मसकला फेरि करि, देह द्रपन करै सोइ॥¹

सतगुरु को सिकलीगर का रूप मानते हुए कबीर कहते हैं कि — गुरु ऐसा हो जो सुरति शब्द-योग की साधना द्वारा शिष्य के सब दूषित संस्कारों को अपसारित कर उसका अन्तःकरण दर्पण के समान निर्मल कर दे। अर्थात् तत्त्वज्ञान के प्रतिपादक शब्दों के मसकले (शान रखने का चक्र) पर रगड़कर मुमुक्षु शिष्य के अन्तःकरण को दर्पण के समान चमका दे।

इस प्रकार कबीर का यह रूपक आध्यात्मिक साधना में गुरु की भूमिका को व्यंजित करने में सटीक और समर्थ है।

आध्यात्मिक साधना में चित्त रूपी दर्पण को साफ और तीक्ष्ण करने वाले कारीगर के रूप में गुरु को समझना आध्यात्मिक साधना की एक प्रेरक शक्ति है। गुरु भाव को

1. कबीर ग्रन्थावली, सबद कौ अंग (40) साखी 3, पृ० 49

सिकलीगर के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए कबीर सिकलीगर की भूमिका के माध्यम से गुरु की भूमिका और महत्ता की व्यंजना करते हुए कबीर कहते हैं कि – सिकलीगर रूपी गुरु देह को दर्पण की तरह निर्मल बनाता है।

कबीर का कहना है कि जिस प्रकार अस्त्रों पर शान चढ़ाने के लिए गोल पत्थर के घेरे पर रखकर घुमाया जाता है। उसी प्रकार गुरु रूपी सिकलीगर भी ज्ञान रूपी पत्थर को घुमाकर साधक के शरीर को चमकाकर शुद्ध कर देता है।

कबीर सिकलीगर शिल्प का रूपक गुरु दीक्षा की व्यंजना के लिए तो करते ही हैं साथ ही अन्य आध्यात्मिक स्थितियों की व्यंजना भी इस शिल्प के द्वारा करते हैं –

“कबीर मन तीषा किया, विरह लाइ षरसांड।

चित चूर्ण मैं चुभि रहया, तहाँ नहिं काल की पाण।¹

कबीर कहते हैं कि विरह रूपी मसकले पर अपने मन को ऐसा तीक्ष्ण किया कि वह जाकर प्रभु के चरणों में चुभ गया अर्थात् उनमें पूर्ण रूप से अनुरक्त हो गया।

प्रस्तुत रूपक आध्यात्मिक साधना में मन की प्रेरणा के लिए आध्यात्मिक विरह की भूमिका की सुन्दर व्यंजना करते हुए भक्ति की भाव-भूमि को अर्थवान स्वर देता है।

सिकलीगर शिल्प के इन रूपकों को देखकर यह कहा जा सकता है कि कबीर शिल्पी जीवन में पूर्णतः रचे बसे थे। उन्होंने अपनी आध्यात्मिक मनोभूमि का आरोपण शिल्पी जीवन पर करते हुए अपने काव्य की संरचना के लिए एक ऐसा ढांचा तैयार किया था जो उत्तम गुणों के काव्य से ओत-प्रोत था।

4.9 रजक व्यवसाय से सम्बन्धित रूपक

समाज में रजक का व्यवसाय यद्यपि सामान्यतः शिल्प के अन्तर्गत नहीं आता। शिल्प रचनात्मक चेतना से युक्त होती है, रजक का व्यवसाय प्रत्यक्ष रूप से रचनात्मक चेतना से

1. कबीर ग्रन्थावली, संजीवनी कौ अंग 48, साखी 5, पृ0 60

जुड़ा नहीं है लेकिन इस व्यवसाय को कला से अलग भी नहीं किया जा सकता। रजक ही कपड़ों को धुलाई के माध्यम से मैल विहीन करके एक नवीन रूप देता है। वस्त्र प्रक्षालन की चेतना आध्यात्मिक सन्दर्भ में आत्म-शोधन और शरीर-शोधन की चेतना के साथ सादृश्य तो रखती ही है। इस व्यवसाय का परिवेश भी कृषक और शिल्पी व्यवसाय के समाज का अंग होने के कारण कबीर के परिवेश के अत्यन्त निकट था। अतः कबीर ने रजक व्यवसाय की चेतना को पहचाना और इसे कला के रूप में पहचानते हुए आध्यात्मिक सन्दर्भ में अपने रूपकों का माध्यम बनाया।

दुलहिन अँगिया काहे न धोवाई।
 बालपने की मैली अँगिया विषय दागपरि जाई।
 बिन धोय पिय रीझत नाही, सेज से देत गिराई।
 सुमिरन ध्यान कै साबुन करि लै, सन्तनाम दरियाई।
 दुविधा के भेद खोल बहुरिया, मन कै मैल धोवाई।
 चेत करो तीनों पन बीते, अब तो गवन नगिचाई॥¹

धोबी का कार्य मैले वस्त्रों को साफ करना है। उसके लिए वह मैले वस्त्रों में सर्वप्रथम साबुन लगाता है, उसके बाद स्वच्छ जल से धोता है। वस्त्र प्रक्षालन की इस प्रक्रिया से आध्यात्मिक साधना की व्यंजना करते हुए कबीर कहते हैं कि जीव की अँगिया अर्थात् शरीर मैला हो चुका है। जन्म से लेकर अब तक इस पर बुरे कर्मों के अनेक धब्बे पड़े हैं, और इसे साफ करने के लिए प्रभु स्मरण और ध्यान रूपी साबुन की आवश्यकता है। ध्यान और सुमिकरण रूपी साबुन सन्त नाम का दरिया है जिसमें जीव स्वयं को डुबो-डुबो कर मन का मैल साफ कर सकता है। इसी व्यवसाय से सम्बन्धित एक और रूपक देखिए –

गुरु धोबी सिष कापड़ा, साबुन सिरजनहार।
 सुरति सिला पर धोइए, निसे रंग अपार॥²

1. सरदार जाफरी, कबीर बानी, पृ० 219

2. पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली साखी 24, 61, पृ० 175

वस्त्र प्रक्षालन की प्रक्रिया में धोबी पत्थर की शिला पर रखकर साबुन लगाकर वस्त्र का रंग निखारता है। कबीर ने वस्त्र प्रक्षालन की इस प्रक्रिया से अपने काव्य रूपक का निर्माण करते हुए गुरु की भूमिका की व्यंजना की है। कबीर ने धोबी को गुरु माना है, और शिष्य को कपडा, धोबी रूपी गुरु शिष्य रूपी कपड़े को सुरति रूपी शिला पर रखकर उस सृजनकर्ता की चेतना का साबुन लगाता है। जिससे उस भक्त में पवित्र भावनाएँ जाग्रत होती हैं और वह सच्ची भक्ति में रत हो जाता है।

सच्ची भक्ति में रत होने के बाद आत्मा का स्वाभाविक रंग जो अनन्त अपारदृष्टि लिए हुए हैं निखार कर आ जाता है।

कबीर धोबी के उपमान को कई रूपों में लेकर चले हैं। एक ओर अपनी काव्य चेतना में धोबी को आध्यात्मिक चेतना से सम्पन्न करके गुरु के समकक्ष रखकर उससे आध्यात्मिक साधना की व्यंजना करते हैं दूसरी ओर धोबी के लौकिक स्वरूप को लेकर निषेधात्मक चेतना की भी व्यंजना करते हैं। कबीर कहते हैं कि रंग अत्यधिक गहरा होने पर धोबी से नहीं छूट सकता। इसी प्रकार भक्ति का गहरा रंग सांसारिक प्रेरक रूपी धोबियों से नहीं छुड़ाया जा सकता। निम्न रूपक देखिए —

एक जू दोस्त हम किया, जिस गलि लाल कबाइ।

सब जग धोबी धोइ मरै, तौ भी रंग न जाइ।।¹

एक ऐसे दोस्त से कबीर ने दोस्ती की है जो गले में लाल कबा या चोंगा डाले हुए हैं अर्थात् मन शुद्ध व अनुराग से परिपूर्ण है। इसका रंग इतना प्रगाढ़ है कि यदि समस्त संसार के धोबी इसे धोने के प्रयत्न में अपना जीवन समाप्त कर दें तो भी इसका प्रेम रंग दूर नहीं हो सकता। कबीर का ईश्वर प्रेम सच्चा है इसीलिए कोई रंग उस पर नहीं चढ़ता क्योंकि निम्न स्तरीय मन विषय प्रवण होता है व उच्च स्तरीय मन प्रभु प्रवण होता है। कबीर

1. कबीर ग्रन्थावली, मन कौ अंग 13, साखी 11, पृ० 22

अपने दृढ़ विश्वास और भक्ति भावना को उस रूपक के माध्यम से बड़े सटीक ढंग से व्यंजित करते हैं। यह है कबीर की रूपक चेतना, जिसका स्रोत मध्यकालीन शिल्पी परिवेश है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि कबीर ने अपने समाज में प्रचलित अत्यन्त निकृष्ट समझे जाने वाली जातियों व शिल्पियों को अत्यधिक समीप से देखा व अवलोकन किया था। कबीर ने व्यावसायिक चेतना से अपनी आध्यात्मिक मनोभूमि की व्यंजना तो की ही है साथ ही अप्रस्तुत विधान के रूप में इस वर्ग की महत्ता की भी व्यंजना की है।

इसी क्रम में अब हम एक और व्यवसाय पनिहारी को लेंगे।

4.10 पनिहारी के व्यवसाय से सम्बन्धित रूपक

एक प्रकार से देखा जाए तो पनिहारी भी धोबी की तरह शिल्पी रूप में नहीं आती है। मध्यकाल में शिल्पी जीवन समाज की एक उपयोगी कला के रूप में विकसित हुई थी। भारत के प्राचीन समाज में भी 84 कलाओं का उल्लेख करते हुए जीवन के सभी उपयोगी सन्दर्भों को कलाओं के अन्तर्गत समाहित कर लिया था। अतः पनिहारी का व्यवसाय जहाँ केवल एक श्रमजीवी का व्यवसाय लगता है वहीं इसमें कलात्मकता को भी नकारा नहीं जा सकता। जीवनोपयोगी सभी व्यवसायों को जो श्रमजीवी वर्ग की धरोहर है। सभी को शिल्पी जीवन में लेकर चलना ही चाहिए।

पनिहारिन ग्राम समाज में मुखिया आदि सम्पन्न व्यक्तियों के घरों में ये पानी भरने कार्य किया करती थीं। सामाजिक, धार्मिक उत्सवों में इनका कार्य महत्वपूर्ण हो जाता था। पनिहारिनों का वर्णन मध्यकालीन साहित्य में मिलता है।

पनिहारिनों की रस्सी, घट, कुआँ, जल आदि को लेकर कबीर ने आध्यात्मिक रूपकों की रचना की है। पात्र के साथ गुण (रस्सी) की भी आवश्यकता पड़ती है। पनिहारी के व्यावसायिक उपादानों को कबीर आध्यात्मिक सन्दर्भों में श्लेष के माध्यम से एक सटीक व्यंजना देते हैं।

पनिहारिन की प्रक्रिया से सम्बन्धित रूपक

सरवर तकट हंसिनी तिसाई।
 जुगति बिनाँ हरि जल पिया न जाई।।टेक।।
 पीया चाहै तौ लै खग सारी, उड़ि न सकै दोउ पर भारी।
 कुंभ लिए ठाढ़ी पनिहारी, गुन बिन नीर भरै कैसे नारी।
 कहै कबीर गुर एक बुधि बताई, सहज सुभाइ मिलै राम राई।।¹

पनिहारिन के साधक के रूप में ग्रहण करते हुए कबीर ने काया को आत्मा की पनिहारिन कहा है जो कुंभ के लिए नाम-रस भरने को खड़ी है। लेकिन उसके पास सुरति की डोरी नहीं है। इसीलिए वह उसी प्रकार कुछ नहीं कर सकती जिस तरह पनिहारी के पास सारे साधन होने के बावजूद केवल डोरी न हो तो उसका सारा साधन वैसा ही रखा जाएगा और जिस तरह वह उसके बिना पानी नहीं भर सकती उसी साधना व सुरति की डोरी के बिना जीव भी परमतत्त्व रूपी जल को घट रूपी शरीर में नहीं भर सकता।

पनिहारी के रूपक से कबीर ने हठयोग साधना की बड़ी सटीक अभिव्यक्ति की है।
 एक उदाहरण देखिए —

दूभर पनियौ भर्या न जाई।
 अधिक त्रिषा हरि बिन न बुझाई।।टेक।।
 उपरि नीर लेज तलिहारी, कैसे नीर भरे पनिहारी।
 ऊधयौ कूप घाट भयौ भारी, चली निरास पंच पनिहारी।
 गुरु उपदेस भरी ले नीरा, हरषि हरषि जल पीवै कबीरा।।²

पनिहारी कुँ से पानी भरने के लिए घड़े में रस्सी बाँध कर उसे कुँ में धीरे-धीरे डालती है। जब घड़ा पानी की सतह से टकराता है तो रस्सी ढील देकर, नीचे करके घड़े को अन्दर डुबोया जाता है और पानी भर जाने के बाद धीरे-धीरे उसे ऊपर खींचा जाता है और इतने परिश्रम के बाद ही प्यासा मनुष्य तृप्त हो पाता है ठीक उसी प्रकार मानव के भीतर

1. कबीर वाङ्मय, खण्ड 2, पद 311, पृ० 395

2. कबीर ग्रन्थावली, पद 140, पृ० 101

भी एक कुआँ है किन्तु उसका जल पाना सहज नहीं है, वह भरा नहीं जा सकता और बिना उस जल के प्यास मिट नहीं सकती अर्थात् औंधे कुएँ के समान सहस्रार में अमृत रस विद्यमान है, किन्तु उसकी प्राप्ति कठिन है और बिना उस दिव्य रस के विषयों की तृष्णा मिट नहीं सकती। वह जल अर्थात् अमृत रस ऊपर सहस्रार में है किन्तु उसकी प्राप्ति कठिन है इसीलिए पनिहारी अर्थात् प्राणशक्ति उस जल अर्थात् अमृत रस को कैसे प्राप्त करें? कुआँ औंधा है, उसका मुख नीचे की ओर है और घट अर्थात् पहुँचने का स्थान दुर्गम है। पाँचों पनिहारी रूपी ज्ञानेन्द्रियाँ उस महारस तक पहुँचना चाहती हैं। परन्तु वे केवल विषय रस का ही पान कर पाती हैं परन्तु कबीर ने अपने गुरु उपदिष्ट मार्ग से उस अमृत-रस को प्राप्त कर लिया है और आनंदपूर्वक उसका पान कर रहे हैं क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा विषयों को न ग्रहण करने वाले पुरुष निवृत्त तो हो जाते हैं परन्तु उनके प्रति राग बना रहता है किन्तु स्थिरधी पुरुष का राग भी परमात्मा का साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाता है।

पनिहारी के रूपक के माध्यम से कबीर ने अनेक आध्यात्मिक स्थितियों की व्यजना की है कबीर की इन पंक्तियों के माध्यम से कबीर की इस रूपक चेतना को सम्यक रूप से समझा जा सकता है —

चली जात देखी एक नारी, तर गागरि ऊपर पनिहारी।
 चली जात वह बाटहिं बाटा, सोवनहार के ऊपर खाटा।
 जाडन मरै सपेदी सौरी, खसम न चीन्हे धरनि भौ बौरी।
 सांझ सकार दिया लै बारे, खसम छोडि सुमिरे लगवारै।
 वाही के सग निस दिन राची, पिय से बात कहै नहि साँची।
 सोवत छौंछि चली पिय अपना, ई दुःख अब दहुँ कहब कसैना।।¹

कबीर ने इस उलटवासी में पनिहारी के रूपक द्वारा मानव चित्त की दो दिशाओं की ओर संकेत करते हुए दिखलाया है कि जो उसमें सम्भाव्य क्षमता है, उसका उपयोग न करते हुए वह पराङ्मुखी और विषयोन्मुखी होकर अपने जन्मसिद्ध अधिकार को खो बैठता है।

1 डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, रमैनी, पद 73, पृ० 113

रमैनी के पूर्वाद्ध में कबीर ने चित्त की सम्भाव्य स्थिति का वर्णन किया है और उत्तराद्ध में विद्यमान स्थिति का। इस सन्दर्भ में डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह के कथन से मैं पूर्णतया सहमत हूँ कि – वस्तुतः चित्त में दो प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। प्रायः वह (प्रवृत्ति) पराङ्मुखी रहती है, किन्तु प्रत्यङ्मुखी भी हो सकती है। उसकी ऊर्ध्वगति भी हो सकती है और अधोगति भी; वह कल्याण की ओर भी ले जाती है और पाप की ओर भी। व्यास ने पातजल योग के बारहवें सूत्र के भाष्य में कहा है कि – सामान्यतः नदियाँ केवल ऊपर से नीचे की ओर बहती हैं, किन्तु चित्त रूपी नदी विचित्र है, वह ऊपर की ओर भी बह सकती है और नीचे की ओर भी जब वह विवेक मार्ग की ओर ढलती हुई कैवल्य पर्यन्त बहती है तो 'कल्याणवहा' कहलाती है, और जब संसाराभिमुख होकर अविवेक मार्ग पर ढलती हुई 'भोगपर्यन्त' बहती है तब 'पापवहा' कहलाती है।¹ अतः हमारे चित्त की स्थिति पनिहारी के कुँ की भाँति ही है।

चित्त की स्थिति को लेकर कबीर ने केवल शिल्पी जीवन को ही नहीं विभिन्न व्यवसायों की कला को लिया है, हम पहले उल्लेख कर चुके हैं कि हमने शिल्प को वृहद अर्थ में कला के रूप में लिया है जिससे अन्य व्यवसाय भी उसमें आ सकते हैं। कबीर ने इन व्यवसायों को अपनी रूपक संचेतना के लिए ग्रहण किया है।

4.11 वणिक व्यवसाय से सम्बन्धित रूपक

बनजारा और साहूकारों के अतिरिक्त वणिक भी एक उच्च कोटि का व्यवसायी मध्ययुग में भी रहा है, बनजारे अपने काफले को रास्ते में बाजार लगाकर अपनी वस्तुओं का विक्रय किया करते थे। परन्तु बाजार में क्रय करने वालों के हाथ सीधे वस्तु बेचने वाले दुकानदारों की स्थिति बनजारों से अलग है। इस प्रकार के दुकानदारों को कबीर ने प्रायः बनिया कहकर सम्बोधित किया है। यह व्यवसायी अपने भण्डार विभिन्न प्रकार की वस्तुओं से समृद्ध रखता है, और फिर सामने दुकान लगाकर वस्तुओं का विक्रय करता है। कबीर इन व्यावसायिकों

1. डॉ० जयदेव सिंह वासुदेव सिंह, रमैनी, पद 73, पृ० 113

की प्रत्येक गतिविधियों से अवगत थे। इन्हें चाहे जितना दण्डित किया जाए फिर भी वस्तु तौलते समय पासंग करना इनका स्वभाव है वे पूरा कभी नहीं तौलते। कबीर इस व्यवसाय चेतना के माध्यम से अपनी आध्यात्मिक भावभूमि की व्यंजना के लिए रूपक संरचना करते हैं।

4.11.1 नाप-तौल से सम्बन्धित रूपक

मन बनियों बॉनि न छौडै।
जाके घर में कुबुधि बनांनी, पल पल मैं चित चोरै।।टेक।।
जनम जनम कौ मारा बनियों अजहूँ पूर न तोलै।
कूर कपट की पासंगे, फूला फूला डारै।
पाँच कुटुबी महा हरांमी अम्रित मैं बिख घोले।
कहै कबीर सुनो भाई साधौ, कुटिल गाँठि नां खोलै।।¹

प्रस्तुत पद में बनिया का रूपक लेकर मानव मन की बहुत सुन्दर व स्वाभाविक झांकी प्रस्तुत की गई है। बनिया का कार्य आटा, दाल, चावल बेचना है। बनिया के अन्दर संस्कार रूप में कुटिलता रहती है। बनिया वस्तु तौलते समय प्रवृत्तिवश कुटिलता को त्याग नहीं पाता और वह पासंग भर भी छलकर अपने इस कृत्य पर फूला नहीं समाता उसी तरह कबीर मन को बनिया के रूप में ग्रहण करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार वणिक अपनी कुटिलता को नहीं छोड़ पाता उसी प्रकार मन रूपी वणिक अपनी कुटिलता के स्वभाव को नहीं छोड़ता। कुबुद्धि उसकी प्रिय पत्नि है जो बार-बार उसको भ्रमित करती रहती है अर्थात् उससे अभद्र व अनुचित कार्य करवाती रहती है। मन रूपी वणिक जन्म-जन्मांतर के कुसंस्कारों के कारण अब भी पूरा नहीं तौलता है अर्थात् कुटिलता का अवलम्बन करता है, वह अपने कुटिल व अशोभन कार्यों में छल-प्रपंच का पासंग लगाकर, उन्हें शोभनवत् दिखलाता है और अपनी इस प्रवंचना पर फूला नहीं समाता है। कुटिल मन रूपी वणिक के परिवार में पाँच सदस्य हैं – काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ ये महाधूर्त हैं और सत को भी असत में परिणित कर देते हैं। मन वणिक की भांति हृदयवेषी है, क्योंकि इन्हें वास्तविक सत्ता का

1. कबीर वाङ्मय, सबद – पद 214, पृ० 260

पता नहीं है जो इनके प्रत्येक कार्य को बैठा ऊपर देख रहा है और जब वह व्यापारिक मुद्रा में आएगा तो प्रत्येक व्यक्ति के गुण व दोष को इस तरह तौलेगा कि उसे बनिया की तरह डंडी व तराजू की भी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। कबीर ने इस तथ्य को भी बहुत मार्मिक रूप में व्याख्यायित किया है यथा –

4.11.2 तराजू से सम्बन्धित रूपक

साँई मेरा बनियाँ, सहजि करै व्यौपार।

बिन डाँडी बिन पालड़े तोलै सब संसार।¹

प्रभु रूपी व्यापारी सहज रूप में व्यापार करता है वह बिन डंडी और पालड़े के सारे संसार को तराजू पर तोल लेता है अर्थात् संसार के प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्म के अनुसार फल देता है कबीर की यह रूपक-चेतना लोक-संचेतना से निर्मित है, ताकि प्रत्येक साधारण व्यक्ति भी उनके भाव को समझ सके।

उपर्युक्त साखी में कबीर रूपक के माध्यम से अद्भुत व्यापारी की व्यंजना करते हुए कहते हैं कि – वह सहज रूप में व्यवहार कर बिना डाँडी व पालड़े के सारे संसार को तराजू पर तौल लेता है। संसार के प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्मानुसार फल देता है। उसके न्याय का तराजू ऐसा है जिसमें डाँडी पालड़े की कोई आवश्यकता नहीं है जो व्यक्ति जैसे कर्म करता है उसे वैसा ही फल मिलता है।

ईश्वर के लिए कबीर ने बुनकर, लोहार, कुम्हार कलाल सभी शिल्प से रूपक लिए हैं ये सभी समाज में निम्न जाति से सम्बन्धित थे परन्तु इस सन्दर्भ में यह कहना कि कबीर निम्न जाति व समाज से जुड़े थे इसीलिए उन्होंने समाज में निम्नस्तरीय शिल्प को ही वाणी दी गलत होगा क्योंकि समाज के प्रत्येक स्तर के शिल्प के माध्यम से कबीर ने व्यक्ति की सामाजिक पीड़ा को समझने के साथ-साथ ईश्वर से तादात्म्य भी बनाए रखा है।

1. कबीर ग्रन्थावली, सप्रथाई को अंग, साखी 18, पृ० 48

इसी व्यावसायिक क्रम में अगला शिल्प 'जौहरी' का है जिसे समाज में अत्यन्त उच्च स्थान प्राप्त था और जौहरी शिल्प के स्वरूप व अर्थव्यंजना के द्वारा ये सत्य का उद्घाटन किया जा रहा है कि कबीर का सम्बन्ध समाज के निम्न स्तर के जुड़े लोगों से जितना अधिक था उतना ही उच्च वर्ग के शिल्प पर भी उनकी पकड़ मजबूत थी व जौहरी के प्रत्येक कार्यकलाप को कबीर भाव प्रवण भाषा में प्रस्तुत करने में पूर्णतया सफल रहे हैं।

4.12 जौहरी की व्यवसाय कला (शिल्प) से सम्बन्धित रूपक

काव्य में रूपक चेतना कवि को जीवन के किन किन संदर्भों से जोड़ती है यह कवि सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति पर निर्भर करती है और कवि अपने आस-पास के परिवेश, भाव विचार, संस्कार को अपनी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति से देखता है और उसे अपने रूपक की संरचना करता है। यद्यपि कबीर निम्न वर्गीय शिल्प से जुड़े परन्तु कबीर ने केवल निम्न वर्ग को ही अपनी रूपक चेतना का विषय नहीं बनाया वह सामाजिक व्यवसाय की हर कला को शिल्प के रूप में लेकर रूपक का निर्माण करता है। कबीर यह चेतना कला की अवधारणा के आधार पर हर व्यवसाय को शिल्प का रूप दे देती है। जौहरी इसी प्रकार का एक व्यवसाय है। जवाहरात व बहुमूल्य रत्नों के व्यवसायियों को जौहरी कहा जाता है या रत्नों को परखने वाले को जौहरी कहा जाता है। कबीर के युग में मोतियों व बहुमूल्य रत्नों का व्यवसाय उन्नत स्थिति में था और जौहरियों की इस दृष्टि में बहुत प्रतिष्ठा थी।

'जौहरी' शब्द कबीर ने ज्ञानी, विवेकी साधक, भक्त के रूप में ग्रहण किया है। इसी संदर्भ में कबीर ने जौहरी को अपनी रूपक चेतना का विषय बनाया है। एक उदाहरण देखिए—

हरि हीराजन जौहरी, ले ले माँडिय हाटि।

जबर मिलैगा पारिषू तब हीराँ की साटि।।3।।¹

1. कबीर ग्रन्थावली, पारिष कौ अंग, साखी 3, पृ 62

इस साखी में कबीर ने धार्मिक क्षेत्रों में व्याप्त विभिन्न साधना सम्प्रदायों को हाट के रूप में बताया है उन्होंने धर्माचार्यों व मठाधीशों को जौहरी के रूप में चित्रित किया है। कहीं कहीं जन जौहरी का प्रयोग वास्तविक जौहरी के लिए भी है। प्रभु भक्ति इतनी सरल प्रक्रिया से नहीं मिलती वरन् इसके लिए सम्पूर्ण शरीर को आत्मतत्त्व के मोल के रूप में देना पड़ता है। एक साखी देखिए —

कबीर हीरा वणजिया, मैंहगे मोल अपार।
हाड़ गला माटी गली, सिर साटें ब्यौहार।।¹

हीरा अत्यन्त बहुमूल्य धातु है उसे साधारण व्यक्ति नहीं खरीद सकते उसके लिए अधिक मात्रा में धन देना पड़ता है जिसे एक दिन में एकत्र नहीं किया जाता बल्कि धीरे-धीरे धन संचय के बाद वह उसे खरीदने में समर्थ हो जाता है। उसी प्रकार भक्ति भी अत्यन्त बहुमूल्य है और हीरे के व्यापार के समान है जिसे लिए बहुत अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है। यह मूल्य वह अक्षुण्य साधना है जिसमें हाड़ गल जाते हैं, काया नष्ट हो जाती है तब कहीं जाकर बदले में वह प्रकाशमान व अमूल्य भक्ति रूपी हीरा मिलता है।

कबीर हीरे की परख और उसकी खरीद बेच के माध्यम से आध्यात्मिक परिवेश और उसके प्रति सर्तकता की बड़ी सुन्दर व्यंजना करते हैं। इसी सन्दर्भ में कबीर ने इस प्रकार कहा है —

हीरा वहाँ भजैए, जहं कोई रतन पारखी पेय।
वस्तु हमारा अगम अगोचर, जाय सराफा लेय।।
मासा पौच पचीस रती के, तोला तीन तुलैए।
तोल ताल के जमा सुलाखा, तब वा घर के जेए।।
जौहरि नाम अनादि के रे, तह तुम वस्तु दिखैए।
चलत फिरत में बहुतक ठक हैं, तिनको नाहि दिखतैए।
कहै कबीर भाव कै सौदा, पूरी गाँठ लगैए।।²

1. कबीर ग्रन्थावली, सूरतन कौ अंग, साखी 28, पृ० 55

2. कबीर साहब की शब्दावली, भाग-2, मिश्रित शब्द 11

इस पद में भी हीरा आत्मतत्त्व का प्रतीक है। हीरा जिस तरह अमूल्य रत्न है उसकी रक्षा के लिए हम सारे यत्न करते हैं कि कहीं किसी चोट या ठग के हाथ न लग जाए उसी प्रकार आत्मतत्त्व रूपी हीरा भी वहीं दिखाना चाहिए जहाँ इसका पारखी हो अर्थात् ब्रह्म हो और ब्रह्म रूपी हीरा इस लौकिक हीरे के विपरीत अगम अगोचर हैं जिसे कोई सराफा नहीं देख सकता है। इस अगम अगोचर हीरे की रक्षा के लिए लुटेरों का कोई डर नहीं है। ये आत्मतत्त्व रूपी हीरा (अर्थात् ब्रह्म) कबीर को अत्यन्त यत्नों से प्राप्त हुआ है। हीरे की महत्ता के माध्यम से कबीर आध्यात्मिक चेतना की महत्ता की व्यंजना करते हुए उसकी रक्षा के प्रति सचेत करते हैं।

अतः हीरे रूपी आत्मतत्त्व को एक बार मिलने के बाद खोने नहीं देना चाहिए। जिस प्रकार हीरा बहुमूल्य है और हम उसकी रक्षा यत्नपूर्वक करते हैं उसी तरह हीरा रूपी ये दुर्लभ जीवन या 'आत्मतत्त्व' हमें प्राप्त हुआ है, उसकी भी रक्षा करनी चाहिए इस भाव की। उपर्युक्त रूप में कबीर कहते हैं कि जिस प्रकार जौहरी अपनी-अपनी दुकानों में नाना प्रकार के आभूषण सजा-सजाकर रखते हैं और ग्राहकों को आकृष्ट करने का प्रयास करते हैं उसी प्रकार इस धार्मिक बाजार में विभिन्न साधना सम्प्रदायों रूपी बाजार में तथाकथित धर्माचार्यों ने विभिन्न साधना पद्धतियों रूपी बाजार को सजा रखा है और अपना प्रभाव सामान्य जनता पर दिखाकर उन्हें चमत्कृत करने के प्रयास में लगा हुआ है। किन्तु कबीर के अनुसार जब सच्चा जौहरी अर्थात् भक्त (महज साधनापरक) अहंकार का विनाश करके उस बाजार में आता है तो वह हीरे के स्वरूप (ब्रह्म) को स्वतः प्राप्त कर लेता है। इस रूपक से स्पष्ट व्यंजना होती है कि आत्मज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति ही साधना मार्ग और उसके लक्ष्य को पहचान सकता है। कबीर का मानना है व्यंजना निम्नलिखित रूपक में मिलती है —

भगति बिगाड़ी काँमियाँ, इंद्री करै स्वादि।

हीरा खोया हाथ थै, जनम गँवाया बादि॥¹

1. कबीर ग्रन्थावली, कामी नर कौ अंग, साखी 18, पृ० 31

इस रूपक की चेतना से केवल अध्यात्म चेतना की रक्षा की ही बात नहीं है बल्कि जीवन की अर्थवत्ता की भी व्यंजना है। हीरा जिसके पास से चला जाता है या खो जाता है वह अत्यधिक दुखी रहता है क्योंकि हीरे का पाना तो अच्छा होता है किन्तु उसका खोना अच्छा नहीं होता। हीरा आत्मतत्त्व का प्रतीक है। इन्द्रियों के स्वाद के वशीभूत होकर कामीजनों ने इन्द्रियों को विकृत कर रखा है। इससे उन्होंने अपना जन्म तो नष्ट किया ही अर्थात् यह लोक तो बिगाड़ा ही हीरे के समान प्रकाशमान और स्वच्छ तत्त्व को ही खो दिया। कबीर की यह रूपक चेतना मानव जीवन के महत्त्व की बड़ी विस्तृत गंभीर व्याख्या के द्वारा करते हैं।

मनुष्य योनि ही ऐसी योनि है, जिसमें जीव अपने भीतर विद्यमान आत्मतत्त्व रूपी दुर्लभ हीरे को प्राप्त कर सकता है किन्तु उस दुर्लभ योनि को प्राप्त करके भी वह इन्द्रियों के वशीभूत होकर जीवन-यापन करे और भगवद भक्ति द्वारा उस दुर्लभ हीरे (आत्मतत्त्व) को प्राप्त करने की चेष्टा न करे तो उसका यह जीवन व्यर्थ ही है फिर तो वह पुनः चौरासी लाख योनियों में भटकने के बाद ही इस दुर्लभ योनि को प्राप्त कर सकेगा जिसके द्वारा (आत्मतत्त्व) हीरे की प्राप्ति सम्भव है।

कबीर की रूपक चेतना समाज की व्यावसायिक चेतना से निर्मित है। व्यावसायिक चेतना से सम्बन्धित यह रूपक भी देखिए —

अमृत बरिसै हीरा निपजै, घंटा पड़ै टकसाल।

कबीर जुलाहा भया पारषू अनभै उतरया पार।¹

जिस समय हीरे को खान से निकाला जाता है। वह अत्यन्त शुद्ध सफेद दीप्तिमान होता है उसी प्रकार जब जीव को अनाहत नाद का परिचय हो जाता है तब संकल्प-विकल्पात्मक मन में उसी में लय को प्राप्त हो जाते हैं। उस समय आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है और आनन्द की वर्षा होती है जिसे 'हीरा निपजै' द्वारा व्यक्त किया गया है। जब जीव ब्रह्ममय

1. कबीर ग्रन्थावली, परचा कौ अंग, साखी 47, पृ० 12

उन्मनावस्था को प्राप्त होता है तब वह भी हीरे के समान शुद्ध दीप्तिमान, प्रकाशमान व अभेद्य होता है, परन्तु सासारिक विषयो की छार में लिपट कर अपने अस्तित्व को खो देता है। कबीर जो कि निम्नवर्ग जुलाहे शिल्प से जुड़े थे वह इस परमसत्ता रूपी हीरे की वास्तविकता को जान चुके हैं और स्वयं को पारखी कहते हैं कि वह अब इस ससार रूपी भवसागर को सरलता से पार कर लेगे क्योंकि उनके पास ब्रह्म ज्ञान रूपी हीरा आ गया है।

इस प्रकार कबीर की बानियाँ एक अद्भुत और अनोखे ढंग से अनुभूति (विचार) को मुखरित करती हैं। इन बानियों में रूपको के माध्यम से साधनात्मक सत्य की अवतारणा हुई है। भावनाओं और विचारधाराओं को प्रकट करने में प्रायः जनवाणी ही समर्थ नहीं होती है। अतः मानव अपने विचारों को प्रकट करने के लिए अन्य साधनों का आश्रय ग्रहण करता है। कबीर ने अपने काव्य में तत्कालीन जनजीवन में प्रचलित व्यवसायों से अपने-अपने काव्य रूपको की सामग्री ग्रहण की है। उन्होंने कताई, बुनाई, बढई, सिकलीगर, लोहार, कलाल, बनिया, कुम्हार, पणिहारिन, जौहरी में ईश्वर का रूप देखा है। यह सभी शिल्प समाज में निम्न जाति से सम्बन्धित थे इनकी व्यावसायिक पद्धति को कबीर ने निकट से देखा था। अतः इन व्यावसायिक कला के माध्यम से कबीर गूढ़ से गूढ़ तत्त्वज्ञान को व्यक्त करने में अत्यन्त सफल हुए हैं। उन्होंने अपनी अनुभूति को वाणी देने में जिन रूपको का सहारा लिया है। उनसे उनको आध्यात्मिक अनुभूतियों को जीवतता मिली है। कबीर की काव्य-चेतना ने यह सिद्ध कर दिया है कि गूढ़ भावों को रूपको के द्वारा ही अधिक प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया जा सकता है इन रूपको के माध्यम से ही कबीर अनुभूति की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति करने में सक्षम हो सके हैं। कबीर से पूर्व काव्य रूपको की संरचना में जनजीवन को बहुत कम स्थान प्राप्त था। भारत की निम्नवर्गीय जनता से उसका सम्बन्ध अपेक्षाकृत नहीं ही था। कबीर भारत की मिट्टी के गायक थे और उन्होंने निम्नतम भारतीय समाज की जीवनानुभूतियों को आत्मसात् करके काव्य में स्थान प्रदान किया। कबीर केवल भावानुभूति और विचारधारा के कारण ही श्रेष्ठ कवि नहीं है बल्कि वो अभिव्यक्ति के धरातल पर भी वे अपने काव्य को उत्तम काव्य की श्रेष्ठता तक पहुँचाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समाज के सभी (व्यवसाय) शिल्प के अन्दरूनी हलकों में कबीर की पैठ से यह प्रमाणित होता है कि कबीर की दृष्टि लोक के भीतर से ही होती हुई उसे भेदकर उसके मूल अर्थात् परमार्थ तक पहुँचती हुई अपनी काव्य रचना का समस्त ढाँचा तैयार करती है।

हरि कर्म मर्म भरमायो, गुरु ने आत्म रूप लखायो।
फिर हरि बंध मुक्ति गति लाए, गुरु ने सब ही मर्म मिटाये।

पंचम अध्याय

दादू के काव्य में कृषक जीवन सम्बन्धी रूपक :
स्वरूप विश्लेषण एवं अर्थ व्यंजना

- 5.1. खेत सम्बन्धी रूपक
- 5.2. बीज सम्बन्धी रूपक
- 5.3. अंकुर सम्बन्धी रूपक
- 5.4. अनावृष्टि सम्बन्धी रूपक
- 5.5. कृषि और उससे फल प्राप्ति सम्बन्धी रूपक
- 5.6. सिंचाई सम्बन्धी रूपक
- 5.7. प्रकृति सम्बन्धी रूपक
- 5.8. वृक्ष सम्बन्धी रूपक
- 5.9. गुणवंती बेलि से सम्बन्धित रूपक
- 5.10. पशुपालन सम्बन्धी रूपक
- 5.11. सामन्ती जीवन व कृषक दुर्दशा सम्बन्धी रूपक

दादू के काव्य में कृषक जीवन सम्बन्धी रूपक : स्वरूप विश्लेषण एवं अर्थ व्यंजना

कबीर की भांति दादू का रचना काल भी हिन्दी साहित्य के मध्यकाल के अन्तर्गत आता है। हम गत अध्याय में देख चुके हैं कि यह काल भारतीय इतिहास में उथल-पुथल, जय-पराजय, उत्थान-पतन, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, विकृतियों का युग था। इस युग में चतुर्दिक अराजकता, असमानता, कुव्यवस्था, घोर अशांति, धर्म परिवर्तन, सामाजिक मूल्यों में गिरावट, स्वार्थ परायणता, लूटमार, विदेशी आक्रमणों, अत्याचारों, धार्मिक कट्टरता, जातीय संघर्ष आदि का बोलबाला था। इन अनिश्चित राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक परिस्थितियों में जनजीवन शोषण व उत्पीड़न से ग्रस्त था। इस अशांति और कोलाहलपूर्ण वातावरण का भारतीय जनजीवन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था। साथ ही इसने साहित्य, इतिहास, दर्शन, धर्म को भी प्रभावित किया।

मध्यकालीन सन्त साहित्य जिसमें दादू भी आते हैं उनका काव्य जीवन को विशिष्ट अभिव्यक्ति देने वाला काव्य है। इस सन्दर्भ में डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र का कथन उद्धृत है — व्यक्ति का भाव जगत समाज के स्थूल एवं सूक्ष्म सभी प्रभावों को ग्रहण करता हुआ अपनी चेतना का परिष्कार करता चलता है, जिससे कवि हृदय व्यक्ति की प्रेरणा जाग्रत होती है जो उसकी दृष्टि को विकसित करती है व दूसरी ओर यथार्थमयी भूमिका उसे व्यवहार से जोड़े रखती है अर्थात् धरती से जुड़ा होकर भी वह आकाश की ऊँचाई की ओर उन्मुख रहता है।¹

दादू का काव्य भी इसी आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद से अनुप्राणित है जिसमें युग चेतना साकार हो उठी है। दादू स्वयं शिल्पी जीवन व कृषि जीवन से प्रत्यक्षतः जुड़े थे। दादू की वाणी स्वानुभूतियों पर आधारित है। कबीर की भांति दादू का काव्य भी सामान्य लोक व परिवेश से प्राप्त विचार व अनुभव के बल पर साधारण लोगों के मध्य खड़ा हुआ है।

1. डॉ० रमेश चन्द्र मिश्र, सन्त साहित्य व समाज, पृ० 49

गत अध्याय में कबीर के सन्दर्भ में हम देख चुके हैं कि आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति रूपकों के माध्यम से करने में ये सन्त अग्रण्य रहे हैं। दादू भी इसी परम्परा की एक कड़ी है। दादू ने भी इसी रूपक शक्ति के माध्यम से परमात्मा के रहस्यमय स्वरूप को स्पष्ट किया है और इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि – दादू ने रूपक के अप्रस्तुत का स्वरूप निर्माण जीवन से उपादान ग्रहण करके किया है।

कृषक जीवन विशिष्ट सन्दर्भ कृषि सम्बन्धी उपादानों से जुड़े हुए हैं। उन्हें निम्न रूप में देखा जा सकता है।

5.1 खेत सम्बन्धी रूपक

कृषक जीवन में 'खेत' का अत्यधिक महत्त्व है। खेत के उर्वर या बंजर होने पर ही कृषि कार्य की सफलता या असफलता निर्भर करती है। दोनों ही प्रकार की भूमियों का ज्ञान दादू को था। दादू ने उर्वर व बंजर भूमि को साधना युक्त व साधना विहीन हृदय के सन्दर्भ में ग्रहण किया है। मनुष्य के हृदय में भक्ति रूपी अंकुर निष्पत्ति के लिए दादू ने कालर खेत का रूपक लिया है जिसमें कालर खेत को साधना विहीन उर्वरा हृदय के रूप में प्रस्तुत किया है कि – लाख प्रयत्न करने के पश्चात् उसमें भक्ति रूपी फसल नहीं उग सकती।

कालरि षेत न नीपजे, जे वाहै सौ बार।

दादू हांना बीज का, कां पचि मरे गवांर।।¹

कालर अर्थात् वह भूमि जिसकी उर्वरा शक्ति समाप्त हो चुकी हो जिसमें कोई निष्पत्ति तब तक सम्भव नहीं होती जब तक उसमें पर्याप्त मात्रा में परिश्रम द्वारा उस कालर खेत को उपजाऊ न बनाया जाए। जब उर्वरा शक्ति, नमी, नमक का उचित अनुपात बंजर भूमि को मिलता है वह फिर से निष्पत्ति योग्य बन जाती है। आध्यात्मिक सन्दर्भ में दादू का मत है कि – हृदय भी उस खेत की भांति है जिसमें मनुष्य अध्यात्म रूपी खेती करता है परन्तु

1. दादूदयाल ग्रंथावली, माया कौ अंग, 12 साखी 47, पृ० 133

इसके लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है कि हृदय की उर्वरा शक्ति अच्छी हो अर्थात् वह शुष्क व गुणवत्ता विहीन न हो। हृदय का कालर होना भावना से च्युत होना है। भक्ति की निष्पत्ति रूपी उपज भावनाच्युत होकर नहीं प्राप्त होती। जो मनुष्य भावना युक्त हृदय से भक्ति करेगा उसमें प्रभु भक्ति रूपी अंकुर का प्रस्फुटन अवश्य होगा और जो केवल ऊपरी मन से भावना विहीन हृदय से भक्ति का दिखावा करेगा वह कालर खेत की भांति सदैव निष्फल रहेगा।

दादू ने कृषि कर्म से अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जिससे अज्ञानी अशिक्षित जनता को भक्ति तत्त्व से परिचित कराया जा सके।

5.2 बीज सम्बन्धी रूपक

खेत के बाद कृषि कर्म में बीज का अत्यधिक महत्त्व है। हृदय में भक्ति भावना के रोपण को प्रस्तुत करने के लिए बीज का रूपक दादू के काव्य में सफलतापूर्वक अभिव्यक्त हुआ है—
 षेत न नीपजे बीज बिन, जल सींचे क्या होई।

सब निफल दादू राम बिन, जानत है सब कोई।।¹

हृदय के लिए खेत, प्रभु प्रेम रूपी अंकुर के लिए बीज व साधना के लिए जल (सिंचाई) का रूपक लेकर दादू का मत है कि — यदि कृषक खेत में बिना बीज डाले फल प्राप्ति की आशा से निरन्तर सींचता रहे लेकिन उसे फल की प्राप्ति कभी नहीं होगी। आध्यात्मिक सन्दर्भ में इसका अर्थ यह है कि यदि साधक के हृदय में प्रभु प्रेम रूपी बीज नहीं है तो वह साधना के जल द्वारा चाहे जितना सींचे उसे प्रभु भक्ति में सफलता नहीं मिल सकती।

5.3 अंकुर सम्बन्धी रूपक

बीज का सार्थक विकास उसका अंकुरित होना है। बीज और अंकुर के सम्बन्ध को लेकर दादू ने आध्यात्मिक अभिव्यक्तियाँ की हैं जिसमें यह बताया गया है कि — कर्म के समान ही हमें फल की प्राप्ति होती है।

1. दादू ग्रंथावली, निहकामी पतिव्रता को अंग साखी 07, पृ० 104

दादू वो ऊँकार थे ऊपजै, अरस परस संजोग।
अकूर बीज दोऊ पाप पुनि, इहि विधि जोगर भोग।।¹

प्रस्तुत रूपक में जीव की उत्पत्ति उस ऊँकार रूपी ब्रह्म से मानी गयी है जो इस सृष्टि में परस्पर सयोग करता है, इस संसार में भोग व जोग दो स्थितियाँ हैं जो क्रमशः पाप व पुण्य के मार्ग पर ले जाती हैं। सांसारिकता में रहते हुए भी जीव ब्रह्म को किस प्रकार प्राप्त कर सकता है, इसे दादू ने ऊँकार के रूपक द्वारा स्पष्ट किया है कि जीव संसार के सम्पर्क में रहकर पाप व पुण्य दोनों प्रकार के कर्मों के बीज डालता है जो जोग व भोग रूपी सृष्टि के रूप में विस्तार पाती है। जो पुण्य के अंकुर डालता है वो जोग द्वारा ब्रह्म तक पहुँच जाता है और जो जीवन में केवल भोग चाहता है उसे उस अनुकूल परिणाम से वंचित रहना पड़ता है जो जीवन का लक्ष्य है।

5.4 अनावृष्टि (सूखा) सम्बन्धी रूपक

किसान की खेती मध्यकाल में वर्षा पर निर्भर करती रही है। अत्यन्त लगन व परिश्रम से कृषक वर्ष भर कृषि कार्य करता है लेकिन कभी-कभी सूखा पड़ जाने से किसान का सारा परिश्रम व्यर्थ चला जाता है और उसकी क्षति को भोगना उसकी नियति होती है। यह दुर्दशा दादू के काल में ही नहीं वरन् आज भी अनावृष्टि एक दैवीय आपत्ति होती है। फसल उगना तो वर्षा पर ही निर्भर होता है। दादू कृषक जीवन के इस सन्दर्भ को अपनी आध्यात्मिक अनुभूति के लिए रूपक का उपादान बनाते हैं। वृष्टि और अनावृष्टि की भाव-व्यंजना से आध्यात्मिक भाव की उद्भावना और उसकी अनुभूति की सफल व्यजना निम्नलिखित रूपक में देखी जा सकती है।

बारह मासी नीपजै, तहाँ कीया परबेस।
दादू सूका न पडै, हम आए उस देस।।²

1 दादू ग्रथावली, सबद कौ अग, पृ० 227

1 दादू ग्रथावली, मधि कौ अग (ख) साखी, पृ० 195

दादू का मत है कि सांसारिक, बोना, काटना, फल-प्राप्ति व क्षति इन सबसे परे मैं उस आलौकिक स्थान पर आ गया हूँ जहाँ निरन्तर भक्ति साधना में रत रहना पड़ता है क्योंकि साधना ही साधक का लक्ष्य होती है और निरन्तर साधना से जीव को उस लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव है।

5.5 कृषि और उससे फल प्राप्ति सम्बन्धी रूपक

जीवन में लक्ष्य की प्राप्ति बहुत सारे कठिन मार्गों से होकर प्राप्त होती है। जिस प्रकार का लक्ष्य है कर्म भी वैसे करना अभीष्ट है, अन्यथा फल प्राप्ति सम्भव नहीं, जीवन में प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्मों के अनुरूप ही फल प्राप्ति होती है। इस तथ्य की व्यंजना दादू निम्न कृषक जीवन सम्बन्धी रूपक से करते हैं —

दादू विष की बोली बाहिए, विष ही का फल होइ।
विष ही का फलि षाड़ करि, अमर नहीं कलि कोई।¹

जगत् का यह शाश्वत नियम है जो जैसा बीज बोता है वैसा ही फल उसे मिलता है। बाहिए से तात्पर्य बोने से है। पृथ्वी में जिस अन्न का बीज डाला जाता है उसी अन्न का अंकुर फूटता है और फल भी वैसा ही तैयार होता है। आध्यात्मिक अर्थ में दादू ने इसे अच्छे व बुरे कर्म के सन्दर्भ में लिया है कि जो जैसे कर्म करेगा वैसे ही फल की प्राप्ति भी उसे होगी।

5.6 सिंचाई सम्बन्धी रूपक

‘सिंचाई’ कृषि कर्म का महत्त्वपूर्ण चरण है। वनस्पतियों का जीवन, पल्लवन, लहलहाना एवं सिंचाई पर निर्भर करता है। मानव जीवन भी विभिन्न भावानुभूतियों की उद्भावना के लिए सिंचित होने की अपेक्षा रखता है। सिंचाई का साम्य मानव जीवन के इसी धरातल को अभिव्यक्त करने के लिए रूपक संरचना की प्रेरणा देता है। दादू ने अन्य संतों की तरह कृषि

1. दादू ग्रंथावली, बेली कौ अंग 36 साखी, पृ० 304

जीवन के इस सरस तत्त्व से आध्यात्मिक साधना भावभूमि और प्रक्रिया की अभिव्यक्ति के लिए अपने रूपको की संरचना की है।

जे साहिब सींचै नहीं, तौ बेलि कुमिलाइ।
दादू सींचै साईयाँ, तो बेलि बंधती जाइ।¹

प्रस्तुत रूपक में दादू आध्यात्मिक साधना के लिए सिंचाई की भावना का सहारा लेते हैं। आत्मा रूपी बेल को भगवान द्वारा कृपा के रूप में न सींचा जाए तो बेल की भांति ही मुरझा जाती है। इसके विपरीत उसके द्वारा सींचे जाने पर हरी-भरी रहती है। इस प्रकार दादू इस रूपक के माध्यम से अध्यात्म साधना में भगवान की कृपा की अहम भूमिका स्वीकार करते हैं।

दादू ने एक नहीं अनेक स्थानों पर उसी भावभूमि को अभिव्यंजना के लिए सिंचाई की प्रक्रिया आदि से अपने रूपकों का निर्माण किया है। निम्नलिखित रूपक देखिए —

कदे न सूषे रूषडा, जे अमृत सींच्या आप।
दादू हरिया सो फलै, कछु न व्यापै ताप।²

अमृत से 'रूष' को सींचना अनेक भावों की व्यंजना की दिशा दे सकता है। इसे भक्ति के सन्दर्भ में भी लिया जा सकता है। भक्ति रूपी सिंचाई से जीव हरा-भरा रहता है और विविध ताप की दग्धता से बचने के लिए जिस प्रकार वृक्ष को सींचा जाता है तभी वह हरा-भरा रहता है उसी प्रकार जीव रूपी वृक्ष भी साधना द्वारा निरन्तर सींचा जाता है तभी वह इस ससार को ताप से बचकर हरा-भरा व फला-फूला प्रतीत होता है।

दादू सिंचाई के द्वारा भक्ति साधना की अन्य दिशाओं को भी उठाते हैं। उनका मानना है कि मूल तत्त्व को छोड़कर अन्य की उपासना करने पर जीवन सन्दर्भ में हरीतिमा का संचार नहीं हो सकता। निम्न उदाहरण देखिए —

1 दादूदयाल ग्रथावली, बेलि कौ अग 36, साखी 3, पृ० 301

1 दादू ग्रन्थावली, बेलि कौ अग (36) साखी 6, पृ० 303

दादू जब लग मूल न सींचिए, तब लग हरया न होइ।
सेवा निफ्रल सब गई, फिरि पछितांनां सोई।।¹

वृक्ष की जड़ों की सिंचाई की जाती है। जड़ों द्वारा ग्रहण की हुई ऊर्जा पूरे पौधे को मिलती है। यही सिंचाई कृषक द्वारा की गई पौधे की सेवा को अर्थवान बनाती है। दादू सिंचाई की इस अर्थचेतना को रूपक के माध्यम से एक सत्ता में भावना को केन्द्रित करने की बात करते हैं। एक और रूपक देखिए —

दादू सींचे मूल के, सब सींच्या विस्तार।
दादू सींचे मूल बिन, बादि गई बेगारि।।²

अनुकूल परिणाम के लिए सिंचाई के द्वारा पेड़ पौधों की जड़ों में पानी डाला जाता है। इसके विपरीत जड़ छोड़कर यदि ऊपर की ओर सिंचाई की जाए तो कभी भी परिणाम अनुकूल नहीं मिलेगा। परमसत्ता की अनुभूति से रहित भक्ति भावना इस जगत को हरा-भरा या आनंद का विषय नहीं बना सकती। इसका विवेचन हम पूर्व अध्याय में कबीर के सन्दर्भ में भी कर चुके हैं।

इतना ही नहीं दादू सिंचाई की प्रक्रिया से साधना की सचेतन स्थिति की भी व्यंजना करते हैं —

हरि जल वरिषै वाहिरा, सूके काया षेत।
दादू हरिया होइगा, सींचण हार सुचेत।।³

वर्षा होने पर सम्पूर्ण धरती के सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयव भी इस सिक्त व आनन्दित हो उठते हैं। वर्षा को प्रभु रूपी जल के सन्दर्भ में ग्रहण करते हुए दादू का मत है कि — हरि रूपी जल चारों ओर बरस रहा है परन्तु वर्षा होने पर भी खेत रूपी काया सूखी है जिसके लिए दादू ने अर्न्तदृष्टि द्वारा सचेत होकर साधना द्वारा सिंचाई को आवश्यक बताया है जो सचेत होकर प्रभु-भक्ति में लीन रहते हैं वह सदैव हरे भरे रहते हैं।

-
1. दादू ग्रन्थावली निहकमी पतिव्रता कौ अंग, पृ० 104
 2. दादूदयाल, ग्रन्थावली निहकमी पतिव्रता कौ अंग, 65, पृ० 104
 3. दादूदयाल ग्रन्थावली, साध कौ अंग 15 साखी 100, पृ० 188

प्रभु भक्ति की प्राप्ति के लिए युक्ति बताते हुए दादू ने एक अन्य रूपक सहज ही खड़ा कर दिया है –

जे घट रोपे रांमजी, सीचे अमी अघाइ।
दादू लागे अमीं फल, कबहुँ सूकि न जाइ।¹

प्रस्तुत रूपक में शरीर के लिए घट व रामरूपी पौधे को उसमें रोपने का रूपक लिया है। सामान्यतः धरती को गहरा खोद कर उसमें पौधे को रोपा जाता है एक निश्चित अवधि तक उसकी निरन्तर सिंचाई की जाती है और फिर वह पुष्पित पल्लिवत् होता हुआ अनुकूल परिणाम देता है। अध्यात्म के सन्दर्भ में प्रस्तुत रूपक का अर्थ है कि – जो शरीर रूपी घट में परब्रह्म रूपी पौधे का बीज रोप लेता है या धारण कर लेता है व उसे निरन्तर साधना द्वारा सींचता रहता है। एक निश्चित अवधि के बाद वह मोक्ष रूपी कभी न सूखने वाले फल को प्राप्त कर लेता है।

दादू के सिंचाई सम्बन्धी रूपकों के माध्यम से जिस भाव की व्यंजना होती है वह आध्यात्मिक साधना की विशिष्ट स्थिति को स्पष्ट करते हैं। इन रूपकों में दादू की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति के दर्शन होते हैं जिसने उन्हें सिंचाई की भावना प्रक्रिया आदि के साथ एकाकार कर दिया है। उनकी सही भावना जब भक्त की अनुभूति के समानान्तर खड़ी होती है तो स्वतः सार्थक रूपक की संरचना हो जाती है ये स्थिति एक प्रकार से संत चेतना और कवि चेतना के सामन्जस्य की स्थिति है जो आध्यात्मिक मरुभूमि को कविता बनाने में मदद करती है।

5.7 प्रकृति सम्बन्धी रूपक

प्रकृति वह मौलिक द्रव्य है, जिसमें से यह जगत विकसित होता है। अव्यक्त दशा में प्रकृति केवल प्रतिकूलताओं का संगतीकरण है। जब वे साम्यवस्था में एकत्र रहती है, तो

1. दादूदयाल ग्रंथावली, साखी 6 बेलि कौ अंग 136, पृ० 303

उनमें कोई क्रिया नहीं होती है। विश्राम की अवस्था को प्रकृति की स्वाभाविक दशा कहा गया है। तो भी बाह्य क्रिया की अनुपस्थिति का तात्पर्य यह नहीं है कि कार्य करने की प्रवृत्ति का भी अभाव है। व्यक्त होने की प्रवृत्तियाँ (सत्त्व) व क्रियाशीलता (रजस) अव्यक्त तथा निष्क्रियता (तमस) की प्रवृत्तियों से प्रतिबद्ध रहती है। एक अमूर्त इकाई को या तो निरन्तर क्रियाशील या निरन्तर निष्क्रिय होना चाहिए।¹ प्रकृति जो अपने अन्दर सब वस्तु की सम्भावनाओं को धारण करती है विचार के उपकरणों व विषयों के रूप में विकसित होती है।¹ प्रकृति में से भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओं के व्यक्त होने का नाम रचना है और उनके विशिष्ट होकर मूल प्रकृति में विलीन हो जाने का नाम विनाश है। प्रकृति की साम्यावस्था में विक्षोभ होने के कारण विश्व अपने भिन्न-भिन्न तत्त्वों के साथ विकसित होता है और युग की समाप्ति पर पदार्थ विपरीत गति द्वारा विकास की अपनी पूर्वस्थिति में लौट जाते हैं और अन्त में प्रकृति में विलीन हो जाते हैं। प्रकृति जब तक इसी दशा में रहती है जब तक के लिए विश्व के विकसित होने का समय नहीं आता। विकास तथा पुनर्विलय का यह चक्र अनादि तथा अनन्त है। प्रकृति का यह नाटक कभी किसी जीवात्मा के मोक्ष लेने से समाप्त नहीं होता। यद्यपि मुक्तात्माओं पर प्रकृति की क्रिया का कोई असर नहीं होता। यद्यपि प्रकृति एक ही है और सब पुरुषों के लिए समान हैं, तो भी वह अनेक मार्गों से अपने को अभिव्यक्त करती है।²

प्रकृति एक ऐसे जगत के रूप में अभिव्यक्त होती है जो विपत्ति तथा ध्वंस से परिपूर्ण है और जिसका प्रयोजन आत्मा को उसकी नींद से जगा देना है। इस जगत का प्रकट दुःखान्त रूप आत्मा के लिए आवश्यक बताया गया है, जो निष्क्रिय है, यद्यपि जो कुछ सम्मुख आता है, उस सबको वह देखती है। सांख्य का मत है कि प्रकृति के क्रियाकलाप किसी सचेतन चिन्तन का परिणाम नहीं है। सांख्य द्वारा प्रयुक्त दृष्टान्तों से हमारा कुछ

1. डॉ० सर्वपल्ली, भारतीय दर्शन, पृ० 266

2. डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, पृ० 265

अधिक सन्तोषजनक समाधान नहीं होता। बुद्धिहीन प्रकृति के विषय में कहा जाता है कि वह उसी प्रकार कार्य करती है जैसे कि बुद्धिहीन वृक्ष फलों को उत्पन्न करते हैं। सांख्य भी मानता है कि प्रकृति की क्रियाशीलता इस विश्व को ओर संकेत करती है कि गति देने वाला कोई है जो स्वयं गतिमान नहीं है किन्तु गति को उत्पन्न करता है।¹ प्रकृति का विकास इस विषय का उपलक्षण है कि कोई आत्मिक कर्ता है, किन्तु सांख्य द्वारा स्वीकृत आत्मिक केन्द्र प्रकृति पर कोई सीधा प्रभाव उत्पन्न करने में असमर्थ है।

प्रकृति स्वयं तो विचार शून्य है किन्तु पुरुष से मार्ग-दर्शन पाकर वह अनेक प्रकार के जगत् का निर्माण करती है। प्रकृति की क्रियाएँ जीवों के उपयोग के निमित्त हैं, क्योंकि जीव ही पूर्ण अन्तर्दृष्टि न रखने के कारण अपने सूक्ष्म (लिंग), शरीरों के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं कामनाएँ रखते हैं तथा भेद-परक ज्ञान की आवश्यकता रखते हैं।

व्यक्त रूप में प्रकृति हमारे समक्ष वृक्ष बेल, फल, फूल अनेक रूप में अभिव्यक्त होती है। कबीर के सन्दर्भ में पूर्व अध्याय में बताया जा चुका है कि कृषक के लिए प्रकृति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कृषक का सुख, दुख प्रकृति की उदारता व कठोरता पर निर्भर रहता है। दादू ने कृषक परिवेश के प्रकृति के स्वरूप का अत्यन्त निकट से साक्षात्कार किया था इसीलिए कबीर काव्य की भांति दादू का काव्य भी प्रकृति का दर्पण है। जिसमें वृक्ष फल, फूल, बेल आदि प्रकृति के सूक्ष्म अवयवों के माध्यम से परमसत्ता का मर्म सहज ही समझा दिया है। अतः दादू के काव्य में प्रकृति अध्यात्म, भक्ति, नीति आदि के व्यञ्जक साधक के रूप में आई है।

5.8 वृक्ष से सम्बन्धित रूपक

प्रकृति के अन्तर्गत वृक्षों की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है जो मानव-जीवन को प्रभावित करती है। वृक्ष का स्वरूप उसकी विकास प्रक्रिया उसका फलन सभी मानव-जीवन के विकास और भावात्मक स्वरूप के साथ साम्य रखते हैं। यही कारण है कि सन्तों ने ही

1. डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, पृ० 284

नहीं उपनिषदों में भी सृष्टि के स्वरूप को वृक्ष के विकास से समझाया गया है। दादू ने जहाँ कृषक जीवन को अपने रूपकों की संरचना का आधार बनाया है वहीं उसके जीवन से जुड़े प्रकृति के अद्भुत वरदान वृक्षों से भी अपने रूपकों की संरचना की है —

तरवर साष मूल बिन, धर अंबर न्यारा।
 अविनासी आनंद फल, दादू का प्यारा।।¹
 तरवर साष मूल बिन, धरती पर नाहीं।
 अविचल अमर अनंत फल, सो दादू षाहीं।।²

प्रस्तुत दोनों रूपकों में प्रकृति के समस्त उपादान यथा — तरवर, साखा, मूल आदि के रूपक द्वारा दादू ने ये बताया है कि — जड़ के साथ वृक्ष की यथार्थता तो स्वयंसिद्ध है, यहाँ उलटवासी के माध्यम से दादू ये बताना चाहते हैं कि — परब्रह्म रूपी वृक्ष बिना मूल व धरती के है जिसमें ऐसा स्थिर अचल फल लगा है जो अनंत है अर्थात् जिसका अन्त नहीं है, वो फल दादू ने खा लिया है और उस आनंदमय तृप्ति का पान कर लिया है जो कभी नष्ट नहीं होगा।

‘वृक्ष’ का ही रूपक ग्रहण करके दादू ने इस रूपक में नैतिक मूल्यों की व्याख्या की है—

दया धर्म का रूषडा, सत सौं बधता जाइ।
 संतोष सौं फूले, फलें, दादू अमर फल षाई।।³

प्रस्तुत रूपक में दया, धर्म के लिए वृक्ष का रूपक ग्रहण किया है कि वृक्ष, जल की सिंचाई द्वारा घना होता जाता है, पुष्पित पल्लिवत हो स्वयं की सार्थकता सिद्ध करता है। इसी भांति दया, धर्म रूपी वृक्ष में सत्य द्वारा सिंचाई की गई है, जिससे वह घना होता जाता है। फल आने की प्रक्रिया में उस पर वो संतोष रूपी फल लगा है जिसे खाकर जीव अमरत्व को प्राप्त कर लेता है।

‘अमरत्व’ प्राप्ति बहुत कठिन प्रक्रिया के बाद आती है। प्रकृति के वृक्ष बेलि, फल के माध्यम से दादू ने सजीव बिम्ब प्रस्तुत किया है —

- 1 दादूदयाल ग्रथावली, बेलि कौ अंग, 15 पृ० 305
- 2 दादूदयाल ग्रथावली, बेलि कौ अंग 11 पृ० 304
- 3 दादूदयाल ग्रथावली, बेलि कौ अंग (20), पृ० 305

हरि तरवर तत आत्मां बेली करि विस्तार।
दादू लागै अमर फल, को साधू सींचन हार।¹

हरि के लिए तरवर, आत्मा के लिए लता, परमानन्द के लिए फल का रूपक ग्रहण कर गहरी आध्यात्मिक प्रस्तुतियाँ की है —

लता वृक्ष के ऊपर निर्भर रहती है, वह वृक्ष के सहारे ही बढ़ती है, उसके बिना वह विस्तार नहीं पा सकती उसी प्रकार जीव जब अपनी आत्मा रूपी लता को प्रभु रूपी वृक्ष के आश्रय से बढ़ाएगा तभी उस आत्मा रूपी लता में दिव्य फल की प्राप्ति सम्भव है जो अथक परिश्रम के बाद ही लता या बेल पर लगता है। एक अन्य रूपक प्रस्तुत है —

प्राण तरवर सुरति जड़, ब्रह्म भोमि ता मांही।
रस पीवै फूलै फलै, दादू सूकै नाँहि।¹

प्रस्तुत साखी में प्राण के लिए तरवर, ध्यान के लिए जड़ व ब्रह्म के लिए भूमि का रूपक ग्रहण कर दादू ने ब्रह्म की सर्वव्यापकता की कल्पना को साकार किया है कि — वृक्ष का अस्तित्व तभी होता है, जब उसकी जड़ें भूमि में दूर-दूर तक फैली हों अर्थात् ब्रह्म रूपी भूमि में लगा हुआ प्राण रूपी जो वृक्ष है जब तक उसकी जड़ें अर्थात् (साधना या ध्यान) उस ब्रह्म रूपी भूमि में नहीं फैलेगी तब तक उस परमसत्ता रूपी फल की प्राप्ति नहीं होगी जो सदैव रस सिक्त रहता है।

दादू के काव्य में ऐसे अनेक स्थल हैं जिसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म उपादान के माध्यम से गूढ़ भाव प्रकट किए गए हैं। यथा — संसार की निस्सारता को 'सेमल के फूल' से स्पष्ट करते हुए एक और रूपक प्रस्तुत है —

मनरे रांम बिना तन छीजै।
जब यहु जाइ मिलै माटी में, तब कहु केसै कीजै।।टेक।।

1. दादूदयाल ग्रन्थावली, बेलि कौ अंग 36, साखी 4, पृ० 303
2. दादू ग्रन्थावली, परचा कौ अंग साखी 115, पृ० 55

पारस परसि कंचन करि लीजै, सहज सुरति सुषदाइ ।
 माया बेलि विषै फल लागे, तापरि भूलि न भाई ।।1।।
 जब लग प्राँण पिंड है नीका, तब लग ताहि जिनि भूलै ।
 यह संसार सेंबल के सुक ज्यँ, तापरि तू जिनि फूलै ।।2।।
 औसरि यह जाणि जग जीवन, समझि देषि सुष पावे ।
 अंग अनेक आन मति भूले, दादू जिनि डहकावे ।।3।।¹

प्रस्तुत पद में माया को ऐसी बेल के सदृश बताया गया है जिसके ऊपर केवल विषैले फल लगते हैं जिनको खाने के पश्चात् व्यक्ति जीवन के वास्तविक लक्ष्य से अर्थात् ईश्वर से दूर हो जाता है और जब तक जीवन रहता है तब तक उसी में लिप्त रहता है और ये भूल जाता है कि ये संसार सेमल के फूल के सदृश है जोकि देखने में बहुत सुन्दर लगता है, परन्तु इसकी सुन्दरता क्षणिक ही होती है और उसके पश्चात् वह झड़ जाता है उसी तरह मानव जीवन दुर्लभ है और चार दिन बाद जब हम से ये जीवन छिन जाएगा तक हमें ये अवसर दोबारा नहीं मिलेगा कि हम उस परमसत्ता की वास्तविकता को जान पाए हमें चाहिए कि जो अवसर मिला है उसे परमसत्ता को पाने के लिए जो रास्ते बता दिए गए हैं उन पर चलें।

वृक्ष और बेलि दोनों तात्त्विक रूप से एक होते हुए भी अपनी विकास प्रक्रिया और स्वरूप में अलग-अलग भावों की व्यंजना करते हुए जीवन व्यंजक रूपकों के निर्माण के लिए अवकाश दे देते हैं। दादू ने कबीर आदि अन्य सन्तों की तरह 'बेलि' को उपादान बनाकर अनेक रूपकों की संरचना की है।

5.9 गुणवंती बेलि से सम्बन्धित रूपक

गत अध्याय में कबीर के रूपकों पर विचार करते हुए हम गुणवंती बेलि की अवधारणा और उसके आधार पर रूपक संरचना पर विस्तार से विचार कर चुके हैं।

प्रकृति में लता (बेलि) का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। कबीर की ही भांति दादू ने भी इस बेलि को गुणों से परिपूर्ण बताया है।

1. दादू ग्रंथावली, पदावली 22, पृ० 318

गुण प्रत्यक्ष के विषय नहीं है, किन्तु इनके कार्यों द्वारा इनके अस्तित्व का अनुमान किया जाता है, इनमें से प्रथम गुण को सत्त्व कहते हैं। यह कार्यक्षम चेतना है और इसीलिए चेतनामय अभिव्यक्ति की ओर प्रवृत्त होता है तथा मनुष्य में सुख उत्पन्न करता है। दूसरा गुण रजस है जो समस्त क्रिया का स्रोत है और दुःख को उत्पन्न करता है। रजोगुण हमें एक उत्तेजनामय सुख तथा सतत् उद्यम को जीवन की ओर ले जाता है। तीसरा तमोगुण है जो क्रियाशीलता में बाधा पहुँचाता है तथा उदासीनता अथवा निरुत्साह उत्पन्न करता है और अज्ञान व आलस्य की ओर प्रेरित करता है।¹

ये तीनों गुण प्रकृति के आधार हैं। सभी वस्तुएँ इन तीनों गुणों से मिलकर बनी हैं। ये गुण प्रकृति के घटक व अवयव को स्पष्ट करते हैं इसीलिए इन्हें गुणों की संज्ञा से अभिहित किया है। दादू ने गुण की उपरोक्त अवधारणा के आधार पर ही 'गुणवंती बेल' के सन्दर्भ को अनेक अर्थों में ग्रहण कर उसका लौकिक व पारलौकिक स्वरूप स्थिर किया है —

दादू बहु गुणवंती बेलिहै, ऊगी कालर माँहि।
सींचैं षारे नीर सों, ताते निपजे नाहि।²

प्रस्तुत रूपक में गुणवन्ती बेलि से त्रिगुणात्मक माया के स्वरूप की व्यंजना की है। कालर या बंजर को दादू ने अलग-अलग सन्दर्भों में लिया है। एक स्थान पर वे इसे भक्ति विहीन एवं आध्यात्मिक चेतना से रहित जीवन के संदर्भ में लेते हैं तो दूसरे स्थानों पर कालर के द्वारा लौकिक जीवन के स्वरूप के अभाव की व्यंजना करते हैं।

प्रस्तुत रूपक में दादू की गुणवन्ती बेलि (त्रिगुणात्मक माया) कालर (लौकिक चेतना से शून्य) मनोभूमि में उत्पन्न भी हो जाती है लेकिन उसे यदि खारे जल (उदासीनता) एवं विरक्ति प्रधान जीवन की मनोचेतना से जब सींचा जाता है तो वह और विकसित नहीं होती। खारे पानी से तात्पर्य प्रेमपूर्ण मन से भक्ति में न लीन हो पाने से है।

1. डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, पृ० 261

2. दादूदयाल ग्रंथावली, बेलि कौ अंग, पृ० 10

प्रकृति में बेलि जैसे खारे पानी के पड़ने से कुम्हला जाती है, वैसे ही यह गुणवंती बेल जो प्रभु के अनंत गुणों से परिपूर्ण है, पूर्ण मन से भक्ति में न रमने के कारण अनुकूल परिणाम नहीं देती।

गुणवंती बेलि के रूपक के माध्यम से ही दादू अन्य भाव की व्यंजना करते हैं। यह कवि की अपनी विशेषता है कि एक ही उपादान से वह विभिन्न भाव व्यंजक रूपकों की संरचना करने में सक्षम होता है। निम्नलिखित रूपक देखिए –

दादू बहु गुणवंती बेलि है, मीठी धरती मांहि ।
मीठा पाणी सींचिए, दादू अमर फल षाहिं ।।¹

साधना के लिए सिंचाई रूपक लेकर दादू का मत है कि जब प्रभु प्रेम से हृदय भरा हो व साधना द्वारा उसे निरन्तर जीवंतता प्रदान की जाए तभी प्रभु-भक्ति रूपी बेल जो कि अनन्त गुण राशि से परिपूर्ण है उसमें मोक्ष या दिव्यानंद रूपी फल लगेगा। खेती की सफलता के लिए मीठे पानी से सींचने की आवश्यकता पड़ती है। पानी खारा होने पर बेल कुम्हला जाती है। भक्ति भी उसी बेल की भांति है जो प्रेम पूर्ण हृदय से की जाए तो ही ईश्वर प्राप्ति रूपी फल की प्राप्ति होती है। इसके अभाव में केवल ऊपरी दिखावा करने वाले के लिए यह सम्भव नहीं है। अतः परब्रह्म रूपी गुणों से युक्त बेल की प्राप्ति के लिए अन्तर्मन का समर्पण आवश्यक है। प्रेम रूपी मीठे पानी के पश्चात ही प्रभु प्रेम रूपी बेली भक्त के लिए पुष्पित, पल्लिवत और गुणयुक्त हो पाती है।

इसी चेतना को दादू के निम्नलिखित पद में देखा जा सकता है –

बेलि आनंद प्रेम समांइ ।
सहजै मगन रामरस पीवै, दिन दिन बंधती जाइ ।।टेक ।।
सतगुरि सहजै वाही बेली सहज गगन घर छाया ।
सहजै सहजै कूपल मेल्है, जाणै अवधू राया ।।1 ।।

1. दादूदयाल ग्रंथावली, बेलि कौ अंग साखी 11, पृ0 304

आतम बेली सहजै फूलै, सदा फूल फल होइ ।
 काया बाडी सहजै नीपजै, बूझै विरला कोई ।।2।।
 मन हठ बेली सूकण लागी, सहजै जुगि जुगि जीवै ।
 दादू बेलि अमर फल लागै, सहजि सदा रस पीवै ।।3।।¹

‘सहज’ शब्द का प्रयोग दादू के लौकिक व अलौकिक दोनों दर्शनों का मूलभूत तत्त्व है। उपरोक्त रूपक में जहाँ एक ओर दादू ने परमतत्त्व के साक्षात्कार को ‘सहज’ शब्द के माध्यम से अभिव्यक्त किया है, वहीं दूसरी ओर सहजता एक जीवन पद्धति भी है, जिसमें कर्त्ता, भोक्ता, वैराग्य, प्रवृत्ति पथ साधना आदि कठिन मार्ग पर न चलकर सीधे व सरल मार्ग को सुझाया जाता है।

सांसारिक बेल भी एकाएक छाया नहीं प्रदान करती वरन् उसके लिए सुदीर्घ प्रक्रिया का निर्वाह है, जिसके द्वारा वह बीज से कोपल व तत्पश्चात् बेल के रूप में निरन्तर विस्तार पाती है व आनन्द प्रदायी बनती है उसी आध्यात्मिक सन्दर्भ में सतगुरु रूपी माली द्वारा अत्यन्त सहज रूप में प्रभु भक्ति रूपी अंकुर जीव के हृदय में रोपा जाता है धीरे-धीरे ही परमसत्ता प्राप्ति की अनुभूति से वह और गहन रूप धारण कर लेता है।

अतः जो साधना अत्यन्त दुष्कर व कठिन प्रतीत हो रही थी दादू की उपरोक्त साखी में वह जटिलता से सरलता की ओर प्रवृत्त होती गई है।

‘आत्मा’ जो अगम, अगोचर है जिसके लिए सभी विद्वानों के प्रयास आज तक निरर्थक हो गए हैं परन्तु कोई भी उसके स्वरूप को विश्लेषित नहीं कर पाया है। ‘आत्मा’ के लिए ‘बेल’ रूपक लेकर दादू ने इस जटिलता को सरल रूप में सहज ही व्याख्यायित कर दिया है—

दादू बेलि आतमां, सहज फूल फल होइ ।
 सहजि सहजि सतगुर, कहे बूझै बिरला कोई ।।2।।²

1. दादू ग्रंथावली, पदावली (36), पृ० 392

1. दादू ग्रंथावली, बेलि कौ अंग 36, साखी 2, पृ० 303

उपरोक्त साखी में आत्मा के लिए 'बेलि' का रूपक लेकर दादू ने नूतन अभिव्यंजना प्रस्तुत की है कि – सांसारिक बेलि माली प्रक्रिया द्वारा निरन्तर फूल व फलदायी रहती है। सतगुरु उसी माली की भांति है वह जैसे-जैसे जीव को सहज ज्ञान देता है जीव की आत्मा भी सांसारिक बेल की भांति बंधती अर्थात् घनी होती चली जाती है। इतने सरल रहस्य को साधारण जनता क्यों नहीं समझ पाती इसे समझाने के लिए दादू ने प्रकृति का महत्त्वपूर्ण उपादान 'वृक्ष' या तरु है। इसी वृक्ष द्वारा दादू ने अपनी अभिव्यक्ति को जीवंतता प्रदान की है।

दादू ने प्रकृति के विराट क्षेत्र से सार्थक शब्दों का चयन किया है। उनके प्रकृति से सम्बन्धित शब्द आध्यात्मिक अर्थ की व्यंजना करते हैं। आधार, उजास, गुफा, गगन, चकोर, चातिक, पंखी, निर्झर, पतंगा, बादल, मानसरोवर, वसंत, हंस, हस्ती उनके प्रिय शब्द रहे हैं। वास्तव में शब्द का मूल्य उसके अर्थ की गहन गम्भीरता से है, गम्भीरता से तात्पर्य अर्थ की गहराई से है, जो अनुभूति की गहनता और वैचारिक ऊँचाई से प्राप्त होती है। वैचारिक उच्चता अध्ययन पर नहीं, अनुभव पर केन्द्रित होती है उनकी गम्भीरता पारदर्शी है, उसमें कहीं गोपन की चेष्टा या तर्क की रूक्ष, जटिलता नहीं नजर आती।¹

दादू ने अपनी गम्भीर पारदर्शी आँखों से जीवन और जगत के मानव प्रकृति के रहस्य का उद्घाटन करने की चेष्टा की है इसीलिए उनके रूपकों में अर्थ का व्यापक प्रवाह नहीं, गम्भीरता का स्रोत शान्त भाव से अनन्त अर्थों का वाहक बन जाता है।

कृषि में 'पशुपालन' भी महत्त्वपूर्ण अंग है दादू के काव्य में पशुओं के माध्यम से गम्भीर आध्यात्मिक अभिव्यंजनाएँ की हैं।

5.10 पशुपालन सम्बन्धी रूपक

कृषक जीवन में गाय आदि पशुओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। जीवन सन्दर्भों में उपयोगिता के कारण ही गाय की कामधेनु के रूप में भी पौराणिक कल्पना है। दादू कृषक जीवन और पौराणिक कल्पना को आधार बनाकर अपने रूपकों की रचना करते हैं।

1. डॉ० विद्योत्तमा मिश्र, दादू दास तुम्हारा, पृ० 160-162

कामधेन दुहि पीजिए, ताकूं लषै न कोइ ।
 दादू पीवै प्यास सौ, महारस मीठा सोइ ॥106॥
 कामधेन दुहि पीजिए, अकल अनूपम एक ।
 दादू पीवै प्रेम सौं निम्रल धार अनेक ॥105॥
 कामधेन दुहि पीजिए, अलष रूप आनंद ।
 दादू पीवै हेत सौं, सुषमन लागा बंद ॥107॥
 कामधुन दुहि पीजिए, अगम अगोचर जाइ ।
 दादू पीवै प्रीति सौं, तेज पुंज की गाइ ॥108॥
 कामधेन करतार है, अमृत सरवै सोइ ।
 दादू बछरा दूध कूं पीवै तो सुष होइ ॥109॥¹

पौराणिक परिकल्पना में कामधेनु 'गाय' की यह विशेषता है कि वह जीव की प्रत्येक इच्छा को पूरी करती है। उपरोक्त रूपकों में कामधेनु शब्द ऐसी भक्ति रूपी गाय के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसका पान करने से महारस की भांति तृप्ति मिलती है। गाय को दुहने में जिस प्रकार अनेक धाराएँ निकलती हैं उसी प्रकार परब्रह्म रूपी कामधेनु से भी जीव (दादू) प्रेम रूपी धारा का पान कर रहा है, जिसका वर्णन गूंगे के गुड़ के समान है। उसने कामधेनु रूपी परमसत्ता के मर्म को समझ लिया है कि भक्ति व साधना से उसे निरन्तर दुहने से ही 'ब्रह्म रस' की प्राप्ति सम्भव है दादू का मानना है कि उसने निरन्तर साधना में रत रहकर अन्ततः उस परमसत्ता रूपी कामधेनु को प्राप्त कर लिया है —

एक और साखी में कबीर की यह रूपक संरचना देखिए —
 ऐसी एक गाय है, दुझै बारहमास ।
 सो सदा हमारे संगहै, दादू आत्म पास ॥101॥²

साधना की सभी प्रक्रियाओं से गुजरने के पश्चात् अब दादू को परब्रह्म रूपी ऐसी गाय की प्राप्ति हो गई है जो बारहमास इच्छाओं की पूर्ति करती है और सदैव उसके साथ ही रहती है।

1. दादू ग्रंथावली, परचा कौ अंग (4), साखी 106, 105, 107, 108, 109, पृ० 54

2. दादू ग्रंथावली, परचा कौ अंग 4 साखी 110, पृ० 54

पशुओं का स्वभाव, प्रकृति, क्रियाकलाप आदि को उपादान बनाकर दादू ने जिन रूपकों की संरचना की है। वे उनकी काव्य प्रतिभा के परिचायक हैं। ऐसे रूपकों से आध्यात्मिक साधना सन्दर्भों की व्यंजना बड़े मनोरम रूप में हुई है। एक उदाहरण देखिए —

अवधू कामधेन गहि राषी।
 वसि कीन्हीं तब अमृत सरवै, आगै चार न नांषी॥टेक॥
 पोषतां पहली उठि गरजै, पाछै हाथि न आवै।
 भूषी भूली दूध नित दूणां, यूं योधेन दुहावै॥1॥
 ज्यों ज्यों षीड़ पड़ै त्यों दूझै मुकती मेलहया मारै।
 घाटा रोकि घेरि घेरि आणै, बांधी कारिज सारै॥2॥
 सहजै बांधि कदै न छूटै, करम बंधन छुटि जाइ।
 काटि करम सहज सौ बांधी, सहजै माहि समाई॥3॥
 छिन छिन माहि मनोरथ पूरै, दिन दिन होई अणंदा।
 दादू देषत साई पावै, कलि अजरांवर कंदा॥4॥¹

यहीं पशु की स्वाभाविक प्रकृति के रूपक द्वारा परमसत्ता की प्राप्ति साम्य की अनुभूति की व्यंजना है। सामान्यतः पशुओं की यह प्रकृति होती है यदि उनके साथ कठोर व्यवहार किया जाए कि वे अनुकूल परिणाम नहीं देंगे। इसके विपरीत यदि उनके साथ अच्छा व्यवहार किया जाए तो वे अनुकूल परिणाम देंगे। पशुओं के व्यवहार के सन्दर्भ में एक ओर बात द्रष्टव्य है। कि यदि पशुओं को अच्छा चारा दिया जाए तो वो उतना अच्छा दूध देती है उसके साथ बर्बर व्यवहार किया जाए, व कठोरता से रखा जाए तो पशु कभी अनुकूल परिणाम नहीं देंगे। इसे आध्यात्मिक सन्दर्भ में इस प्रकार लिया जा सकता है कि ईश्वर वो कामधेनु रूपी गाय है जिसे साधनारूपी भूसी जितनी अधिक मात्रा में दी जाएगी व जितने सहजता से परमसत्ता प्राप्ति के उपाय किए जायेंगे उतनी ही सहजता से परमसत्ता प्राप्ति का जीव का मनोरथ सफल हो जाएगा। आत्मा परमात्मा के अद्वैत की चर्चा में पशुपालन संस्कृति से अनेक तत्त्वों को ग्रहण करते हुए दादू के रूपकों की संरचना दिखाई देती है। इन रूपकों से जहाँ

एक संस्कृति विशेष की झलक दिखाई देती है वही आध्यात्मिक चेतना की सुन्दर व्यंजना भी है। कुछ उदाहरण देखिए —

घीव दूध में रमि रहया, व्यापक सबही ठौर।
 दादू बकता बहुत, मथि काढ़े ते और॥ (22-14)
 सबद दूध धृत रामरस कोइ साध विलोवणहार।
 दादू अम्रित काढ़ि ले, गुरमुखि गहै विचार॥ (1-30)¹

उपरोक्त रूपकों में घी को आत्मा व दूध को परमात्मा के रूप में ग्रहण कर दादू का मत है कि जिस प्रकार दूध के अन्दर ही घी निहित होता है उसी प्रकार जीव के अन्दर ही परमसत्ता का वास है जिसे अज्ञानी जीव समझ ही नहीं पाता। दूसरे रूपक में भी शब्द अर्थात् परमात्मा रूपी दूध में घी रूपी रामरस निहित होता है परन्तु घी उस दूध को बहुत मथने के पश्चात् ही प्राप्त होता है अर्थात् साधना रूपी मथाई के पश्चात् ही घी रूपी राम रस की प्राप्ति सम्भव है। यह रामरस सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है जिस तरह यदि पानी के भीतर प्रवेश करके हम आँख खोलें तो हमें चतुर्दिक पानी ही पानी दिखाई देगा। उसी भाँति दादू ने सृष्टि के प्रत्येक कण में निहित रामरस को पहचाना है।

5.11 सामन्ती जीवन व कृषक दुर्दशा सम्बन्धी रूपक

धर्म समाज की धुरी है तो राजनीति नियामिका, वह भी उसी के द्वारा संचालित होती है। दूसरे शब्दों में समाज के हर क्रियाकलाप में अप्रत्यक्ष प्रत्यक्ष उसका अस्तित्व प्रमाणित होता रहा है। दादू के काव्य की मूल संवेदना आध्यात्मिक हैं धार्मिक विकृतियों के बोझ तले दबी और साम्प्रदायिक कट्टरता से सहमी जनता को धर्म के प्रगतिशील व्यक्तित्व से परिचित कराने के लिए उस पथ का पार्थिव बनना उनकी जीवनचर्या बन गई, जिससे साम्प्रदायिक कट्टरता से टक्कर लेने और उसे वाक्शक्ति एवं सतर्क प्रमाणों द्वारा परास्त करने की क्षमता भी उसमें आ गई। साम्प्रदायिकता धार्मिक बनकर जब शासन सूत्र को अपने हिसाब से चलने की विवशता से जिलाने लगता है तभी अव्यवस्था का बोलबाला हो जाता है।¹

1. दादू ग्रंथावली, सबद कौ अंग, पृ० 606

1. डॉ० विद्योत्तमा मिश्र, दादूदास तुम्हारा, पृ० 107

दादू का युग इसी अव्यवस्था का युग था। केन्द्रीय सत्ता के अत्याचारों से हिन्दू जाति पस्त हो चली थी। हिन्दू राजाओं में संगठन का अभाव था और उनमें ऊँच-नीच, जाति-पाति, छुआ-छूत का भेदभाव की भावना दृढ़ होती जा रही थी। दादू का युग अकबर का युग था। अकबर की नीति संहारपरक नहीं थी। उससे पहले हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष काफी रक्तरंजित रहा। राजनैतिक वर्चस्व एवं धार्मिक प्रहार दोनों की तलवार पर आश्रित थे अकबर ने अपने पूर्वजों के संघर्षरत जीवन से ही जान लिया था कि साम्राज्य विस्तार की नीति तलवार के बल पर सफल नहीं हो सकती, तो धार्मिक अत्याचार भी विद्रोह को जन्म देगा। फलतः उसने राजपूत राजाओं से आत्मीयता बढ़ाई और धार्मिक कट्टरता के स्थान पर सौहार्द का रास्ता अपनाया। धर्म के नाम पर लगे करों को समाप्त किया परन्तु राजपूत राजाओं से उसे युद्ध करने पड़े। विद्रोही शासकों के विद्रोह के दमन के लिए अकबर ने कूटनीति अपनाई। अकबर ने धार्मिक समन्वय नीति अवश्य अपनाई परन्तु शासक वर्ग व आम जनता के बीच की खाई वैसे ही बनी रही।

कृषि जीवी जनता कभी-कभी आक्रोश में आकर संघर्ष पर आमादा हो जाती परन्तु राजकर्मचारी उनका भी दमन कर देते कभी-कभी ऐसा संघर्ष भी भीषण रूप धारण कर लेता उसमें भी कितनों का बलिदान होता पर परिणाम में शून्यता ही रहती। दादू ने इस सच्चाई को अपने काव्य में रूपकों के माध्यम से व्यक्त किया है। दादू को भी विश्वास है कि भौतिक उपलब्धियों की उसकी चाहत ही समाज को मूल्यहीन आस्थाहीन बना रही है।¹

दादू का काव्य विद्रोह की अपेक्षा जीवनधारा को बदलने की प्रगतिशील तर्कसम्मत वकालत करना दृष्टिगत होता है। दरबार से परे रूढ़ियों के बोझ तले दबे हिन्दू-मुस्लिम जनता को मुक्ति की सांस दिलाना उनका लक्ष्य रहा। इसीलिए दादू को काव्य में व्यक्त यथार्थ के जीवन्त प्रसार का समीक्षण परिवेश के सूत्रों की अपेक्षा करता है। राजनैतिक व्यवस्था की अमानवीयता उनकी रचनाओं में क्षोभ एवं उद्बोधन रूप में नजर आती है।

1 डॉ० विद्योत्तमा मिश्र, दादू दास तुम्हारा, पृ० 98-99

राजनैतिक विद्रोह की क्रान्तिकारी भूमिका में सन्त कवियों से इतनी ही अपेक्षा की जा सकती है कि वे शासक को उसके कुकर्मों से परिचित करा उसे झिंझोडकर आत्ममूल्यांकन की जमीन पर ले जा रहा है कि नहीं।

दादू इस कसौटी पर पूर्णतया खरे उतरे हैं। दादू का राजदरबार से कोई सरोकार नहीं था। राजनैतिक जीविका के प्रति घृणा का भाव उनके राजनैतिक पतन के साक्षात्कार को व्यक्त करता है – दादू ने तत्कालीन राजनीतिक शोषण व अत्याचार को बड़ी बारीकी से देखा, दोहरी तेहरी मारों में पिसती आम जनता के प्रति उनकी पूरी सहानुभूति थी इसीलिए राजदरबार से सरोकार न होने पर भी वे राजनैतिक यथार्थ को अनदेखा नहीं करते। एक रूपक देखिए –

दादू माया का बल देषि करि, आया अति अहंकार।
अंधा भया सूझै नहीं, का करिहै सिरजनहार।।
दादू मोट विकार की, कोई न सकई डारि।
वहि वहि मूए बापुडे गये बहुत पचिहारि।।¹

उपरोक्त रूपकों में दादू ने साम्राज्य विस्तार के प्रबल आकांक्षी अत्याचारी राजाओं को वे बार-बार ठहरकर सर्वशक्तिमान की सत्ता का ध्यान कराते हैं। इसी सन्दर्भ में सत्ता एवं सम्पत्ति की व्यर्थता का संकेत भी चुभने की क्षमता रखता है।

दादू महत्त्वाकांक्षा के अधीन जुल्मी शासक को अन्धत्त्व से मुक्ति की कामना से फटकारते हैं 'सृजनहार से बढकर कोई नहीं'।

दूसरे रूपक में 'मोट विकारी' अर्थात् बड़े अहंकारी राजा भी सृजनहार के सामने बेचारे हो गए। जीवन से हाथ उन्हें भी धोना पड़ा। सबको जोर जुल्म की बंदौलत बेचारा बनाने वाला स्वयं बेचारा हो गया यही सत्य है, सृजनहार के न्यायमय दण्ड विधान के आगे किसी अत्याचारी की नहीं चलती।

1. परशुराम चतुर्वेदी, दादू ग्रंथावली, माया कौ अंग, साखी 15, 129

दादू के काव्य में राजा की क्रूरता दादू की निर्भीक सत्यवक्ता और प्रखर जनपक्षधरता की परिणति है। कुछ रूपक प्रस्तुत हैं —

दादू मिहिर महावति मनि नहीं, दिल के वज्र कठोर,
काले काफ़िर ते कहिए मोमिन मालिक और।¹

उपरोक्त रूपकों में राजदरबार की सफलता के लिए दिल की वज्रवत कठोरता, निर्दयता, दर्दहीनता, घमण्ड, कथनी-करनी में फर्क होना, दोहरे तिहरे चरित्र वाला होना आवश्यक माना गया है। दादू इस क्षणिक सफलता से प्रेरित अमानवीय कर्म व्यापार के प्रति अपना आक्रोश निर्भीकता से व्यक्त करते हैं और इस सत्य से जनसाधारण को अवगत कराते हैं कि आज जनता की विश्वसनीयता तार-तार हो रही है। इसके मूल में कथनी-करनी में विभेद और अमानवीय आचरण ही है। यही आज का राजनैतिक सच है। आम आदमी के प्रति राजा अपनी विश्वसनीयता को खो बैठा है, अविश्वास से त्रस्त प्रजा असहाय सी हो रही है।

एक अन्य रूपक में भी इसी शोषण पर कुठाराघात करते हुए दादू कहते हैं कि — प्रजा का शोषण और उस पर अत्याचार केवल राजा ही नहीं करता, बल्कि उससे अधिक तो अधीनस्थ कर्मचारी करते हैं और राजा कर्मचारियों की सूचनाओं को ही सत्य मान लेता है। उपरोक्त रूपक में इसी दर्द को मर्मस्पर्शी ढंग से उकेरा गया है। इसी 'दर्द' से जुड़ा एक अन्य रूपक प्रस्तुत है —

दादू गला गुसे का काटिये, मीयाँ मनी कूं मारि,
पंचौ बिसमिलि कीजिए, ये सब जीव उबारि।।32।।¹

दोहरे शासन के द्वन्द्व में पूजा की फरियाद तक राजा के पास नहीं जा पाती, बीच में ही उनका दमन कर दिया जाता है। राजा के लिए संवेदनशीलता लोकतांत्रिक दृष्टि, साधुवत आचरण, सरलता एवं दयाधर्मी होना अनिवार्य है परन्तु इसके विपरीत आचरण वाला

1. दादू ग्रंथावली, सांच कौ अंग, 1, पृ० 147

1. दादू ग्रंथावली, वैर निवृत्ता कौ अंग, 32, पृ० 275

व्यक्ति राजा बन गया और उसे सफलता की ओर अग्रसर होते देख दादू व्यथित हो उठते हैं और राजा को सम्बोधित करते हैं कि गला काटना ही है तो गुस्से का गला काटो, इन्सान का नहीं क्योंकि सृजनहार तुम्हें कभी भी नष्ट कर सकता है।

राज दरबार के सत्य को उन्होंने दूर रहकर भी पैनी आँखों से देखा और भयमुक्त हो व्यक्त किया उनका लक्ष्य प्रजा गुमराह न हो और राजा सचेत हो।

दादू ने जजिया कर की क्रूरता की पीड़ा को अत्यधिक निकट से पहचाना। झूठ, फरेब और धूर्तता सफलता के सोपान बनने लगे इसमें निहित मूल को दादू ने पहचाना उनके काव्य में जातीय चेतना के साथ मुस्लिम के बल प्रयोग की क्रूरता कहीं सांकेतिक रूप में तो कहीं अभिधा रूप में मिल जाती है।

समाज में व्याप्त उपभोक्तावादी संस्कृति के दुष्परिणाम की चर्चा में दादू एक यथार्थवादी कवि की तरह नजर आते हैं। शोषण व सामंती व्यवस्था पर दादू ने राजनैतिक व समाज व्यवस्था पर चुभती शैली में प्रहार किया है। भौतिक उपलब्धियों की अतिशय लालसा एवं दैहिक आवश्यकताओं के वेग ने समाज को संवेदनशील और अव्यवस्थित कर दिया, दादू इस तथ्य की चर्चा पीड़ा के साथ करते हैं — हिन्दुओं की जाति भेदपरक जीवन पद्धतियों ने मिथ्या अहं में जिलाकर उसे अत्यधिक जर्जर बना दिया है। इस भेदपरक अवहेलना ने जड़ता ला दी। दादू इस स्थिति से भली-भांति अवगत हो चुके थे इसीलिए हिन्दुओं का जातीय भेद और मुस्लिम का बल प्रयोग उनके सामाजिक विश्लेषण का प्रथम पक्ष बन जाता है। भले ही उनकी केन्द्रीय संवेदना में धर्म ही रहा हो। भेद नीति से अमानवीय तो बल प्रयोग है, जाति परिवर्तन का बल प्रयोग जीवन को लाचारी की अति में ढकेल देता है, जिस दमघोंटू खाई में सांस लेकर जीना भी दुश्वार लगता है।¹

दादू ऐसे क्षणों से सीधा साक्षात्कार करते हैं। सत्ता में पूरी सामर्थ्य के साथ प्रतिष्ठित होने पर भी उनके (मुस्लिम शासकों) कुकृत्यों पर निर्भीकता से खुलेआम सवालिया निशान

1. डा० विद्योत्तमा मिश्र, दादू दास तुम्हारा, पृ० 108

लगाकर चुनौती देते हैं। इस चुनौती में आक्रामक मुद्रा की लठैती नहीं, मानवीय संवेदना का वह पैमाना कसौटी बनकर आता है जहाँ चौराहे पर खड़े होकर दादू उसके सारे बल प्रयोग को खारिज कर देते हैं उस पर लगी तथाकथित धर्म की गुहार को तार-तारकर उसके साम्प्रदायिक कट्टरता वाले खौफनाक चेहरे को उजागर कर देते हैं। इन साहसिक अभिव्यक्ति में तर्क और धर्म के विराट रूप की वह छवि सामने आती है जो सबको निरुत्तर कर अपना सिक्का जमा देती है और दादू एक सन्त की हैसियत से निर्भीक होकर इस सत्य का उद्घाटन अपने रूपकों के माध्यम से करते हैं —

नीच ऊँच मधिम को नाही, देशौ राम सबनि कै मांही।
दादू सांच सवनि मैं सोई, पेड़ पकडि जनि नृभै होइ॥¹

उपरोक्त रूपक में जातीय ऊँचाई स्पष्ट है। प्रभु तो ऊँच नीच न देखकर मन से व्याप्त श्रद्धा व सच्चे भाव को देखता है। मूल तो उस आकाश में है वृक्ष की शाखा-प्रशाखा के रूप में सृष्टि व्याप्त है। जब संसार के प्रत्येक अवयव में ब्रह्म का साक्षात्कार सम्भव है तो छोटे-बड़े का भेद क्यों? कुछ अन्य रूपक देखिए —

अलह राम छूटा भ्रम मोटा
हिन्दू तुरक भेद कहु नाही, देखौ दरसन तोरा।
सोई हस्त पाव पुनि सोई, सोई एक सरीरा॥
यहु सब खेलु खलिक हरि तोरा, तोहि एक हरि लीन्हा।
दादू जुगति जानि करि ऐसी, तब यह प्रान पतीना॥²

हिन्दुओं की जातीय अवहेलना से क्षुब्ध तथा जज़िया कर की क्रूरता से पीड़ित गरीब निम्न तबके की जातियों ने मुस्लिम धर्म स्वीकार कर लिया लेकिन वहाँ भी उन्हें अत्यधिक अपमान व तिरस्कार का सामना करना पड़ा। हिन्दु तुर्क की जातीय भेद के मिथ्यात्व को उन्होंने भारतीय दर्शन के तर्क द्वारा स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है।

1 दादू ग्रथावली, राग भैरु, पद 29, पृ० 478

2 आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, सत काव्य धारा, पृ० 140

उपरोक्त रूपक में यही तथ्य है कि – जातीय और देहधारी का भेद तो बाह्य है, पर सब में आन्तरिक एकता है। यह एकता केवल परमात्मा की सत्ता के कारण ही नहीं है, बल्कि आन्तरिक क्षमता की एकता बनाम समानता की, भौतिक बनाम दैहिक पुष्टि की है जिसके लिए आध्यात्मिक व व्यावहारिक तर्क को सहजग्राह्य रूप में प्रस्तुत किया गया है कि – नेत्र अलग हैं पर देखने की शक्ति एक सी है, यही स्थिति अन्य अंगों की है। तब मुसलमान हिन्दू भेद क्यों? यह मिथ्या को सत्य मानना है।

आत्मा में स्थित परमात्मा का सत्य भले ही साधना की अपेक्षा रखता हो, पर यह तर्क आध्यात्मिक नहीं प्रत्यक्ष प्रमाण है। अनुमान पर नहीं, प्रत्यक्ष एहसास पर आधारित है। इस आन्तरिक एकता का आभास होने पर जातीय भेद का भ्रमजाल उसका मिथ्या फैलाव स्वतः तिरोहित हो जाता है।

आज भारत आजाद है परन्तु दादू का युग विदेशी हुकूमत से त्रस्त और पस्त होकर घुटने टेक देने के बावजूद संघर्ष का काल था। मुस्लिम सत्ताधारियों एवं उनके इर्द-गिर्द रहने वाले कर्मियों में भोग विलासिता की अति ने दोहन शोषण एवं जोरो जुल्म की प्रवृत्ति को जन्म देकर उसका पूरा संवर्धन पोषण एवं संरक्षण किया।¹

दादू ने माया की चर्चा करते समय आध्यात्मिक सांचे से इसी सामाजिक यथार्थ पर उतर आते हैं और भौतिक उपलब्धियों के लिए होने वाले जोरो जुल्म की खुलकर भर्त्सना करते हैं। निम्नलिखित रूपक देखिए –

दादू झूठे तन कै कारनै कीए बहुत विकार,
गृहदार धन सम्पदा, पूत कुटुम्ब परिवार।
ता कारणि हरि आत्मा, झूठ कपट अहंकार,
सो माटी मिलि जाइगा, विसरया सिरजनहार।²

1. डॉ० विद्योत्तमा मिश्र, दादू दास तुम्हारा, पृ० 110

2. दादू ग्रंथावली, माया कौ अंग, 43, पृ० 132

इस झूठे शरीर के कारण अपने जीवन को हमने कुमार्गी बना दिया। दैहिक आवश्यकताओं और लालसाओं की अधीनता से इस जीवन को विकारग्रस्त कर लिया दूसरे शब्दों में आत्मा, झूठ, फरेब, दम्भ से आवृत्त हो गयी उसकी आवाज को दबाकर मानव धन सम्पत्ति के लिए अपने लोगों को भूला, वसूलों को उसने झटके से फेंक दिया, और ये जुल्म करने वाले मानवत्त्व से परे आत्मा को भुलाकर परमात्मा को भूल गया।

तत्कालीन शासन व्यवस्था पर ऐसे अनेक रूपक दादू के काव्य में बिखरे पड़े हैं —

दादू हस्ती हैवर धन देषि करि फूल्या अंगि न माइ।

भेरि दमामा एक दिन, सब ही छांड़े जाइ॥13॥¹

दादू जूवा षेले जाण राइ, ताकूं लषै न कोइ।

सब जग बैठा जीति करि, काहू लिपति न होइ॥15॥²

उपरोक्त सभी रूपकों में दादू ने देह की क्षणिकता और सारहीन सम्पत्ति की नश्वरता और प्राप्ति के मूल्यहीन पथ की अमानवीयता का दर्शन कराया है। शक्ति और सम्पत्ति की लालसा ने जुल्म करने वालों को हैवान बना दिया है। मुस्लिम बल प्रयोग के सन्दर्भ में वे बार-बार इसकी आलोचना करते हैं। अनुचित साधनों से सारहीन सम्पत्ति को अर्जित कर आदमी फूला नहीं समा रहा है। दादू इसी सन्दर्भ में सचेत करते हैं कि षडयन्त्र, कुचक्र, अव्यवस्था, शोषण से अर्जित सम्पत्ति और सारे साधन क्षण भर में नष्ट हो जाएंगे। सत्ता और सम्पत्ति को सर्वस्व मानकर जीने वाले लोगों में विलासिता, मदिरापान, फिजूलखर्ची, वेश्यागमन, द्यूत क्रीड़ा घर कर लेती है। आम जनता क्षोभ एवं विफल विद्रोह के बाद उन्हें उसी हाशिए पर खड़ा कर अपनी श्रेणी अलग कर लेती हैं।

ऐसी श्रेणी के लोगों के उद्गार हृदय को छू लेते हैं —

मांस अहारी महु पीवै, विषै विकारी सोइ।

दादू आतम रांम बिना, दया कहाँ थी होइ॥18॥¹

1. परशुराम चतुर्वेदी, दादू ग्रंथावली, माया कौ अंग, साखी 13, पृ० 128

2. दादू ग्रंथावली, साषीभूत कौ अंग, साखी 5, पृ० 300

3. दादू ग्रंथावली, साँच कौ अंग, साखी 1, पृ० 147

सत्ताधारी की जीवनचर्या का महत्त्वपूर्ण अंग मास मदिरा का सेवन है जिसके सेवन के बाद मानव में सही गलत का निर्णय लेने की क्षमता नहीं रहती दूसरे शब्दों में मानव न रहकर उसमें दानवी प्रवृत्तियाँ व्याप्त हो जाती है और ऐसे मनुष्यों से जिनमें राम का वास नहीं है उनके हृदय में दया कहाँ से आयेगी। चतुर्थ श्रेणी का मनुष्य तो इसी दया पर आश्रित था।

शोषकों के शोषण की भर्त्सना करते हुए दादू के अन्य रूपक प्रस्तुत है -

दादू दया जिन्हूके दिल नहीं, बहुरि कहावै साध।

जो मुष उनका देषिए, तौ लागै बहु अपराध॥११॥¹

दादू जोर करे मसकीन संतावै, दिल उसकी में दरद न आवे।

साईं सेती नांही नेह, ग्रव करै अति अपनी देह॥२१॥²

साधना-सम्पन्न लोगों की महफ़िल समाज में शोषण के किसी भी स्तर से न चूकना अपनी जीवन पद्धति समझी जाती थी, इस सुविधाभोगी लोगों की शोषण प्रधान नियति का खुलासा वे उपरोक्त रूपकों में करते हैं कि जिन दयाहीन लोगों को अपनी देह पर बड़ा गर्व है, यह मिथ्या गर्व ही उन्मादों को जन्म देता है और शक्ति का प्रभाव ही शोषण की प्रेरणा देता है। अपनी सत्ता के विस्तार और अर्थ के लिए जीने वाले लोग निर्मम व क्रूर हैं ऐसे दयाहीन शोषकों का मुँह देखना भी अपराध है यह प्रवृत्ति सुविधाभोगी लोगों की सभ्यता एक अनिवार्य जीवन पद्धति-सी बनती जा रही थी। दादू का भौतिक उपलब्धियों के प्रति घृणा का भाव इस बढ़ती प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया स्वरूप था। दादू धूर्तता झूठ एवं फरेब से पूर्ण महत्त्वाकांक्षी राजन्य सभ्यता के अतिरिक्त इस सम्पन्न समाज में भोगवादी और शोषणपरक दोहक पद्धति से खिन्न हो, श्रम प्रधान जीविका पद्धति को ही आदर प्रदान करते हैं।

श्रम प्रधान आजीविका में झूठ, फरेब, छल आदि की गुंजायश नहीं होती। विलासी लोगों द्वारा समाज का ये वर्ग सदैव पीड़ित किया जाता रहा है। इसका दर्द दादू के काव्य में अनेक स्थान पर मिलता है।

1. दादू ग्रंथावली, सांच कौ अंग, 147

2. दादू ग्रंथावली, सांच कौ अंग, साखी 21, पृ० 150

कृषकों की लगान वसूली की क्रूरता एवं उनके शोषण के क्रूरतम रूप की अभिव्यंजना उनकी पंक्तियों में भर्त्सना की मुद्रा में मिल जाती है। आध्यात्मिक संकेतों द्वारा यह भर्त्सना की गई है।

कृषकों के शोषण की निर्दयता का चित्रण दादू के निम्नलिखित रूपकों में देखा जा सकता है —

एक देस हम देषिया, तहाँ रुति नहिं पलटै कोई,
हम दादू उस देस के, जहाँ सदा एक रस होइ॥25॥
एक देस हम देषिया, बसती ऊजड़ नाहि।
हम दादू उस देस के सहज रूप ता मांहि॥26॥
एक देस हम देषिया नहि नेडै नहि दूरि,
हम दादू उस देस के रहे निरंतर पूरि॥27॥¹

उपरोक्त रूपकों में दादू उस देश का चित्रण कर रहे हैं जहाँ दैवी प्रकोप नहीं होता, पर वास्तविक समाज में विषय यह है कि यहाँ दैवी प्रकोप के कारण टैक्स न देने पर बस्ती उजाड़ दी जा रही है। यह असहजता राजा प्रजा की दूरी के कारण ही होती है, पर उजाड़ने वाला भी इन्सान ही है। राजा प्रजा में सामंजस्य बहुत अधिक निकटता एवं दूरी में सम्भव भी नहीं है, खुशहाली के लिए सौमनस्य अनिवार्य है। राजा के निकटस्थ विलास कर्मियों की क्रूरता राजा-प्रजा के बीच दूरी बनाए रखने में ही मशगूल रहती है। कृषकों का शोषण बहुत कुछ इसी व्यवस्था की परिणति ही कहा जाएगा।

कमजोर को दलित बनाकर उसे बेजान की तरह व्यवहार करने की परिपाटी सत्ता वैभव सम्पन्न लोगों में आम चलन बन चुकी है। इस शाश्वत सत्य को नकारा नहीं जा सकता। श्रमजीवी अभावग्रस्त लोग इसके भोगी बनते हैं — दादू ने शुष्क, क्रूर, संवेदनाहीन शोषकों के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की है। उनका मानना है अगर यही राजन्य जीवन की पद्धति समाज में ही जाएगी तो मानव मानवता से रहित होकर अपनी पहचान खो देगा, और क्रूरता का ताण्डव होगा —

1. दादू ग्रंथावली, मधि कौ अंग, 25, 26, 27, पृ० 195

दादू सो मोमिन मोमदिल होइ, सॉई कूं पहिचानै सोइ।
 जोर न करै, हराम न षाइ, सो मोमिन भिस्त मै जाइ।।28।।¹
 दादू भाव हीण जे पृथमी, दया विहूणा देस।
 भगति नहीं भगवंत की, तहाँ केसा परदेस।।44।।²

‘मोम दिल’ ऑच से द्रवीभूत होने वाला व्यक्ति ही प्रभु का साधक हो सकता है। हराम की कमाई खाने वाला और शक्ति से आतंकित करने वाला नरक में जाता है। ये दोनों पद्धतियाँ समाज में तेजी से हावी हो रही थी। मानव प्रत्यक्ष लाभ के लिए इन्हीं तौर तरीकों को अपना रहा था। यह रूक्षता एवं क्रूर भावहीनता दादू को व्यथित करती है।

दूसरे रूपक में भावहीन मानव के लिए बस्ती और दयारहित देश के लिए पीडा उपमान लेते हैं कि जहाँ भावहीनता हो स्वार्थों ने भावनाओं को रौंद डाला हो, हृदय को कुचलकर रख दिया हो, सम्बन्धों के बन्धन दूर रहे हो, रिश्तों के खोखलेपन में सिर्फ उनकी रेखा ही अवशेष हो, उस समाज में सहृदय व्यक्ति का जीना दुश्वार हो जाता है।

जनता की समझ को विकसित करने के लिए दादू ने शोषकों के निजी स्वांग थोथेपन और स्वार्थपरता के निम्नस्तर से परिचित कराया। तलवार के बस पर शासन करने वाले मुगलों ने शक्ति से धर्म परिवर्तन की जोर जबरदस्ती की जुल्मों की अति कर दी। दादू ने काव्य रूपकों के माध्यम से जन साधारण में ये चेतना जाग्रत की कि इन सभी दुष्ट, त्रासक लोगों के चंगुल व संत्रास से मुक्ति का एकमात्र उपाय प्रभु ही है, वो सबका रक्षक है।

अपने रूपकों के माध्यम से दादू शोषकों को सुधार कर उसे बेहतर इंसान बनाने की कामना के साथ जनता के बीच सक्रिय होते हैं। स्पष्ट है कि दादू सामाजिक, कपटाचार, धार्मिक मिथ्याचार, राजनैतिक विसंगति, महत्त्वाकांक्षाजन्य मूल्यहीनता आदि के विरोध में अपने काव्य रूपकों के लिए सामग्री ग्रहण करते हैं। जीवन और ईश्वर के प्रति आस्था के द्वारा हम परमसत्य के सुन्दरतम सोपान तक जा सकते हैं।

1 दादू ग्रथावली, साच कौ अग, 28, पृ0 151

2 दादू ग्रथावली, दया निवृत्ता कौ अग, 43, पृ0 271

दादू के काव्य में लोक जीवन की गहरी पैठ रही है। दादू के रूपकों में गहरा अनुभव जीवन और जगत की सारवानता बड़े सहज और आकर्षक बनकर आती हैं जीव के साधारण उपकरणों, प्राणियों, क्रिया-कलापों द्वारा सशक्त जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति इनकी केन्द्रिय शक्ति है।¹

अनुभूति की प्रेषणीयता के लिए दादू ने मूर्त उपमेय के लिए मूर्त एवं अमूर्त उपमानों का आश्रय लिया है। दादू के काव्य में ग्रामीण संस्कृति, जनसामान्य के साधनारत उपकरणों द्वारा महत दर्शन की अभिव्यक्ति मिलती है।

दादू ने कृषक जीवन के लौकिक उपादानों द्वारा आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यंजना की है। रूपक के माध्यम से दादू ने परमसत्ता प्राप्ति और खेत, बीज, अंकुर, अनावृष्टि आदि के साथ तादात्म्य स्थापित किया है।

यथा – कालर खेत जो कि कृषक जीवन में उपयोगी नहीं है उसे भक्ति के सन्दर्भ में ग्रहण किया है कि – आध्यात्मिक खेती के लिए हृदय की उर्वरा शक्ति अच्छी होनी चाहिए।

दादू ने बीज व अंकुर को प्रभु प्रेम के रूपक में प्रस्तुत किया है।

कृषक जीवन प्रकृति से भी जुड़ा है। इस सत्य की अवतारणा, वृक्ष, बेलि, फूल आदि के माध्यम से की है।

वृक्ष के रूपक द्वारा दादू ने नैतिक मूल्यों की व्याख्या की हैं कहीं ईश्वर के रूप में कहीं प्राण के लिए वृक्ष का सजीव रूपक ग्रहण किया है।

कबीर की भांति दादू ने भी संसार की निस्सारता को सेमल के फूल के रूपक द्वारा स्पष्ट किया है।

‘परब्रह्म’ की विशेषताओं को गुणवंती बेल के रूपक द्वारा दादू ने सार्थकता प्रदान की है।

1. दादू दास तुम्हारा, डॉ० विद्योत्तमा मिश्र, पृ० 168

गुणवंती बेल की सिंचाई के रूपक द्वारा साधना का सजीव बिम्ब प्रस्तुत किया गया है।

पशुओं को कृषक जीवन में अत्यधिक महत्त्व प्राप्त है। 'गाय' जैसे साधारण लौकिक उपादान द्वारा परब्रह्म की सत्यता का आभास दादू ने अपने रूपकों द्वारा जनसमुदाय को कराया है।

गुरु ज्ञाता प्रजापति सेवक माटी रूप।
रज्जब रज सू फेरि को, घड़ी कुंभ अनूप

षष्ठ अध्याय

दादू के काव्य में शिल्पी जीवन सम्बन्धी रूपक : स्वरूप विश्लेषण एवं अर्थ व्यंजना

- 6.1 वयन शिल्प से सम्बन्धित रूपक
 - 6.1.1 कताई से सम्बन्धित रूपक
 - 6.1.2 बुनाई से सम्बन्धित रूपक
- 6.2 कुम्हार शिल्प से सम्बन्धित रूपक
- 6.3 बाजीगर शिल्प से सम्बन्धित रूपक
- 6.4 कलाल शिल्प से सम्बन्धित रूपक
- 6.5 रंगरेज शिल्प से सम्बन्धित रूपक
- 6.6 रजक व्यवसाय से सम्बन्धित रूपक
- 6.7 साहूकार और बनिजारे के व्यवसाय से सम्बन्धित रूपक
- 6.8 जौहरी शिल्प से सम्बन्धित रूपक
- 6.9 स्वर्णकार शिल्प से सम्बन्धित रूपक

दादू के काव्य में शिल्पी जीवन सम्बन्धी रूपक : स्वरूप विश्लेषण एवं अर्थ व्यंजना

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि कृषक जीवन से सम्बन्धित उपादानों से अपने काव्य रूपकों की संरचना दादू की आध्यात्मिक अनुभूति और साधना की अभिव्यक्ति के लिए एक सशक्त रूप में उनके काव्य का प्रतिमान बना हुआ है। उनके इन काव्य रूपकों से एक और भारतीय समाज कृषक जीवन का प्रतिबिम्बन है, वहीं दूसरी ओर कृषक जीवन की सूक्ष्म से सूक्ष्म चेतना आध्यात्मिक अनुभूति के साथ एकाकार सी दिखाई देती है।

सन्त कवि दादू का जीवन अन्य सन्तों की तरह जन-सामान्य के बीच व्यतीत हुआ था। यही उनके कवि व्यक्तित्व का नियम भी रहा है—

डा० केदारनाथ द्विवेदी के शब्दों में “किसी भी कलाकार के व्यक्तित्व का निर्माता समाज में होता है और वह पुनः अपने व्यक्तित्व से समाज को प्रभावित करता है। कलाकार की कृति में समाज के हास व रुदन उत्कर्ष व अपकर्ष की कहानी अंकित रहती है। इसीलिए काव्य को जहाँ समाज का दर्पण कहा जाता है वहीं कवि को समाज का स्रष्टा भी कहा जाता है। समाज निरपेक्ष काव्य अधिक महत्वपूर्ण नहीं होता।”¹

गत अध्याय में युगीन परिवेश का अनुशीलन करते समय देख चुके हैं कि मध्यकालीन समाज सामान्य जन के स्वरोन्मीलन का समाज है। दादू इसके द्रष्टा भी हैं और सामान्य जन-जीवन को आधार बनाकर अपने काव्य के स्रष्टा भी हैं। स्वभाव से संत व मानवता के प्रति समर्पित होने के कारण दादू की कवि दृष्टि सामान्य जन-जीवन (कृषक एवं शिल्पी जीवन) के साथ गहनता और सूक्ष्मता से जुड़ी हुई थी। डॉ० बल्देव बंशी के शब्दों से उक्त कथ्य की पुष्टि की जा सकती है कि — “जब भी लोक की पहचान या ढूँढ़ आरम्भ होती है

तो निम्नतर इकाई की अस्मिता के स्वीकार से और उसे महत्व देने से, जो अपनी अस्तित्व सत्ता से धरती पर विद्यमान है। वही व्यक्ति इसकी ओर बढ़ सकता है, जिसने स्वयं को लोक में स्थित उस निम्नतम इकाई के स्तर पर उतर कर आत्मीय रिश्ता निर्मित किया है।¹

दादू लोक मानस और जीवन प्रक्रिया के सूक्ष्म दृष्टा थे। दादू ने रूपक की शब्दावली द्वारा अपनी बात को सीधे-सीधे लोक हृदय में उतारा और लोक में प्रचलित धोबी, कुम्हार, बुनकर, लोहार, जौहरी आदि प्रसिद्ध शिल्प से उपादान ग्रहण कर अपने काव्य रूपकों की संरचना की है।

मध्यकालीन हिन्दी काव्यधारा के सन्त जन समान्य के व्यवसाय के अंग थे। उनमें से कोई कपड़ा बुनता था, कोई मिट्टी के पात्र बनाता था अन्य कोई धुनिया था, कोई व्यापार करता था। दादू भी अन्य संतो की तरह व्यवसाय जन्म श्रम और उससे समन्वित जीवन के पोषक थे। दादू की दृष्टि में समाज की रक्षा करने वाला सैनिक जितना श्रेष्ठ है, उतना जूते बनाने वाला चर्मकार, व गंदगी साफ़ करने वाला भंगी भी श्रेष्ठ है। यही कारण है कि अन्य सन्तों और दादू की रचनाओं में आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिये विभिन्न व्यवसायों की चूतना से जुड़े हुए साधकों से निर्मित रूपकों की भरमार है। इन रूपकों की अप्रस्तुत चेतना उन्हें अध्यात्म की भूमि पर खड़ा कर देती है।

इस सन्दर्भ में डॉ० प्रेम शंकर का यह कथन सही है कि काव्य में अध्यात्म लोक के भीतर से ही उपजता है और जिसे लोकोत्तर ब्रह्मनन्द, महासुख अथवा किसी भी ऐसे उच्चतम आशय से व्यंजित किया जाता है।² दादू भी अपने उच्चतम मूल्य संसार को अर्थात् अध्यात्म को लोक के भीतर से उठाते हैं। इस संदर्भ में भाष्यकार डॉ० हरिहर प्रसाद गुप्त का कथन है कि – “कोई भी सृजनात्मक व्यक्तित्व युग को पहचानने से इन्कार नहीं कर सकता है।

1. बलदेव बंसी – कहत कबीर कबीर, पृ० 20

2. साहित्य अमृत (पत्रिका), प्रेमशंकर, जुलाई 1999, पृ० 9

सर्जन निर्माण जीवन परक होता है। जीवन को गतिशील बनाना ही सर्जन है और गतिशीलता तभी सम्भव है जब जीवन की समस्याओं व समाज की आवश्यकताओं की अवहेलना न की जाए। यर्थाथ को छोड़कर सृजन सम्भव नहीं।¹

दादू ने भी युग की समस्याओं को पहचाना और उसके समाधान में दर्शन व धर्म का विकास हुआ उन्होंने धर्म को जीवन व यर्थाथ से जोड़कर जो नवीन रूपक खड़े किये। इस परम्परा का विकास व्यवस्थित रूप में कबीर के काव्य से शुरू होता है जिसकी डोर गोरखनाथ तक जाती है।

दादू का काव्य भी कबीर की ही भांति लोक उपादानों को स्वीकार कर आगे बढ़ा है। दादू ने भी कबीर की ही भांति सभी ग्रामीण शिल्पी व्यवसाय की सूक्ष्म प्रक्रियाओं को अपने चिन्तन का आधार बनाया।

अब हम दादू के काव्य में विभिन्न शिल्पी व्यवसाय से सम्बन्धित रूपकों का अनुशीलन करेंगे —

6.1 वयन शिल्प से सम्बन्धित रूपक

दादू स्वयं वयन शिल्प से सम्बन्धित धुनिया व्यवसाय से सम्बन्धित थे। इसके साथ अन्य ग्रामीण शिल्प व्यवसाय से इनका सम्बन्ध होना भी स्वाभाविक ही है। धुनने के बाद कताई की प्रक्रिया आती है, दादू के काव्य में कताई के रूपक प्रस्तुत हैं —

6.1.1 कताई से सम्बन्धित रूपक

दादू के युग में भी सूत को कातने की प्रक्रिया ग्रामीण उद्योग धन्धों का महत्वपूर्ण अंग थीं। कबीर की भांति दादू का जन्म जुलाहा परिवार में नहीं हुआ था, उसके बाद भी दादू के काव्य में जो साखी, कताई शिल्प से सम्बन्धित है वह कबीर की ही भांति संप्रेषणीय है।

1. डॉ० हरिहर प्रसाद गुप्त, कबीर ग्रंथावली, पृ० 15

उसमे कताई शिल्प की सभी बारीकियों का निर्वाह हुआ है जिसमें कताई शिल्प के माध्यम से आध्यात्मिकता की अभिव्यंजना हुई है -

क्यूँ करि उलटा आणिए, पसीर गया मन फेरि।
दादू डोरी सहज की, यौं आणै घरि घेरि।।¹

प्रस्तुत रूपक में सहज साधना के लिए डोरी मन के लिए तकुआ के उपमान लेकर दादू सहज ही आध्यात्मिक अभिव्यंजना कर दी है। सूत कातते समय जब तक सूत को उलट कर ताकू पर नहीं चढ़ाया जाता वह पुष्ट नहीं होता इस प्रक्रिया को साधना से जोड़ते हुए दादू का मत है कि जिस प्रकार तकुए में सूत पुष्ट हो जाता है फिर उसके टूटने का भय नहीं रहता उसी प्रकार मन भी साधना रूपी कच्चे धागे के रूप में निरन्तर इस जागतिक प्रपंच से मन हटाकर परमसत्ता की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है और जब तक धागे के रूप में आवंछित मनोवृत्तियाँ पलट कर मन रूपी ताकू पर नहीं चढ़ाई जाती तब तक परमसत्ता की प्राप्ति नहीं हो सकती।

वयनक्रम व्यवसाय में उपरोक्त रूपकों के विश्लेषण के बाद बुनाई के रूपक प्रस्तुत हैं—

6.1.2 बुनाई से सम्बन्धित रूपक

दादू ने संत चेतना और आध्यात्मिक जीवन दृष्टि को अपने चिन्तन और अनुभूति का अंग बना लिया था। सन्त साधना की प्रवृत्ति रही है कि वह परमसत्ता के गूढ़ रहस्य को सुष्टि के प्रत्येक कण में क्यों न देखे और पास न्यास के परिवेश से ही प्रेरणा क्यूँ न ग्रहण करें। दादू ने बुनाई शिल्प से रूपक उठाकर आध्यात्मिक अभिव्यक्ति में कहाँ तक सफलता पाई है निम्नलिखित उद्धरणों से स्पष्ट किया जा सकता है -

वयन शिल्प में सबसे पहले सूत को सुलझाने की प्रक्रिया आती है। सूत के सुलझाने की प्रक्रिया के माध्यम से दादू ने गूढ़ अभिव्यक्ति की है -

1 दादू ग्रथावली मन कौ अग साखी 63 पृ0 118

दादू जीव जंजालौ पड़ि गया, उलझया नौमण सूत।
कोई एक सुलझे सावधान, गुरु वहाक अवधूत॥¹

प्रस्तुत रूपक में कर्मजाल के लिए नौमण सूत व सांसारिकता के लिए जंजालौ उपमान ग्रहण करके सुन्दर रूपक खड़ा किया है कि बहुत से उलझे हुए सूत को कुशल कारीगर (जुलाहा) ही सुलझा सकता है साधारण व्यक्ति नहीं सुलझा सकता, उसी प्रकार जीव इस संसार में आता है चारों ओर फैले सूत (सांसारिकता) में उलझ जाता है, और जब तक वह ब्रह्म रूपी जुलाहे के हाथ में नहीं पड़ता उसकी मुक्ति तब तक सम्भव नहीं हो पाती। इसके लिए जीव को अनेक कठिनाईयों से गुजरना पड़ता है जिसको एक पद के माध्यम से दादू ने सहज ही अभिव्यक्त कर दिया है —

कोली सल न छाड़ै रे, सब धावर काढ़ै रे ॥ टेक॥
प्रेम पान लगाई धागै, तत तेल निज दीया।
येक मना इस आरंभि लागा, ग्यान राह भरि लीया॥१॥
नांव नली भरि बुनकर लागा, अंतरगीत रगि राता।
तारौ बारौ जीव जुलाहा, परम तत सौ माता॥ २॥
सकल सिरोमणि बुरौ विचारा, सानूहां सूत न तोड़ै।
सदा सचेत रहै लिव लागा, ज्यूँ तूटै त्यूं जोड़ै॥३॥
औसैं तीरा बुरिग गहर गजीना, साई के मीन भावै।
दादू कोली करता कै संगि, बुहीर न भौजील आवै॥४॥²

उपरोक्त पद में प्रेम के लिए माड़ी, साधना के लिए धागा, प्रेम के लिए तेल, राम नाम के लिए नली साधक के लिए बुनकर, सांसारिक प्रपंच के लिए ताणें, ध्यान के लिए सूत उपमान लेकर बुनकर की सम्पूर्ण प्रक्रिया से साधना की प्रक्रिया का बहुत सुन्दर रूपक खड़ा किया है। बुनकर कपड़ा बुनने के लिए सर्वप्रथम दो नलियों को धागे से भरता है जो कि माड़ी लगा होता है उसके बाद ताना और बाना के माध्यम से वस्त्र निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है और बीच-बीच में धागे में धुड़िया या अवरोध के आने से वह टूट जाता है, उसे

1. गुरुदेव कौ अंग साखी, 82 पृ० 9

2. दादू ग्रंथावली — राग सोरठि (18) पद 9 पृ० 438

कुशल बुनकर बहुत सफाई से एक क्षण का विलम्ब किए बिना उसे मरोरिया प्रक्रिया के द्वारा जोड़ देता है और इसी प्रक्रिया में रत रहते हुए बुनकर बहुत सघन वस्त्र तैयार कर लेता है। इसी प्रक्रिया को साधना से जोड़ते हुए इस प्रकार समझा जा सकता है कि विषय जंजाल में उलझा हुआ है साधक, अपने जीवन रूपी धागे को सांसारिक विषय वासनाओं से विरक्त कर उसमें प्रेम रूपी माड़ी और तत्त्वज्ञान रूपी तेल लगाता है तब उसका ध्यान रूपी तागा मजबूत हो जाता है फिर उस मजबूत धागे को बुनकर नलिका में भरकर वस्त्र बुनने का कार्य करता है। प्रेम रूपी माड़ी से जो धागा तैयार किया जाता है उससे भक्ति रूपी वस्त्र तैयार करने में विलम्ब नहीं होता।

यद्यपि कबीर की भांति बहुतायत में बुनकर शिल्प से रूपक दादू ने नहीं उठाए हैं लेकिन जो भी हैं उन्हीं में अपनी सम्पूर्ण संवेदना मानव मूल्य से होती हुई परमतत्त्व तक पहुँची है।

6.2 कुम्हार शिल्प से सम्बन्धित रूपक

जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं में से एक आवश्यकता बर्तनों के निर्माण की भी है इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए समाज में एक ऐसा शिल्पी वर्ग है जो मिट्टी के बर्तन बनाकर समाज की आवश्यकता को पूरी करता है जिसे कुम्भकार कहते हैं। कुम्हार के बर्तन बनाने की प्रक्रिया सर्जनात्मक चेतन से जुड़ी हुई है, तात्त्विक रूप से मिट्टी नामक तत्त्व से या विभिन्न प्रकार के बर्तनों के निर्माण से मध्यकालीन सन्तों ने कुम्हारों के पात्र सृष्टि की चुतना को समझा है। सन्तों ने कुम्हार की पात्र-सृजन की चेतना को सृष्टि की सृजन चेतना के रूप में अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। परिणाम स्वरूप कुम्हार सृष्टिकर्ता के रूप में काव्यात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम बन गया। कबीर की भांति दादू ने भी कुम्हार के व्यावसायिक सन्दर्भों को लेकर अपनी आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए रूपकों का निर्माण किया है। यदि दादू के काव्य रूपकों पर दृष्टिपात किया जाय तो कुम्हार शिल्प

की विभिन्न स्थितियों को लेकर अनेक रूपकों के निर्माण द्वारा दादू की आध्यात्मिक अनुभूति की मनोरम झलक मिलती है। कुछ उदाहरण देखिए —

दादू फिरता चाक कुम्हार का या दीसै संसार॥
साधुजन निहचल भए, जिनके राम आधार॥¹

प्रस्तुत रूपक में दादू ने संसार के लिए चाक व ब्रह्म के लिए कुम्हार रूपक ग्रहण कर सजीव आध्यात्मिक बिम्ब खड़ा किया है। कुम्हार का चाक जिस प्रकार निरन्तर चलता रहता है उसी तरह से यह संसार चाक हैं, जो निरन्तर चलता रहता है। संसार चक्र के निरन्तर चलने से मानसी सृष्टि के संकल्पात्मक, विकल्पात्मक रूप निरन्तर नया सृजन करते हैं। यह सृजन ही जीव का आकार होता है। दादू का मानना है कि जो साधू जन होते हैं वे सबमें रमने वाले राम को आधार बनाकर उसमें अपनी भावना को केन्द्रित करते हैं। परिणाम—स्वरूप उनकी मन बुद्धि निश्चल होती है। संकल्पात्मक, विकल्पात्मक मन का स्वरूप उन्हें विचलित नहीं कर पाता। दादू ने इस रूपक में कुम्हार के चाक से जिस तरह संसार चक्र की उद्भावना की वह एक सामान्य से उपमान से गम्भीर और गूढ़ रहस्य की व्यंजना करता है। यह दादू जैस कवित्व शक्ति से पूर्ण सन्त के लिए ही संभव है।

डॉ० सरला शुक्ला इस रूपक द्वारा सृजित बिम्ब को रेखांकित करती हुई इसे जीवन सन्दर्भ में इसी प्रकार व्याख्यायित करती है।²

दादू कुम्भकार शिल्प और उसके उपादानों को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखते हैं ये उपादान उनके काव्य को रूपकों के माध्यम से निरन्तर सशक्त अभिव्यक्ति देते हैं। कुछ उपादान तो काव्य परम्परा में सत्त रूप से चले आ रहे हैं। काया के लिए घट का रूपक काव्य परम्परा और दार्शनिक परम्परा में सहज स्वीकृत रहा है। दादू इस घट के रूपक द्वारा शरीर की क्षण—भंगुर स्थिति को स्पष्ट करते हुए अपनी काव्य चेतना को सृजनात्मक आधार देते हैं। एक उदाहरण देखिए —

-
1. दादू ग्रंथावली, साखी को अंग (59) पृ० 183
 2. डॉ० सरला शुक्ला — संत काव्य का बिम्ब विधान, पृ० 71

दादू यह घट काचा जल भरया, बिनसत नाही वार।

यहु घट फूटा जल गया, समझत नाहिं गंवार।¹

दादू उपर्युक्त रूपक के माध्यम से शरीर और चेतना के सम्बन्ध की व्यंजना करते हैं। जिस प्रकार घड़े में जल भरा होता है उसी प्रकार आत्मा (चेतना) इस शरीर में अवस्थित है। घट के फूट जाने पर जिस तरह जल चला जाता है उसी तरह शरीर के नष्ट होने पर चेतना अदृश्य हो जाती है उसके लिए कोई आधार नहीं रहता। दादू का संदेश है कि चेतना शरीर सम्बन्ध स्थायी नहीं है इसे तो विनष्ट होना ही है। इसके विनाश की कोई निश्चित समय सीमा भी नहीं है। इसके नष्ट होने में कोई देर नहीं लगती। जो इस वस्तु स्थिति को नहीं समझता दादू उसे गंवार से सम्बोधित करते हैं, यह शब्द एक प्रकार मूर्ख या अविवेकी का परिचायक है। दादू यहाँ जिस भाव की व्यंजना करते हैं वह जीवन की वस्तुस्थिति और जीवन के सत्य का साक्षात्कार है। इसके साथ ही जीवन की अर्थवन्ता पर दृष्टि जाती है और सार्थक जीवन यापन की रेखाएं खिंचती है। जीवन के इस सहज रहस्य को इतने मनोरम और सरल ढंग से समझाना दादू जैसे सन्त कवियों के लिए ही संभव है। इन रूपकों ने ही दादू काव्य को सर्जन ग्राह्य बना दिया है।

कुम्हार के रूप में परम सत्ता के कर्तव्य का स्वरूप बोध दादू की चेतना पर निरन्तर रहता है। वे जब इस सृष्टि की उत्पत्ति प्रलय और स्वरूप पर विचार करते हैं तो उनके सामने कुम्हार और उसका शिल्प ही छाया रहता है। उसी के माध्यम से दादू अपने आध्यात्मिक चिंतन और अनुभूति को काव्य के ढांचे में ढालते हैं। एक उदाहरण देखिए –

सिरजनहार थैं सब होइ।

उत्पति परलैं करैं आपै, दूसर नाही कोई।।टेक।।

आप होई कुलाल करता, बूंद थैं सब लोइ।

आप करि अगोच बैठा, दूनी मनकू मोहि ।।1।।

आपथे उपाइ बाजी, त्रिषि दूषै सोइ ।
 बाजीगर कौ यहु भेद आवै, सहीज सौजं समोई ॥2॥
 जे कुछ कीया सुकरै आपै, एहै उपजै मोहि ।
 दादू हरि नाँव सेती, मैली कुसमल धोई ॥3॥¹

दादू सृष्टि विचार करते हुए इस सृष्टि और उसके सृष्टिकर्ता को कुम्हार रूप में मानकर अपनी अनुभूति को कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। जिस प्रकार कुम्हार नाना रूप में अपने बर्तनों का निर्माण करते हुए अपनी पात्र सृष्टि की रचना करता है उसी प्रकार वह कुलाल रूप सिरजनहार इस नाना रूपात्मक सांसारिक सृष्टि का रचयिता है। यह रूपक केवल कर्त्तापन की ही व्यंजना नहीं करता बल्कि मनोवैज्ञानिक आधार पर सृजन प्रक्रिया की भी व्यंजना करता है। मूल उपादान के साथ सारी सृष्टि का स्वरूप मूल रूप में उसकी चेतना पर रहता है जो संसार के रूप में उन्मीलित होता है। दादू का यह रूपक जीवन संदर्भों मनुष्य के कर्तव्य बोध का उदात्तीकरण करता हुआ उसे अहंकार और दबाव से मुक्त करने का एक सार्थक प्रयास है। दादू के इस रूपक की चेतना सृष्टि के गूढ़ रहस्य को समझाने की एक प्रेरणा भी है।

सृष्टि और सृष्टिकर्ता का रहस्य चिन्तन श्रंखला में एक अनसुलझी गुत्थी रहा है। वेद भी उसको नेति-नेति कहते रहे हैं दादू इस तथ्य को जिस प्रकार कुम्भकार शिल्प की चेतना के साथ अनुभूतिगम्य बना देते हैं, यह निम्न रूपक द्वारा समझा जा सकता है।

रात सेवा संकर देव, ब्रह्म कुलाल न जाणै भेद ।
 कीरति करुणा चारयु वेद, नेति-नेति न विजाणै भेद ॥²

ब्रह्म रूपी कुम्हार के भेद को कोई नहीं जान सकता जिस तरह कुम्हार की सृष्टि को कुम्हार ही जानता है। साधारण व्यक्ति उसकी प्रक्रिया सभी प्रयत्नों के पश्चात् भी नहीं जान सकता उसी तरह ब्रह्म रूपी कुलाल के लिए सभी देव ब्रह्म वेद प्रयत्नशील हैं परन्तु सृष्टि की उत्पत्ति व प्रलय का गूढ़ रहस्य केवल सिरजनहार ब्रह्म ही जानता है।

1. दादू ग्रंथावली, पृ० 363 पद 23

2. दादू ग्रंथावली, राग भैरव पद 19, पृ० 474

इस प्रकार दादू ने कुम्हार के शिल्पी जीवन सन्दर्भों को लेकर रूपक के रूप में आध्यात्मिक अनुभूतियों को वह वाणी दी है जो जन-जन में ग्राह्य हो सके।

दादू के रूपकों के उपादान के संदर्भ में हम पहले भी स्पष्ट कर चुके हैं कि दादू के काव्य इस शोध-यात्रा में शिल्प या शिल्पी से हमारा तात्पर्य उन सभी कलाओं से है जो जीवन संदर्भों से जुड़ी हुई है। दादू ने अपने काव्य की अभिव्यक्ति के लिए उन सभी व्यावसायिक कलाओं को लिया है जो सामान्य जीवन से जुड़ी हुई है।

अब हम दादू की रूपक चेतना को बाजीगर (नटकला) के साथ देखेंगे —

6.3 बाजीगर (नटकला) शिल्प से सम्बन्धित रूपक

दादू के युग में बाजीगरी अत्यन्त लोकप्रिय खेल समझा जाता था। दादू ने बाजीगरी का प्रयोग सन्तों की आध्यात्मिक अर्थ की प्रतीति कराने के लिए किया है। बाजीगर व नट-कला का विस्तृत उल्लेख कबीर के सन्दर्भ में दिया जा चुका है। यहाँ केवल दादू के काव्य में 'बाजीगर' शिल्प को किस प्रकार ग्रहण किया है इस सन्दर्भ में पद व साखी का स्वरूप विश्लेषण और निहित अर्थव्यंजना पर विचार करना ही हमारे इस प्रकरण का अभीष्ट है।

दादू परमसत्ता को उस बाजीगर के समान बताते हैं जिसने इस संसार को बाजीगर के खेल की तरह फैला दिया है। हम खेल को देख सकते हैं पर बाजीगर को नहीं देख सकते हैं — यथा —

भाई रे बाजीगर नटपेला, औंसे आपै रहै अकेला॥ टेक॥

यहु बाजी पेल पसारा, सब मोहे कौतिग हारा।

यहुब बाजी दिखावा, बाजीगर किनहुँ न पावा॥१॥

इहि बाजी खेल जगत भुलाना, बाजीगर किनहुँ न जाना।

कुछ नाही सो पेषा है, सो किनहुँ न देषा॥२॥

कछु ऐसा चटक कीन्हा, तन मन सब हरि लीन्हा।

बाजीगर झुरकी वाहि, काहू पै लीष न जाई॥३॥

बाजीगर प्रकासा, यहु बाजी झूठ तमासा।

दादू पावा सोई, जो इहि बाजी लिपति न होइ॥४॥¹

इस पद की सार्थक व्याख्या करते हुए डॉ० किशनाराम बिश्नोई कहते हैं कि — “दादू इस संसार को बाजीगर की एक बाजी मानते हैं, जो अवास्तविक और असत्य होती है। बाजीगर अपनी बाजीगरी से दूर रहता है, परन्तु यह बाजीगरी सबको मोहित कर लेती है और तन, मन, धन सब ले जाती है। यह सम्पूर्ण जगत इसी प्रक्रिया के भुलावे में रहता है।”

दूसरे शब्दों में यदि कहा जाए तो यह संसार उस बाजीगर रूपी परमसत्ता की लीला माया का प्रसार है, जिसके द्वारा किए गए अदृश्य जादू में सब मुग्ध हो जाते हैं, उसकी सारी कलाबाजी मिथ्या है।, यद्यपि हमारी ऊपरी दृष्टि से वह सत्य प्रतीत होती है।

एक प्रकार से देखा जाय तो यह दादू की काव्य-चेतना का चमत्कार है कि बाजीगर की बाजी से इस संसार की मोहकता, जीव की मोह बुद्धि और सृष्टि के उद्देश्य को बड़े मनोरम ढंग से प्रस्तुत कर देते हैं इस रूपक के माध्यम से दादू संदेश देते हैं कि यह जागतिक खेल तो जीवन को भुलावे में डालने वाला है। जीवन का असली अर्थ तो उस बाजीगर रूपी प्रकाश को देखना है, लेकिन वे जीव के इस सच को भी जानते हैं कि जीवन किस प्रकार इस संसार की मोहकता में रम जाता है। इस प्रकार यह रूपक जीव के स्वाभाविक स्वरूप का साक्षात्कार कराते हुए उसे जीवन के मोह से विरत होकर उस परमसत्ता के प्रकाश के साक्षात्कार को प्रेरित करता है।

दादू माया जैसी अस्पष्ट दार्शनिक अवधारणा को बाजीगर की पुतली के रूप में प्रस्तुत करके अनुभूति ग्राह्य बना देते हैं। देखिए —

बाजीगर की पुतली, ज्यों म्रकट मोहया।

दादू माया राम की, सब जगत विगोया।¹

बाजीगर के शिल्प में कठपुतली के दोनों हाथों में धागा बाँधकर बाजीगर परदे के पीछे से उसे नियन्त्रित करता है व मनचाही गतिविधि कराता है परब्रह्म की स्थिति भी उसी

1 डॉ० किशनाराम बिश्नोई — दादू दयाल सिद्धान्त और कविता, पृ० 166

2 दादू ग्रथावली, माया कौ अग साखी 108, पृ० 140

बाजीगर की भाँति है जो संसार के जीवों के सारे धागों को अपने हाथ में लिए अव्यक्त रूप में मनचाही गतिविधियाँ कराता है। और उसकी इस लीला को कोई देख नहीं पाता। सारा संसार माया के चक्कर में पड़ा हुआ परवशता के जीवन में अपनी दुर्दशा कराता रहता है। दादू ने ही नहीं तुलसी ने भी जीव की स्थिति को कठपुतली के रूप में दिखाते हुए अपनी जीवन अनुभूति को स्वर दिया है —

उमा दास जोषित की नाई। सबहि नयावत राम गोसाई।¹

दादू के काव्य में एक नहीं अनेक स्थानों पर बाजीगर और नटों की कला के रूपक से आध्यात्मिक जीवन के गंभीर रहस्यों की काव्यात्मक अभिव्यक्ति दी है। नट के नृत्य के माध्यम से जीवन संदर्भ में जीव के स्वरूप की स्थिति प्रस्तुत करना भारतीय चिन्तन परम्परा की सोची समझी प्रस्तुति है। नृत्य की चेतना और उसकी प्रक्रिया जीवन प्रक्रिया के साथ अद्भुत साम्य रखती है।

दादू ने भी जगत की स्थिति के लिए परमसत्ता को बाजीगर या नट रूप में प्रस्तुत किया गया है —

नारद गाड़ण गुण गोविंद, सारदा करै सब छंदा।
नटवर नाचे कला अनेक, आपण देसै चरित अलेष।²
नाना विधि के रूप धरि, सब बाँधे भामिनी।
जग विंटवि परलै कीया, हरि नाँव भुलावनी।³

बाजीगर व नटवर अनेक कलाओं के ज्ञाता होते हैं व जनता को भ्रमित कर प्रसन्न होते रहते हैं परन्तु वास्तविकता इससे परे है जिससे स्वयं बाजीगर या नटवर ही अवगत होता है उसी तरह परब्रह्म को फैलाए इस खेल पसारे में वास्तविकता केवल ब्रह्म ही जानता है जो सृष्टि के प्रत्येक कण-कण में व्याप्त है।

1. रामचरितमानस भाग (2), किष्किन्धा काण्ड, दोहा 11 पृ० 32

2. दादू ग्रंथावली, पद 19 साखी 6 पृ० 104

3. दादू ग्रंथावली, माया को अंग साखी 106, पृ० 140

दादू के काव्य में एक नहीं अनेक स्थल हैं जहाँ वह बाजीगर और नट की कला के उपादानों से रूपक की संरचना करते हैं। एक उदाहरण और देखिए –

माया ब्रह्म रूप नटणी नाचै, सुरनर मुनिकौ मोहै।
ब्रह्म, विस्न, महादेव वाहे, दादू वपरा कोहै॥¹

माया को नटणी मानकर उसके क्रिया-कलापों को दादू ने इस रूपक में उठाया है कि जिस प्रकार नटनी अनेक भेष बदल कर लोगों को दिग्भ्रमित करती है उसी प्रकार माया अनेक प्रकार के वेश धारण करने वाली नटनी की भाँति नृत्य करती हुई अपने मोहक रूप का जाल बिछाती है जिसमें फसकर जीव जीवन की वास्तविकता को भूल जाता है। और इस संसार में नटकला की भाँति अनेक क्रियाएँ करता है। और इसके लिए उसे कौन प्रेरित करता है वो भूल जाता है।

जीवन की विवशता को स्पष्ट करने वाला दादू का एक और रूपक देखिए –

दादू डोरि डोरि के हाथि है, गल माहै मेरे।
बाजीगर का बांदरा, भावै त्यूँ फेरै॥²

बाजीगर ब्रह्म व जीव को बांदरा के सन्दर्भ में लेकर दादू का मत है कि – बाजीगर बन्दर को समस्त कलाएँ सिखा देता है उसके बाद जन समुदाय के सामने उसकी डोरी अपने हाथ में रखता है व जैसे जैसे इशारा करता है बन्दर उसी प्रकार की क्रियाएँ दिखाता है। जीव व ब्रह्म के सन्दर्भ को भी दादू ने बाजीगर व बांदरा वाला माना है कि ब्रह्म रूपी बाजीगर के हाथ में जीव रूपी बांदरा की डोरी रहती है वह जैसे जिस ओर जीव को ले जाना चाहता है, जीव उसी ओर जाता है, और बाजीगर की भाँति जो-जो क्रियाएँ वह जीव से कराना चाहता है, वह उससे कराता है।

उपरोक्त रूपको से स्पष्ट होता है कि दादू भी कबीर की ही भाँति संसार को बाजीगर की एक बाजी के रूप में प्रस्तुत करते हैं उनका मानना है कि सांसारिक जीव बाजीगर और

1. दादू ग्रथावली, माया को अग (12), पृ० 596

2. दादू ग्रथावली, सप्रथाई को अग (21) साखी 19 पृ० 222

नटों की कठपुतली और बंदर आदि की ही भांति है जो उस परमसत्ता की इच्छा के अनुरूप उसके इशारे पर चलता रहता है। वह स्वतंत्र नहीं है। वह व्यर्थ में अपने को अपने जीवन का नियन्ता मानता है। दादू इन रूपकों के माध्यम से समाज को ऐसी जीवन चेतना देना चाहते हैं, जिससे व्यक्ति की चेतना का उदान्तीकरण हो सके तथा आध्यात्मिक चेतना को शास्त्रीय बीहड़ से निकलकर उसे सामान्य जन का विषय बना देते हैं।

मानव समाज में सुरापान की परम्परा बहुत पुरानी है। सुरा या मधुपान भाव विशेष में खो जाने या रम जाने का साधन माना गया है। आध्यात्मिक अनुभूति की अवस्था भी सुरापान की अवस्था से साम्य रखती है। सुरा निर्माण के व्यवसाय या कला से सम्बन्ध रखने वाला व्यक्ति मध्यकाल में कलाल कहा जाता था। सन्तों ने अपनी आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए कलाल की निर्माण कला से भी अपने काव्य रूपकों का निर्माण किया है। अब हम दादू के काव्य में आने वाले कलाल सम्बन्धी रूपकों पर विचार करेंगे —

6.4 कलाल शिल्प से सम्बन्धित रूपक

दादू ने अपने काव्य रूपकों के लिए उपादान जुटाते समय एक तो भवानुभूति के साम्य पर विशेष ध्यान रखा है, दूसरे अनेक रूपकों के उपादान सामान्य जीवन से जुड़ी हुई व्यावसायिक शिल्प (कला) से जुड़े हुए हैं। समाजिक स्तर के अनुसार कलाल भी समाज के उस वर्ग से जुड़ा रहा है, जिसे भारतीय समाज में कामगार (कारीगर) का दर्जा प्राप्त है।

दादू के रूपकों को देखकर यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने कलाल और उसके वर्ग को बहुत निकट से देखा था। उनके रूपकों का एक-एक अप्रस्तुत प्रस्तुत का रूप धारण कर लेता है। उदाहरण के लिए निम्न साखी में रूपक चेतना और उसकी अर्थव्यंजना देखिए —

भाव भगति भाठी भई, काया कसणी सारो रे।

पोता मेरे प्रेम का, सदा अंशडित धारो रे॥¹

1. दादू ग्रंथावली, पदावली, पृ० 328

सुरा (शराब) निर्माण की प्रक्रिया भट्टी (भाटी) से शुरू होती है। भट्टी, कसनी और पोता इस रूपक के उपादान हैं जिसके माध्यम से एक ओर शराब निर्माण की प्रक्रिया प्रस्तुत की गई है दूसरी ओर इनकी भाव चेतना का भावानुभूति काया और प्रेम पर आरोपित करते हुए आध्यात्मिक साधना और तज्जन्य अनुभूति के आनन्द की व्यंजना की गई है। इस रूपक के माध्यम से आध्यात्मिक साधना और तज्जन्य अनुभूति की जितनी सटीक और रोचक अभिव्यक्ति है, वह एक सफल काव्य चेतना की परिचायक है।

दादू साधक को आध्यात्मिक साधना की प्रक्रिया समझाते हुए कहते हैं कि भक्ति भावना की भट्टी में शरीर (काया) को कसते हुए उसे प्रेम के पोते से युक्त कर देने पर अखंडित आध्यात्मिक अनुभूति की धारा उसी तरह प्रवाहित होती है जैसे शराब की धारा निरन्तर निर्मित होकर निकलती रहती है। यह अखंडित आध्यात्मिक भाव धारा ही साधक को ईश्वर भक्ति के नशे में डुबोए रखती है। दादू की यह रूपक चेतना जहाँ उनकी काव्य प्रतिमान की परिचायक हैं वहीं उन्हें भाव साधना के सिद्ध की पंक्ति में बैठाती है। समाज में कलाल की निन्दनीय स्थिति को काव्य का अंग बनाकर वे एक विशिष्ट सामाजिक चेतना की प्रतिष्ठा भी कर देते हैं।

अत्यधिक प्रयत्नों के उपरान्त तैयार हुई इस मदिरा का पान साधारण व्यक्ति नहीं कर सकते, केवल जो सर्वस्व निछावर करने की क्षमता रखते हैं वे ही इस मदिरा का पान कर सकते हैं —

ब्रह्म अगनि जीवन जरै, चेतनि चित उजासो रे।
 सुमति कलाली सर वे, कोई पीवे विरला दासो रे॥
 आपा धन सब सोंपिया, तब रस पाया सारौ रे।
 प्रीति पियाले पीवहो, छिन-छिन वार बारो रे।
 आपा पर नहीं जानिए, भूलौ माया जालौ रे।
 दादू हरि रस जे पीवे, ताको कदे न लागौ कालौ रे।¹

उपर्युक्त पद में सर्वस्व निछावर के उपरान्त ही भक्ति रूपी मदिरा की प्राप्ति की बात कही गई है। कलाल शिल्प से सम्बन्धित रूपक के माध्यम से दादू एक आध्यात्मिक भाव की व्यंजना करते हैं। मदिरा पीने वाले जब मदिरा पीने की इच्छा करते हैं तो न केवल तन से ही वहाँ उपस्थित होते हैं, वरन चित्त व सम्पूर्ण धन देने के बाद ही कलाल से मदिरा प्राप्त करते हैं जिसको पीकर वे मस्त हो जाते हैं। इस सांसारिक दुःख को भूल जाते हैं, अचेतन की स्थिति में रहते हुए कुछ अवधि प्रसन्न रहते हैं भक्ति रूपी रस भी इसी प्रकार का है जो ब्रह्म रूपी कलाल के पास है। उसकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। सांसारिक मदिरा के लिए जहां तन, मन, धन का त्याग है, आध्यात्मिक सन्दर्भ में अहंकार और इस भौतिक संसार के मोह को छोड़ना पड़ता है। इस त्याग के साथ जीव जब ब्रह्म रूपी कलाल के आंगन में जाता है तो ब्रह्म रूपी कलाल उसे निराश नहीं करता उसे भक्ति रूपी रस की प्राप्ति हो जाती है। यह भक्ति रूपी रस सांसारिक रस की भांति क्षणिक नहीं होता है वरन शाश्वत होता है। भक्ति रस की अनुभूति की व्यंजना दादू के निम्न रूपक में देखिए –

मेरा मन मतिवाला मधु पीवै, पीवै बारंबारों रे,
हरि रस रातो राम कै, सदा रहै इकतारो रे।¹

मदिरा पीने के उपरान्त मनुष्य मतवाला होकर अपने में रम जाता है, उसे बार-बार मदिरा पीने की इच्छा होती है। दादू प्रस्तुत रूपक में मदिरा और हरि रस को समानता के आधार पर उसके द्वारा होने वाले प्रभाव की व्यंजना करते हुए कहते हैं कि हरि रस में अनुरक्त मन राम में निरन्तर एक रस होकर लगा रहता है। इन पंक्तियों से यह भी व्यंजना होती है कि मदिरा के प्रभाव में व्यक्ति बहकता है वह एक रस नहीं रहता जबकि हरि रस रूपी मधुर रस उसे एक रस करके राम में रमा देता है।

एक नहीं दादू ने अनेक स्थानों पर कलाल और मदिरा के द्वारा अपनी आध्यात्मिक अनुभूति की व्यंजना की है। ब्रह्म रूपी कलाल की एक मद से भरी दृष्टि ही साधक को पूर्ण तृप्ति प्रदान करती है दादू की साखी में इस रूपक को देखिए –

1. दादू ग्रंथावली, पद 56, पृ० 328

आँगन एक कलाल कै, मतिवाला रस माहि ।
दादू देख्या नैन भरि, ताके दुबध्या नाहि ।।¹

प्रस्तुत रूपक में ब्रह्म के लिए 'कलाल' व भक्त के लिए मतवाला (मद के प्रभाव से युक्त) उपमान की भी दादू ने सूक्ष्म आध्यात्मिक अनुभूति का साक्षात्कार किया है। मदिरालय में एक अकेला कलाल होता है और बहुत सारे 'मद' की प्राप्ति के लिए उसकी ओर देखते रहते हैं कि वो कब उनको मदिरा पिलाने आएगा। ठीक यही स्थिति आध्यात्मिक सन्दर्भ में है कि ब्रह्म रूपी कलाल के संसार रूपी आँगन में अनेक भक्त रूपी मतवाले विद्यमान हैं और सभी आँखों में दर्शन रूपी मद की प्राप्ति की लालसा है परन्तु वह सब को प्राप्त नहीं हो पाते केवल वो साधक या मतिवाला ही उसे प्राप्त करता है जो सांसारिक नशे को त्यागने की हिम्मत रखता है।

मदिरा पीने वाले को मदिरा की ललक हमेशा बनी रहती है। वह उसके बिना नहीं रह सकता। वह ज्यूँ-ज्यूँ पीता जाता है उसकी प्यास निरन्तर बढ़ती जाती है, यही दशा भक्ति भाव से अविष्ट साधक की होती है। दादू एक भक्त साधक की मनोभूमि निम्न रूपक में स्पष्ट करते हुए कहते हैं —

दादू माता प्रेम का, रस बिन रहया न जाइ ।
अंत न आवै जब लगै, तब लग पीवत जाइ ।।²
ज्यूँ-ज्यूँ पीवे रामरस, त्यूँ-त्यूँ बढै पियास ।
ऐसा कोई एक है, बिरला दादू दास ।।³

मदिरा की तरह राम रस का आस्वादन भक्त यदि एक बार कर ले तो निरन्तर उसकी तृषा बढ़ती ही रहती है।

1. दादू ग्रंथावली, परचा कौ अंग, साखी 30, पृ० 79

2. दादू ग्रंथावली, परचा कौ अंग, साखी 28, पृ० 77

3. दादू ग्रंथावली, परचा कौ अंग, साखी 29, पृ० 78

डॉ० किशनाराम बिश्नोई के शब्दों में “प्रभु प्रेम का प्यासा साधक इस पावन रस के एक-एक घूँट को पीकर नित्य नई प्यास अनुभव करता है।”¹ अर्थ भावना इस रूपक की अभिव्यंजना का स्पष्टीकरण ही है।

दादू कलाल और मदिरा सम्बन्धी अपनी रूपक चेतना के निर्माण के लिए इस व्यवसाय की एक-एक स्थिति को लेकर चलते हैं। मदिरा का व्यक्ति की चेतना पर क्या प्रभाव है – इस तथ्य के द्वारा राम भक्त की मनोदशा को दादू के निम्न रूपक में देखिए –

राता राम का मतिवाला मैंमत।

दादू पीवत क्यूँ रहै, जे जुग जाहि अनंत।²

मदिरा पान के बाद व्यक्ति सुध में नहीं रहता कि वह क्या कर रहा है, उसे कहाँ जाना है परन्तु जब नशा उतरता है तो फिर कार्य करने लगता है परन्तु प्रभु भक्ति रस का जो पान कर लेता है वो साधक फिर कभी होश में नहीं आता, अर्थात् सम्पूर्णता को प्राप्त कर लेता है दूसरे शब्दों में इस जंग से पूर्णतया विमुख होकर केवल अद्वैत की अनुभूति में मतिवाला होकर घूमता रहता है। दादू का यह रूपक भावना और विचार का कैसा सामंजस्य प्रस्तुत करता है। दादू का मन मदिरा की प्रभाव चेतना के साथ आध्यात्मिक भाव चेतना के साथ रम गया है। उनके काव्य में यह रूपक अनेक स्थानों पर दिखाई देता है –

नांव निसक मगन मतिवाला, राम रसाइण पीव पियाला।

सहजै सदा राम रंगि राता, पूरण ब्रह्म प्रेम रसि माता।³

“मदिरा पान करने वाला जिस प्रकार मदिरा का पान करते हुए झूमता व आनन्द मग्न अवस्था में प्रतीत होता है। राम रूपी रस का पान करने वाले भक्त या साधक की भी स्थिति उसी मदिरा पान करने वाले की भाँति होती है जो भगवद प्रेम में आनन्द मग्न हों विभोर रहता है।”

1. डॉ० किशनाराम बिश्नोई, दादू दयाल सिद्धान्त व कविता, पृ० 20

2. दादू ग्रंथावली, परचा कौ अंग, साखी 297, पृ० 72

3. दादू ग्रंथावली, परचा कौ अंग, साखी 17, पृ० 73

सांसारिक मदिरा पान के उपरान्त प्राप्त आनन्द से भक्ति रूपी रस के आनन्द की अवस्था उच्चतम अवस्था है। दादू ने इसी तथ्य के उदाहरण के लिए कलाल के व्यवसाय से जीवंत रूपक उठाए जिनसे उनकी भक्ति चेतना के साथ सामान्य जन भी, तादात्म्य कर सके।

6.5 रंगरेज शिल्प से सम्बन्धित रूपक

मध्यकाल में ग्रामीण जीवन से जुड़ा एक व्यवसाय रंगरेज भी रहा है उसके पास बहुत से रंग होते हैं ग्राहक जो रंग का कपड़ा रंगवाना चाहता था उसको रंगरेज एक सुनिश्चित प्रक्रिया के माध्यम से रंग कर तैयार करता था। रंग से कपड़े का स्वरूप ही बदल जाता है। रंगने की प्रक्रिया में यदि रंग कच्चा होता है तो वह स्थायी नहीं होता। श्रेष्ठ रंग वही माना जाता है जो पक्का हो और स्थायी हो। दादू रंगरेज की चेतना पर आध्यात्मिक भावना के रंग का आयोजन करके अपने काव्याभिव्यक्ति की आयोजना करते हैं—

दादू जे जन हरि के रंगि सो रंग कदे न जाइ।
सदा सुरंगे सन्त जन रंग में रहे समाइ।¹

दादू भक्त की मनोभूमि को रंगरेजी के रूपक से अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि जो भगवान की भावना के रंग में रंग जाते हैं उनकी मनोभूमि हमेशा भगवत भावना में ही रमी रहती है। भक्त की हरि भक्ति मनोभूमि में अस्थिरता नहीं होती है। इसी क्रम में सन्तों के स्वरूप का वर्णन भी करते हैं कि सन्त हमेशा भक्ति के सुन्दर रंग में निमग्न रहते हैं। “सुरंग” शब्द यहाँ लौकिक मनोभूमि और आध्यात्मिक मनोभूमि में पार्थक्य रेखा खींचने के लिए प्रयोग किया गया है। इसी भाव के अधिक सुन्दर व स्पष्ट निर्वाह के लिए दादू का ही एक पद द्रष्टव्य है जिसमें ‘रंगरेज’ के चढ़ाए रंग की सम्पूर्ण विशेषता को अध्यात्म से जोड़ा गया है—

रंग लागौ रे राम कौ, सो रंग कदे न जाए रे।
हरि रंग मेरो मन एयो और न रंग सुहाय रे।
अविनासी रंग अपनौ, रचि मचि लागौ चोलौ रे।

1. दादू ग्रंथावली, साध कौ अंग, साखी 15, पृ० 176

सो रंग सदा सुहावणौ, अेलौ रंग अमोलौ रे।
 हरि रंग कदे न ऊतरे, दिन दिन होत सुरंगौ रे।
 नित नवा निव्राण है, कदे न होइला भंगौ रे।
 साचौ रंग सहजौ मिल्यौ, सुंदर रंग अपारौ रे।
 भागि बिनु क्यूँ पाइए, सब रंग माहै सारौ रे।
 अबरन को कहा बरनिए, सौ रंग सहज सरूपौ रे।
 बलिहारी उस रंग की देषि अनूपौ रे।¹

रंगरेज की रंग चेतना का जितना सुन्दर और सटीक रूपक मनोभूमि को स्वरूप परिवर्तन के संदर्भ में हो सकता है दादू की काव्य चेतना उसे बड़ी बरीकी से पकड़ती हैं इस प्रकार के रूपक बड़े मनोरम बन पड़े हैं। उपर्युक्त पद की अर्थव्यंजना दादू की रूपक चेतना का प्रत्यक्ष उदाहरण है —

जब रंगरेज सफेद वस्त्र को रंगता है तो उसकी सुन्दरता देखते ही बनती है उस पर फिर कोई रंग नहीं चढ़ता। इसी प्रकार भक्ति रूपी रंग यदि जीव की मनोभूमि पर एक बार चढ़ गया तो वह रंग इतना पक्का होता है कि कभी भी समाप्त नहीं होता। हरि रंग की यह विशेषता है कि यह दिन प्रतिदिन और सुन्दर व चटक होता जाता है और इसके लिए जीव को किसी प्रकार के वाह्य आडम्बर की आवश्यकता नहीं होती वरन यह मनुष्य के भीतर ही सहज रूप में विद्यमान है। जिसकी महिमा अवर्णनीय है।

6.6 रजक व्यवसाय से सम्बन्धित रूपक

धोबी का काम वस्त्र की शुद्धि करना होता है। मलिनता का प्रक्षालन उसका मूलभूत आधार है। दादू ने भी आध्यात्मिक साधना की अभिव्यक्ति के लिए कबीर की भांति धोबी के जीवन को भी अपनी रूपक चेतना का विषय बनाकर आध्यात्मिक सन्दर्भों से जोड़ा है। आज भी धोबी हमारे समाज में कपड़ों आदि की सफाई का कार्य करता है। अपने कार्य व्यापार की पूर्ण प्रक्रिया का उसे सामान्य व्यक्ति से अधिक ज्ञान होता है जिसकी सामान्य व विशेष दोनों बातों का ग्रहण दादू के साहित्य में हुआ है —

1. दादू ग्रथावली, पद 131, पृ० 484

किसी भी प्रकार के दाग, धब्बों को छुड़ाने का कार्य धोबी का होता है इसको अध्यात्म से जोड़ते हुए दादू की स्वाभाविक अभिव्यक्ति द्रष्टव्य है कि —

दादू राता राम का अविनासी रंग मांहि।
सब जग धोबी धोई मरे, तौ भी छूटै नाहिं।।¹

प्रस्तुत रूपक में भक्ति के रंग को अविनासी रंग के रूपक रूप में ग्रहण किया है और धोबी का रूपक सांसारिक विघ्न बाधाओं के लिए किया है कि जिस तरह कपड़े पर एक बार पक्का रंग चढ़ा दिया जाए तो धोबी के लाख प्रयत्न व पूरी प्रक्रिया अपनाने के बाद जैसे मसाला लगाना पीट-पीट कर रगड़ना व अनेक बार जल में डुबोना परन्तु वह रंग उससे अलग नहीं कर पाता। ईश्वर की भक्ति व प्रेम रंग भी उसी प्रकार से है कि यदि एक बार चढ़ जाए तो सांसारिक विघ्न बाधाएं माया मोह रूपी सभी धोबी उस भक्ति के रंग को छुड़ा नहीं सकते।

धोबी की प्रक्रिया को अपनी अनुभूति से जोड़ते हुए दादू ने एक अन्य रूपक की रचना भी सहज ही कर दी है —

दादू नृमल करणी साध की, मैली सब संसार।
मैली मधिम हवै गए, निम्रल सिरजनहार।।²

प्रस्तुत रूपक में धोबी के कार्य व्यापार के रूपक से जीवन के स्वरूप और उस परम सत्ता के स्वरूप की व्यंजना की है। दादू सांसारिक जीवन के समानान्तर साधु के जीवन को रखकर लौकिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन के स्वरूप का निरूपण करते हैं। सांसारिक जीवन से युक्त मनोभूमि पर सांसारिक विषयों के अनेक संस्कार होते हैं, जिससे शुद्ध चैतन्य मलिन हो जाता है उसकी दृष्टि विषय सापेक्ष हो जाती है। दूसरी ओर साधु का जीवन व्यापार सांसारिक संस्कारों से युक्त होता है, उसमें संकीर्ण भावना जन्म मलिनता नहीं

1. दादू ग्रंथावली, साध कौ अंग, साखी 44, पृ० 178

2. दादू ग्रंथावली, सारग्राही कौ अंग, पृ० 11

होती। दादू का यह भाव जहाँ चेतना के स्वरूप संस्कार की व्यंजना करता है वहीं साधु जीवन की महत्ता भी प्रतिपादित करता है। साधु जीवन परमसत्ता की मनोभूमि में रहता है कि अभेदमयी चेतना में जागतिक विषयों के संस्कारों का लेशमात्र भी नहीं होता। परमसत्ता का स्वरूप तो शुद्ध अखण्ड महाचैतन्य है। दादू इस तथ्य की व्यंजना अपने इस तथ्य के माध्यम से करते हैं।

6.7 साहूकार और बनिजारे के व्यवसाय से सम्बन्धित रूपक

बनजारा, वणिक साहूकार का व्यवसाय सामान्य जन के जीवन से जुड़ा हुआ होता है। साहूकार की पूंजी का निवेश व्यापार में होता था। सारे व्यापार का आधार सूत्र उसी के हाथ में होता था। दादू की धारणा के अनुसार इस जीवन व्यापार का सूत्र भी उस परमसत्ता के हाथ में है इसीलिए हमारे जीवन व्यापार का सबसे बड़ा नियन्ता तो परमात्मा रूपी साहूकार ही है, बीच की श्रृंखला में जीव रूपी वणिक है जो अपने कार्य व्यापारों से कमाई करता है। यदि उसके पास पूंजी नहीं होती तो वह क्या तो अपने लिए कमाएगा और क्या साधू को देगा। इसी भाव की व्यंजना दादू के निम्न रूपक में देखी जा सकती है —

दादू टोटा दालिदी, लाखों का व्यापार।

पैक नाहिं गांठरी, सिरै साहूकार।¹

राम नाम को वणिजन बैठे, ताते मांझा हार।

साई तो सौदा करै, दादू खोल कपाट।²

साहूकार का कार्य सौदागर का होता है वह वस्तुओं को देकर उनके बदले में उस वस्तु में लगे धन के अतिरिक्त लाभ भी लेता है जो उसका अपना होता है। इस रूपक के माध्यम से दादू जीव और उसकी जीवन व्यापार की स्वरूप व्यंजना करते हुए कहते हैं कि परमात्मा रूपी साहूकार भी सबके कर्मों को देख रहा है।

1. श्री दादू वाणी, 13/02

2. श्री दादू वाणी, 13/54

उसके समक्ष प्रत्येक आत्मा अच्छे व बुरे कर्म नफे व घाटे के समान उसके समक्ष है और जिस तरह साहूकार नफे का ही सौदा करता है उसी प्रकार ब्रह्म रूपी सौदागर भी शुभ कर्म वाले जीव का ही उद्धार करता है।

“परमात्मा रूपी सौदागर से आत्मा रूपी तत्त्व के नफे या घाटे का सौदा करने की व्यंजना तत्कालीन अर्थव्यवस्था पर भी प्रकाश डालती है।”¹

6.8 जौहरी शिल्प से सम्बन्धित रूपक

दादू ने भी कबीर की भांति सभी जीवित चिन्तन धाराओं से लाभ उठाया है। जहाँ एक ओर हम अभी तक बुनकर, कुम्हार, नटकला आदि निर्धन वर्ग के शिल्प को उठाया वहीं धनी वर्ग के शिल्प ‘जौहरी’ प्रस्तुत हैं जिसमें दादू की काव्य प्रतिभा एक नवीन रूप में निखरी है। जौहरी शिल्प के सन्दर्भ में चतुर्थ अध्याय में बताया जा चुका है कि हीरे—मोती बहुमूल्य रत्नों के व्यावसायियों को जौहरी कहा जाता था और इनको समाज में अन्य शिल्प की अपेक्षा अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी क्योंकि राजा महाराजाओं का समय था जौहरी जितने इनके निकट थे उतना अन्य निम्न वर्गीय शिल्प नहीं हो सकते। दादू ने सम्यक् दृष्टि से इस शिल्प से भी अनेक आध्यात्मिक रूपक खड़े कर अपने चिंतन को विस्तार दिया है।

जौहरी को ब्रह्म व साधक को हीरा मानकर दादू ने अनेक रूपकों की संरचना की है। ये रूपक जहाँ एक ओर दादू के सूक्ष्म ज्ञान के परिचायक हैं तो दूसरी ओर आध्यात्मिक अर्थव्यंजना के लिए उनकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा को सिद्ध करते हुए उनके रूपकों की विशेषता बताते हैं। कुछ उदाहरण देखिए —

हीरा कौड़ी न लहै, मूरिख हाथि गवार।

पाया पारिष जौहरी, दादू मोल अपार।²

-
1. सावित्री चन्द्र, सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्त संस्कृति तथा समाज का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० 140 (शोध—प्रबन्ध)
 2. दादू ग्रन्थावली, पारिष कौ अंग, पृ० 26

हीरे का मूल्य केवल जौहरी ही जानता है। साधारण व्यक्ति के लिए हीरा पत्थर के तुल्य है। प्रस्तुत साखी में हीरा भक्ति के रूप में लिया गया है कि अज्ञानी जीव के लिए भक्ति रूपी हीरा कौड़ी की भांति है और वह भक्ति रूपी हीरे का मूल्य तब तक नहीं पहचान सकता जब तक उसे गुरु रूपी जौहरी नहीं मिल जाता।

इसी भाव साम्य की एक और साखी द्रष्टव्य है जिसमें दादू ने स्पष्ट किया कि हीरे का मूल्य केवल जौहरी रूप ब्रह्म ही जानता है अज्ञानी या अंधा व्यक्ति नहीं जान सकता। यथा—

अंधे हीरा परषिए, कीया कौड़ी मोल।
दादू साधू जौहरी, हीरे मोल न तोल।।¹

अंधे व्यक्ति के हाथ में यदि हीरा रख दिया जाए तो दृष्टिविहीन होने के कारण साधारण पत्थर व हीरे का भेद वह नहीं समझ पाएगा। जौहरी हीरे का पारखी होता है जो रूप, गुण, मात्रा को देखकर तुरन्त साधारण पत्थर व हीरे का भेद बता देता है।

प्रस्तुत रूपक में भक्त को उसी जौहरी का प्रतिबिम्ब मानते हुए दादू का मत है कि भक्ति रूपी हीरे की परख केवल भक्त रूपी जौहरी ही कर सकता है।

6.9 स्वर्णकार शिल्प से सम्बन्धित रूपक

सोना भी एक बहुमूल्य धातु है जिसकी परख करने वाले को सुनार कहा जाता है। सुनार शिल्प के उपादानों से सूक्ष्म आध्यात्मिक अभिव्यक्तियाँ दादू की नवीन उद्भावना है। निम्नलिखित रूपकों के माध्यम से इस शिल्प को लौकिक व आलौकिक अभिव्यक्ति देखी जा सकती है।

खरा व खोटा होना स्वर्ण के गुण व अवगुण हैं जिसे साधारण जनता नहीं समझ पाती केवल सुनार ही उसे समझ के उसके गुण अवगुण के आधार पर उसका मोल बताता है।

षोटा षरा परषिए, दादू कसि कसि लेई।
साचा है सो राषिए, झूठा रहया न देई।।²

1 दादू ग्रथावली, पारिष कौ अग, पृ० 27

2 दादू ग्रथावली, पारिष कौ अग, पृ० 30

स्वर्णकार आभूषण का खरा खोटा होना कसौटी पर कसकर देखता है, खरे सोने को ग्रहण कर खोटे को छोड़ देता है उसी प्रकार भक्ति रूपी कसौटी पर जीव की साधना को प्रभु रूपी जौहरी भी कसकर उसकी परख करता है। सच्चे भक्त को ही ब्रह्म रूपी जौहरी स्वीकार करता है और जो झूठे संसार में उलझा हुआ है उसे खोटे स्वर्ण के समान इस संसार के आवागमन के चक्र में ही छोड़ देता है।

एक अन्य स्थल पर भी दादू ने ऐसा ही रूपक खड़ा किया है —

यौं तो कसणी साच सहैगा, साचा कसि कसि लैवे।

दादू दरजन साचा पावै, झूठे दरस न दैवे।¹

जो भक्ति के लिए स्वयं को उस ब्रह्म रूपी जौहरी की कसौटी पर घिस कर स्वयं को सत्यापित करता है उसी को परम सत्ता की प्राप्ति सम्भव होती है, जिस भक्त की भक्ति पाखण्ड है झूठ पर टिकी है उसे कभी भी ब्रह्म के दर्शन नहीं हो सकते। दादू के काव्य में भाव की सात्विकता व अपवित्रता को स्वर्ण के रूपक द्वारा उद्घाटित करता एक अन्य रूपक देखिए —

षरा कसौटी कीजिए, वानी बंधती जाए।

दादू साचा परषिए, मँहगे मोल बिकाई।²

चित्त रूपी कसौटी पर साधना रूपी हीरे को जितना अधिक घिसा जाए साधना उतनी ही अधिक सघन होती जाती है अर्थात् मन के अहंकार को जितना अधिक दूर रखा जाए ब्रह्म उस साधक के उतने ही पास आता जाता है।

परब्रह्म की पहचान को सुनार के माणिक की पहचान के समतुल्य बताते हुए एक और रूपक प्रस्तुत है —

मन माणिक मूरिष राषि रे, जण जण हाथि म देहु।

दादू पारिष जौहरी, राम साध दोइ लेहु।³

1. दादू ग्रंथावली, राग रामगरी, पदावली 4, पृ० 438

2. दादू ग्रंथावली, पारिष कौ अंग, पृ० 34

3. दादू ग्रंथावली, मन कौ अंग, पृ० 73

मन रूपी अमूल्य माणिक्य को अज्ञानी जीव ने विभिन्न साधनाओं व मत-मतान्तर में लगा दिया है किन्तु जो ज्ञानी है वो केवल निर्गुण ब्रह्म 'र' और 'म' इन दो अक्षरों के माध्यम का ही आश्रय लेता है। उसी तरह जैसे स्वर्णकार केवल खरे स्वर्ण को स्वीकार कर खोटे को छोड़ देता है।

स्वर्णकार शिल्प के उपादान आभूषण व कसौटी को लेकर दादू का एक रूपक प्रस्तुत है —

दादू जब दिली मिली दयाल सौ तब अंतरि नाही रेष।

नाना विधि बहु भूषणां, कनक कसौटी एक॥¹

स्वर्ण से बने आभूषण विभिन्न प्रकार के होते हैं, और सभी आभूषणों की खरे व खोटे की पहचान के लिए केवल एक कसौटी होती है। उसी प्रकार आध्यात्मिक जगत् में भक्ति रूपी कसौटी पर स्वर्णकार रूपी ब्रह्म नाना प्रकार के जीव रूपी स्वर्ण की परख के लिए उन्हें घिसता है और जो इस कसौटी पर खरा उतरता है उसे स्वयं के पास रखने के योग्य समझता है।

भक्ति रूपी कसौटी पर खरा उतरने के लिए कितने प्रयास भक्त को करने पड़ते हैं, दादू के काव्य में सुनार शिल्प का ये अन्तिम रूपक प्रस्तुत है जिसमें इस तथ्य का रहस्योद्घाटन किया गया है —

वातन ही जे नृमल होव, तौं काहे को कसि लीजे।

सोना अगनि दहै दस बारह, तब यहु प्राण पतीजै॥²

प्रस्तुत रूपक में सुनार शिल्प की प्रक्रिया के द्वारा आध्यात्म निरूपण किया गया है कि — सोना अनेक बार अग्नि में डाला जाता है तब वह खरा और शुद्ध होता है उसी प्रकार मन की शुद्धि केवल मत-मतान्तर वाद-विवाद या पुस्तकीय ज्ञान से नहीं होती वरन् जीव साधना की अग्नि में पकने के बाद ही शुद्ध होता है।

1. दादू ग्रंथावली, सुमिरन कौ अंग, पृ० 280

2. दादू ग्रंथावली, राग रामगरी-3, पदावली,, पृ० 438

उपर्युक्त शिल्पी जीवन से सम्बन्धित रूपकों के स्वरूप विश्लेषण एवं अर्थव्यंजना के आधार पर कहा जा सकता है कि दादू ने सामान्य जीवन से जुड़ी व्यावसायिक कला (शिल्प) के माध्यम से जैसी सूक्ष्म आध्यात्मिक अभिव्यजनाएं प्रस्तुत की हैं वैसी अन्यत्र दुर्लभ हैं शिल्पकारों (कलाकारों) के सूक्ष्म से सूक्ष्म उपादानों के माध्यम से आध्यात्मिक साधना और अनुभूति तथा जीवन सत्य का सुन्दर और मनोरम वर्णन किया है। दादू जिस समाज में पले बढ़े थे वह अशिक्षित अज्ञानी लोगों का समाज था जो संतों के उस ज्ञान तक नहीं पहुँच सकते थे जो शास्त्रीय परम्परा में पारिभाषिक शब्दावली के जंजाल में फसा हुआ था।

दादू अपने रूपकों के रूप में ऐसा माध्यम तलाश किया जिससे अपनी बात सरलता से जन समुदाय तक पहुँचायी जासके। इस सन्दर्भ में डॉ० किशनाराम बिश्नोई का कथन दृष्टव्य है। कि— “दादू का समाज प्रमुखतः साधारण अनपढ़, अज्ञानी, पीड़ित लोगों का समाज था जिसमें गाँवों के साधारण किसान, ग्रहस्थ मजदूर, किसान आदि सम्मिलित थे उनकी वाणी का परिवेश गाँव के लोगों के दैनिक वातावरण का है।¹

जिस वातावरण के अन्दर सभी निम्न मध्यवर्गीय व उच्च वर्गीय शिल्प व व्यवसायी आते हैं। जिनसे हमारा तिहाई संसार निर्मित होता है, और कोई भी कवि तभी कवि होता है जब वह अनपेक्षित लक्ष्य की प्राप्ति को समाज कल्याण के रूप में ग्रहण करे दादू ऐसी ही महान विभूति हैं जिन्होंने जन साधारण के अत्यन्त तुच्छ से तुच्छ कार्य में भी ब्रह्म को ढूँढा व उसको उस वाणी में अभिव्यक्त किया जो जन समुदाय के समझ में आ सके।

“ग्रामीण लोगों का जो मानसिक धरातल है, उनके ज्ञान की जो सीमा है, जो उपकरण सामग्री है उसके परिचय और समझ का जो क्षितिज है उसी की सीमा के भीतर, उन्हीं की भाषा शैली में दादू ने अपनी वाणी मुखरित की है।² गूढ़ आध्यात्मिक अभिव्यंजना संतों का लक्ष्य रहा है जिसके लिए मानवीय श्रम को आधार मानकर दादू ने सफल व

1. डॉ० किशनाराम बिश्नोई, दादू दयाल : सिद्धान्त और कविता, पृ० 184

2. डॉ० किशनाराम बिश्नोई, दादू दयाल : सिद्धान्त और कविता, पृ० 184

सारथक प्रयास किए हैं, जिसका उदाहरण प्रस्तुत अध्याय हैं जिसमें दादू के काव्य में शिल्पी जीवन की बारीकियाँ उभारी गई हैं व प्रस्तुत के माध्यम से उस अप्रस्तुत की व्यंजना की गई जो दादू का प्रतिपाद्य था। परन्तु लोक से हटकर नहीं वरन् लोक में रहकर प्रत्येक क्षण को कार्य में लगाकर क्योंकि कवि दादू ने सदा अपने हाथों से अपनी जीविका कमाई हाथों के काम के साथ अजपाजय भी चलता रहा। कर्म को ही पूजा मानकर चलने वाले दादू ने समाज को भी उसी मार्ग के लिए प्रेरित किया कर्म के सन्दर्भ में डॉ० बलदेव बंशी का मत है कि— जो अपने काम को भगवान की पूजा नहीं बना सकता उसके लिए पूजा का कोई और माध्यम या अर्थ नहीं है। हमारा पूरा जीवन ही भगवान की अनुभूति से भरा हुआ होना चाहिए। अलग से पूजा का समय निर्धारित करने वाले बड़े भुलावे में हैं। अतः जो भी तुम्हारा काम है घर में, समाज में कार्यालय में, दुकान में वह सब राम के लेखे किया जाने वाला कार्य है। आध्यात्मिक अनुभूति से व्यक्ति यदि अपने कार्य करे तो इससे बड़ी पूजा कोई और नहीं है, इस अनुभूति से सारा समाज व देश एक नयी क्रांति के द्वार पर पहुँच सकता है।¹

और इसी क्रांति को लाने के लिए दादू प्रयत्नशील रहे। गोविन्द लाल छावड़ा के शब्दों में “अपने वातावरण के अणु-अणु का स्पन्दन पहचानना और अपने काल के क्षण-क्षण की धड़कन को जानना कवि के लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि भविष्य का आख्याता होना वह ऐसा गगनचारी है जिसकी दृष्टि धरती पर सदैव अपने नीड़ पर रहा करती है।² दादू का काव्य भी उच्चतम आदर्शों व यथार्थ से मिलकर बना है।

जहाँ प्रस्तुत अध्याय में अध्यात्म की गहन अनुभूतियाँ हैं वहाँ समाज का वो श्रेष्ठ रूप भी प्रस्तुत है जो अत्यन्त साधारण बुनकर, कलाल, धोबी, बाजीगर, जौहरी, बनिया आदि शिल्प के लोगों की कार्य प्रक्रिया से मिलकर दादू के काव्य की भावभूमि तैयार करता है जिस पर अध्यात्म का महल खड़ा हो सके।

-
1. बलदेव बंशी, कहत कबीर कबीर, पृ० 34, 35
 2. गोविन्द लाल छावड़ा, क्रांतिकारी कबीर, पृ० 9

प्रस्तुत अध्याय के सन्दर्भ से इस तथ्य को नकारते हुए यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि दादू का लक्ष्य, आदर्श व उपलब्धि आध्यात्मिक होते हुए भी आधार लौकिक है। दादू का साहित्य भी समाज सापेक्ष है जिसने लोक चेतना, मानवीय सरोकार व उस सामाजिक-सांस्कृतिक दायित्व को पूरा किया जो रचनाकार का प्रथम दायित्व होता है। यही कारण है कि आज इतने वर्षों बाद भी दादू का साहित्य अमर है।

उपसंहार

उपसंहार

प्रस्तुत शोध में रूपक चेतना के माध्यम से कबीर और दादू की वाणियों में काव्य चेतना को रेखांकित करते हुए संत साहित्य को समझने समझाने के लिए शोध और समीक्षा की कुछ दिशाएं खोलने का प्रयास है। एक प्रकार से देखा जाय तो रूपक चेतना काव्य का प्राण तत्त्व है। निर्गुण काव्य का स्वरूप लौकिक एवं पारलौकिक दोनों जगत की आधारभूत भावनाओं के समन्वय से निर्मित हुआ है। निर्गुण काव्य की आत्मा भक्ति एवं अध्यात्म चिंतन है तथा उसका शरीर लोक व्यापार है, यही कारण है कि सन्त काव्य के प्रतिमान के रूप में रूपक की भूमिका अनन्यतम दिखाई देती है।

काव्य शास्त्र में रूपक-चेतना की उद्भावना आचार्य भरत के नाट्य-शास्त्र से शुरू होती है। यद्यपि वैदिक साहित्य में भी विभिन्न रूपकों के माध्यम से अध्यात्मिक जीवन के जटिल बिम्बों को प्रस्तुत किया है। काव्य शास्त्र की लम्बी यात्रा में रूपक मात्र एक अलंकार बन कर रह गया है। अलंकार के रूप में इसका उल्लेख ही साहित्य के अनुशीलन में पर्याप्त माना जाता है, यही कारण है कि रूपक व्यावहारिक समीक्षा का अंग नहीं बन सका। यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाए तो रूपक प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ही रूपों में साहित्य समीक्षा की दो दिशाएं खोलता है। रूपक का अप्रस्तुत विधान जो प्रस्तुत का माध्यम भी होता है, कहीं न कहीं जीवन की व्यावहारिक दिशाओं से जुड़ा होता है। आज यह आवश्यक है कि रूपक तत्त्व के शास्त्रीय स्वरूप को उद्घाटित करते हुए उसे समीक्षा का आधार बनाया जाय। संस्कृत काव्यशास्त्रों में रूपक के स्वरूप पर विस्तार से विचार किया गया है, लेकिन वहाँ रूपक कवि शिक्षा के रूप में काव्य सृजन के लिए दिशा निर्देश तो देता है लेकिन समीक्षा की दिशाएं खोलने में मौन धारण कर लेता है। यही कारण है कि समीक्षा के व्यवहार जगत में संस्कृत काव्यशास्त्र, रूपक चेतना अप्रासंगिक सी दिखाई देती है।

आचार्य दण्डी ने रूपक के लक्षण प्रस्तुत करते हुए उपमान और उपमेय का भेद करते हुए कहा है कि उपमान और उपमेय का भेद जहाँ तिरोभूत हो जाय ऐसी उपमा ही रूपक है। मम्मट भी उपमान उपमेय के अभेद को रूपक कहते हैं। रूपक की ये परिभाषाएं काव्य रचना के सन्दर्भ में रूपक के लक्षण प्रस्तुत करने में सक्षम हैं, लेकिन आज की साहित्य समीक्षा की दिशा निर्देशक बनने में समर्थ नहीं है। प्रस्तुत अध्ययन के प्रथम अध्याय में कोश एवं संस्कृत काव्य शास्त्र के आधार पर रूपक तत्त्व और उसमें निहित उपमान के स्वरूप के आधार पर रूपक चेतना की उन दिशाओं को खोलने का प्रयास किया गया है जो व्यावहारिक समीक्षा के लिए कुछ दिशाएँ दे सकता है। रूपक और उपमान काव्य के ऐसे तत्त्व हैं जिनका यदि सम्यक रूप से अनुशीलन एवं अनुभावन किया जाए तो वे किसी भी युग की कविता के लिये अप्रासांगिक नहीं हो सकते।

रूपक चेतना का संबंध जहाँ उसकी संरचना से होता है वहीं उसके स्रोत भी काव्य के जीवन बिम्बों को विशिष्ट आधार देते हैं। काव्य का समाज दर्शन, संस्कृति दर्शन, रूपक चेतना में संचरित रहते हैं। अतः हमारी धारणा है कि मध्यकालीन काव्य के अनुशीलन के लिए और विशेष कर संत साहित्य के अनुशीलन के लिए रूपक एक अनिवार्य तत्त्व है।

कबीर और दादू पर सम्पन्न शोध प्रबन्धों और समीक्षा ग्रन्थों में उनके व्यक्तित्व और युगीन परिवेश पर पर्याप्त विचार हुआ है। अब स्थिति यहाँ तक आ पहुँची है कि इस सन्दर्भ में नवीन तथ्यों के उद्घाटन के लिए अवकाश नहीं रह गया है और उसका यथा तथ्य प्रस्तुतीकरण भी शोध प्रबन्धों के लिए अनावश्यक भार बन जाता है। इस शोध प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में कबीर और दादू के वैयक्तिक जीवन परिवेश और युगीन पृष्ठभूमि को उनकी रूपक चेतना और उसकी संरचना की पृष्ठभूमि के रूप में लिया गया है। हमें शोध परक समीक्षा की यह स्वस्थ दिशा लगती है कि विवेच्य कवियों के जीवन से सम्बन्धित उपलब्ध सामग्री के आधार पर उनकी रचनाओं का अनुशीलन किया जाय। यह

स्वीकृत तथ्य है कि कबीर और दादू के जन्म की स्थितियाँ और जीवन की परिस्थितियाँ समान हैं दोनों ही सामाजिक व्यवस्था की विकृत चेतना से आहत थे। दोनों का ही सम्बन्ध और व्यावसायिक जीवन समाज के उस वर्ग से सम्बन्धित था जो तिरस्कृत जीवन जीता हुआ जीवन की उन उपयोगी और व्यावहारिक दिशाओं से जुड़ा रहा है, जो सामाजिक संरचना के मूल आधार हैं, जहाँ मानव चेतना, व्यावसायिक चेतना से जुड़कर नई-नई भाव दशाएं ग्रहण करती हैं, यही कारण है कि कबीर और दादू ही नहीं सम्पूर्ण सन्त काव्य लोक संचेतना का काव्य है उसमें लोक की अनुभूति है, लोक की समस्याएं हैं, लोक की भाषा है, लोक का जीवन है लोक की संवदेनाएं हैं।

भारतीय समाज का लोक तो उसका कृषक और उपयोगी कला परक जीवन ही है इसीलिए मध्यकालीन सन्त काव्य की रूपक चेतना को समझना अपेक्षित है जो उस काल के कृषक और शिल्पी जीवन से जुड़ी हुई हैं। मध्यकालीन शिल्पी जीवन के अन्तर्गत हम उन सभी व्यवसाय परक कलाओं को लेना उचित समझते हैं जिनमें जीवन संदर्भों से जुड़ी हुई कलात्मक बारीकियाँ हैं, और जो जनसामान्य के जीवन यापन का साधन रही हैं, भले ही उसका कोई प्रत्यक्ष उत्पादन न हो। भारतीय शास्त्रों में भी शिल्प को कला शास्त्र के रूप में लिया गया है। 64 कलाओं की गणनाओं में सभी शिल्प आ जाते हैं। शोध अध्ययन के इस अध्याय में कबीर और दादू के वैयक्तिक जीवन की उन रेखाओं को रेखांकित किया है जो इस शोध को समुचित आधार दे सकती है। हमारा मानना है कि यह अध्याय शोध और समीक्षा को एक ऐसा दिशा संकेत दे सकेगा जिससे कबीर और दादू के जीवन और व्यक्तित्व पर उपलब्ध सामग्री को प्रस्तुत शोध के आधार के रूप में देखा जा सकेगा।

कबीर का व्यावसायिक जीवन वयन शिल्प से जुड़ा हुआ है। मध्यकाल में भारतीय समाज का ढांचा कुछ ऐसा था कि जनसामान्य के व्यवसाय कृषक जीवन से सीधे जुड़े हुए थे। कृषक जीवन जनसामान्य की रग-रग में समाया हुआ था। कबीर ने कृषक जीवन को

बहुत निकट से देखा था। यही कारण है कि उनके काव्य में रूपकों की संरचना कृषक जीवन से जुड़े हुए उपमानों से होती हुई शिल्पी जीवन तक जाती है। कबीर की काव्य चेतना या रूपक चेतना को विद्वानों ने केवल आध्यात्मिक बिम्ब तक ही सीमित रखा है। कबीर का काव्य केवल आध्यात्मिक अनुभूति पर ही टिका हुआ नहीं है आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यंजना जिन अप्रस्तुतों के माध्यम से हुई है वे भी लौकिक जीवन की अनुभूति साधना को एक दिशा देते हैं। कबीर ने ऊसर खेत, बीज, उपज की सुरक्षा आदि की रूपक संरचना द्वारा आध्यात्मिक साधना की मनोरम व्यंजना की है। मध्यकालीन सन्तों के अप्रस्तुत विधान का अनुशीलन साहित्य और संस्कृति के सन्दर्भ में इसलिए भी आवश्यक हो जाता है कि तत्कालीन कृषक जीवन बदलते हुए आधुनिक परिदृश्य में अतीत का विषय बनता जा रहा है। शोध अध्ययन ही तत्कालीन कृषि जीवन सम्बन्धी चेतना के संरक्षण के साधन हैं। इनके अभाव में भावी पीढ़ी के लिए सन्त साहित्य का समझना एवं समझाना कठिन हो जायेगा।

कबीर और दादू ने कृषक जीवन के अतिरिक्त शिल्पी जीवन को भी अपनी रूपक संरचना का आधार बनाया है। कृषक जीवन की अपेक्षा मध्यकालीन शिल्पी जीवन बहुआयामी है। कबीर और दादू के काव्य में शिल्प (कला) का जो रूप मिलता है उसके अन्तर्गत वयन, काष्ठकार, कुम्भकार, बाजीगर, कलाल, लोहार, सिकलीगर, धोबी, पनिहारी, नटकला, आदि शिल्प आते हैं। इन शिल्पों की कलात्मक चेतना और शिल्पकार की मनोभूमि रूपकों में समाई हुई है। इनको समझे बिना कबीर और दादू के काव्य को समझना कठिन ही नहीं असम्भव है। आधुनिक युग के बदलते परिप्रेक्ष्य में इनमें से अधिकांश शिल्पों की मध्यकालीन चेतना अतीत का विषय बन चुकी है, इसलिए मध्यकालीन काव्य के शोधकर्त्ताओं और समीक्षकों से यह अपेक्षा की जाती है कि मध्यकालीन काव्य के अप्रस्तुत विधान की व्यावसायिक काव्य चेतना का उद्घाटन करें। प्रस्तुत शोध अध्ययन इसी दिशा में किया गया एक विनम्र प्रयास है।

परिशिष्ट

- हिन्दी ग्रन्थ
- संस्कृत ग्रन्थ
- अंग्रेजी ग्रन्थ
- कोश
- पत्रा-पत्रिकाएँ

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

हिन्दी ग्रन्थ

- चतुर्वेदी सम्पादक आचार्य परशुराम : दादू ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी 2023 वि०
- डॉ० श्याम सुन्दर दास : कबीर ग्रन्थावली, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, 2034 वि०, पांचवा संस्करण
- सिंह, जयदेव : वासुदेव-कबीर वाङ्मय भाग (1) साखी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1974 ई० (प्रथम संस्करण)
- सिंह, जयदेव : वासुदेव-कबीर वाङ्मय भाग (2) सबद, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी 1981 ई०, प्रथम संस्करण
- सिंह, डॉ० जयदेव, वासुदेव : कबीर वाङ्मय भाग (3) रमैनी विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी प्रथम संस्करण, 1976
- अहमद, लईक : मुगलकालीन भारत प्रयाग पुस्तक भावन इलाहाबाद, 1987
- अबुल फजल : आइने अकबरी, अनुवादक कर्नल जैरेट, ओरिएन्टल बुक्स रीप्रिन्ट कार्पोरेशन, नई दिल्ली
- डॉ० ओमप्रकाश : अलंकार का स्वरूप विकास, नेशनल पब्लिशिंग, दिल्ली 1973
- कबीर, हुमायूँ : भारतीय परम्परा केन्द्रिय हिन्दी निदेशालय, दिल्ली, शिक्षा मंत्रालय भारत सरकार 1963
- खण्डेलवाल, जयकिशन प्रसाद : हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा नवौं संस्करण 1969
- गुप्त, मदनगोपाल : मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय संस्कृति, नेशनल पब्लिकेशन हाउस, दिल्ली, 1968
- गुप्त, एस०एम० दास : भारतीय दर्शन का इतिहास भाग-1, द्वितीय संस्करण, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1988-89

- गुप्त, डॉ० हरिहर प्रसाद : कबीर काव्य प्रतिभा एवं संरचना, भाषा साहित्य संस्थान, इलाहाबाद
- गौतम, मनमोहन : सूर की काव्य कला, भारती साहित्य मंदिर, दिल्ली, 1958
- चतुर्वेदी, परशुराम : उत्तरी भारत की संत परम्परा, भारतीय भण्डार इलाहाबाद
- चौधरी, मजूमदार राय : भारत का वृहत इतिहास मैकमिलन इण्डिया लिमिटेड, मद्रास
- चौरसिया, डॉ० केशनी कुमार : मध्यकालीन हिन्दी सन्त साहित्य की पृष्ठभूमि, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद 1995
- छावड़ा, डॉ० गोविन्दलाल : क्रान्तिकारी कबीर, रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स, दिल्ली
- जाफरी, सरदार : कबीर बानी, हिन्दुस्तान बुक ट्रस्ट, खेतान भवन, बम्बई
- त्रिपाठी, आर्या प्रसाद : कबीर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, सरोज प्रकाशन इलाहाबाद
- दवे, कृष्ण देव वल्लभ : संत कवि दादू, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, प्र०सं०, 1983
- दिनकर, रामधारी सिंह : संस्कृति के चार अध्याय, उदयाचल प्रकाशन, पटना 1977
- द्विवेदी, केदारनाथ : कबीर और कबीर पंथ, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग इलाहाबाद
- द्विवेदी, डॉ० रामचन्द्र : अलंकार मीमांसा—मोती लाल बनारस, दिल्ली, वाराणसी, पटना, प्र०सं० 1965
- द्विवेदी, डॉ० हजारी प्रसाद : कबीर, राजकमल प्रकाशन
- डॉ० नगेन्द्र : साकेत एक अध्ययन, साहित्य रत्न भण्डार, आगरा संवत् 2015, नवम संस्करण
- पाठक, डॉ० जितेन्द्रनाथ : मध्यकालीन हिन्दी मुक्तक काव्य की पृष्ठभूमि भूमिका प्रकाशन, नई दिल्ली 1996
- पाण्डेय, मैनेजर : भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य,

- वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण 1993
- पाण्डेय, डॉ० रामसजन : संसृति सन्तों की सांस्कृतिक, उपकार प्रकाशन 1995 प्र०सं०
- बंसी, डॉ० बलदेव : दादू जीवन दर्शन, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली प्र०सं० 1990
- बडथवाल, डॉ० पीताम्बर दत्त : हिन्दी की निगुर्ण धारा तक्षशिला अन्सारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली
- भारती, डॉ० धर्मवीर : कबीर नई सदी में बाज भी, कपोत भी, पपीहा भी, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2000, प्र० संस्करण
- भारती, धर्मवीर : सिद्ध साहित्य, इलाहाबाद वि०वि शोध प्रबन्ध 1953
- मिश्र, डा० भगवत स्वरूप : कबीर ग्रन्थावली (भाग-1), भाषा, साहित्य संस्थान, इलाहाबाद।
- मजीठिया, डॉ० सुदर्शन सिंह : संत साहित्य रूपकमल प्रकाशन दिल्ली
- मिश्र, डॉ० रमेश चन्द्र : सन्त साहित्य व समाज, आर्य प्रकाशन मंडल, सरस्वती भंडार, गाँधीनगर, दिल्ली
- मिश्र, श्री रामदहिन : काव्य में अप्रस्तुत योजना, ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना, संवत् 2005
- मिश्र, डॉ० विद्योत्तमा : दादू दास तुम्हारा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
- मिश्र, डॉ० सुरेश : अकबर पंचशील प्रकाशन, जयपुर
- यादव, डॉ० बी०एन०एस० : मध्यकालीन भारत भाग-1, राजकमल प्रकाशन
- रघुवंश : कबीर एक नई दृष्टि, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
- राधाकृष्णन, डॉ० सर्वपल्ली : भारतीय दर्शन, अनु० नन्दकिशोर गोभिल, राजपाल दिल्ली, 1966-69
- लक्ष्मीचंद : कबीर और जायसी ग्राम संस्कृति, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली प्र०सं० 1988
- वर्मा, डॉ० रामकुमार : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, साहित्य समालोचना, 1942

- विश्वनोई, डॉ० किशनराम : दादूदयाल सिद्धान्त व कविता, निर्मल पब्लिकेशनन्स, दिल्ली 1996
- शर्मा, देवेन्द्र नाथ : हिन्दी का वृहत्त इतिहास (भाग-5), नागरी प्रचारिणी सभा काशी 2014- 2015
- शर्मा, एस०आर० : भारत में मुसलिम शासन का इतिहास, प्रकाशक, लक्ष्मी नारयण अगवाल, आगरा 1965
- शर्मा, डॉ० सरनाम सिंह : कबीर एक विवेचन, साहित्य संसार, दिल्ली 1960
- शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र : चिन्तामणि भाग-1, इण्डिया प्रेस लिमिटेड, प्रयाग 1956
- शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा 2025 वि० 16 वाँ संस्करण
- शुक्ल, डॉ० सावित्री : संत साहित्य की सामाजिक व सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, लखनऊ विश्वविद्यालय, हिन्दी प्रकाशन 1963
- शैलेट, जे०एम० अकबर : भारतीय विद्या भवन, चौपाटी, बाम्बे
- श्रीवास्तव, जगदीश प्रसाद : हिन्दी साहित्य का इतिहास, हिन्दुस्तानी, एकेडमी, इलाहाबाद, 1960
- श्रीवास्तव, दयानन्द : हिन्दी साहित्य का इतिहास, अपोलो प्रकाशन, जयपुर 1964
- श्रीवास्तव, डॉ० एस०एल० : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति उमेश प्रकाशन, इलाहाबाद 1997
- सिंह, प्रो० पुष्पलाल : कबीर ग्रन्थावली सटीक, अशोक प्रकाशन, दिल्ली 1962
- सिंह, डॉ० मोती : निगुर्ण साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, 2010 सं०
- सिंह, रवीन्द्र कुमार : संत काव्य की सामाजिक प्रासंगिकता वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1994
- सिंह, वासुदेव : कबीर काव्य कोश, विश्व वि० प्रकाशन वाराणसी, पृ०सं० 1987 ई०

सिंह, डॉ० सरनाम	: कबीर एक विवेचन, हिन्दी साहित्य संसार
सिंह, आर्य प्रो० हरफूल	: मध्यकालीन समाज, धर्म, कला एवं वास्तुकला, रिसर्च पब्लिकेशनन्स, नई दिल्ली, जयपुर
सिन्हा, डॉ० श्रीमती सुशीला	: लौह पुरुष कबीर, संजय प्रकाशन, दिल्ली प्र०सं० 1999
हबीब, प्रो० इरफान	: प्रौद्योगिकीय परिवर्तन और समाज मध्यकालीन भारत (भाग-1), राजकमल प्रकाशन
हबीब, डॉ० इरफान	: मध्यकालीन भारत भाग-2, अगतिशीलता और राजकमल प्रकाशन
हरिऔध, अयोध्या सिंह उपाध्याय	: कबीर वचनावली, मनोरंजन पुस्तकमाला, 11 वाँ सं० 2015 वि०
हीरा, डॉ० राजवंश	: अलंकारानुशीलन, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी 1970
संस्कृत ग्रन्थ	
कुन्तक	: वक्रोक्ति जीवित, आत्माराम एन्ड सन्स दिल्ली 2012 वि०
जयदेव	: चन्द्रलोक, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस
उदभट	: काव्यालंकार सरसंग्रह (डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी) हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
दण्डी	: काव्यदर्शन, रंगाचार्य शास्त्रिणा, भण्डारकर प्राच्य विद्यामन्दिर, पूना 1860
दीक्षित, अप्पय्य	: कुवलयानन्द (वैद्यनाथ सूरि) निर्णय सागर, बम्बई शक 1869 नवां संस्करण
दीक्षित, अप्पय्य	: चित्र मीमांसा (कालिका प्रसाद शुक्ला) वाण विहार वाराणसी 1965 ई०
भोज	: सरस्वती कण्ठाभरण स० आनन्दराम बरुआ, गोहाटी पब्लिकेशनन्स बोर्ड 1969 ई०
भामह	: काव्यालंकार, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस
मम्मट	: काव्यप्रकाश (व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर) ज्ञानमण्डल वाराणसी संवत् 2016 वि०

- पण्डित राज जगन्नाथ : रसगंगाधर (पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी 2013 वि०
- विश्वनाथ : साहित्य दर्पण मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली 2013 वि०
- रुय्यक : अलंकार सर्वस्व, (सं०) गौरीनाथ शर्मा शारदा भवन काशी 1983 वि०
- अंग्रेजी ग्रन्थ
- B.N. Lunice : Evolution of Indian Culture, Lakshmi Narain, Agra 1967-77
- Dr. Noel Macnicol : A Sixteenth Century Mystic, Lutterworth Press, London and Red Hill F.P. 1947
- कोश :
- आम्टे, वामन शिवराम : संस्कृत हिन्दी कोश, नाग प्रकाशन, दिल्ली सं० 1988
- प्रसाद, कालिका : वृहत् हिन्दी कोश, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस, द्वि०सं० संवत् 2013
- मानक हिन्दी कोश : हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग प्र०सं० 1985
- वसु, श्री नगेन्द्र नाथ : हिन्दी विश्वकोश (भाग-2), बी०आर० पब्लिशिंग, कारपोरेशन 1919 प्रथम संस्करण
- शर्मा, ओमप्रकाश : साहित्य कोश, साहित्य नई दिल्ली सं० 1973
- डॉ० श्यामसुन्दर दास : हिन्दी शब्द सागर (आठवाँ भाग), नागरी प्रचारिणी सभा काशी, 1971 ई०
- पत्र-पत्रिकाएँ
- अतएव : (मासिक), 1994
- अतएव : (मासिक) पत्रिका, जून 1998
- भाषा : (द्विमासिक), मई-जून 1999
- हिन्दुस्तानी : (त्रैमासिक), 1985, भाग-6, अंक 4